सांख्यतत्त्वकौमुदी-प्रभा

ईश्वरकृष्ण-कृत **सांख्यकारिका** तथा वाचस्पतिमिश्र-कृत **तत्त्वकौमुदी**

की

हिन्दी-व्याख्या

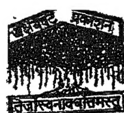
परिवर्धित नवीन संस्करण

व्याख्याकार

प्रोफेसर डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र

भूतपूर्व कुलपति

इलाहाबाद विश्वविद्यालय



अक्षयवट प्रकाशन

८, बाघम्बरी मार्ग, इलाहाबाद

सांख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा

SANKHYA TATTVA KAUMUDI PRABHA

द्वारा

प्रोफेसर डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र

भूतपूर्व कुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

Professor Dr. Adya Prasad Mishra

Former Vice - Chancellor, University of Allahabad.

[टीटागढ़ पेपर मिल्स लिमिटेड के सौजन्य से प्राप्त रियायती मूल्य के कागज पर मुद्रित]

मूल्य : अठारह रुपये (छात्र संस्करण)
पच्चीस रुपये (पुस्तकालय संस्करण

Price : Eighteen Rupees (Student's Edition)
Twenty Five Rupees (Library Edition)

मुद्रक : शाकुन्तल मुद्रणालय,
१४, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद–२

प्रस्तुत संस्करण के सम्बन्ध में

निवेदन

एक वर्ष से ऊपर हो गए **'सांख्य तत्त्व कौमुदी प्रभा'** को बाजार में अनुपलब्ध हुए। अनेक व्यस्तताओं के कारण और कागज इत्यादि के न मिलने में कठिनाई होने से यह इतने बिलम्ब से छप पाई है। छात्रों की कठिनाई को दृष्टि में रखते हुए इसे इस महँगाई में भी छपाने को विवश होना पड़ा, और विवश होना पड़ा आसमान छू रही महँगाई की दृष्टि से इसका मूल्य बढ़ाने को। आशा है, गुण-ग्राही छात्र इससे अनन्यत्र-लभ्य लाभ उठायेंगे।

दीपावली **आद्याप्रसाद मिश्र**
सं० २०३७ विक्रमी

भ्रान्तभवाध्वनि कठिनेऽ-

प्यटितुमयतनं विमूढमनुजानाम् ।

पौरोहित्यमुपेतं

सांख्याचार्यं कमपि वन्दे ॥

ईश्वरकृष्णहृदुत्थै-

र्भावैर्जनयन्तमागमालोकम् ।

श्रीवाचस्पतिमिश्रं

तदनु समीडे महामान्यम् ॥

विषयानुक्रमणी

—०—

समर्पण

परम पूज्य

पितृ-चरणों

में

सादर-सविनय

समर्पित

कारिकानुक्रमणी

अवतरणिका

मनुष्य स्वभाव से ही मननशील प्राणी है। अतः मानवीय विचारों की प्रक्रिया उतनी ही पुरानी है, जितनी सृष्टि। स्वभाव के अतिरिक्त मानव की परिस्थितियाँ एवं उसके चारों ओर का वातावरण भी उसको कुछ न कुछ सोचने के लिये सदा प्रेरित करते रहते हैं। सोचने या मनन करने का यह क्रम जाति और व्यक्ति दोनों ही में चलता रहता है। इसी के फलस्वरूप दोनों ही आगे बढ़ते हैं। मानवीय संस्कृति और सभ्यता के विकास का यही रहस्य है। पर सर्वानुभूत बात है कि आरम्भ के विचार अपरिपक्व रहते हैं, नये अनुभवों से मनुष्य के विचारों को नई दिशा प्राप्त होती है, उसका विकास होता है और उसमें क्रमशः परिपक्वता आती जाती है। थोड़ा परिपक्व होने पर ही वे वचनों द्वारा प्रकाशित किए जाने योग्य होते हैं। मन में उठते ही विचार इतने स्फुटित नहीं हो जाते कि वचनों द्वारा प्रकाशित किए जा सकें। फिर कालान्तर में और अधिक परिपक्व होकर व्यवस्थित हो जाने पर लेख-बद्ध होते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामान्यतः किसी भी देश, समाज या जाति की ग्रन्थ-सम्पत्ति उसकी शताब्दियों की विचार-साधना का सत्फल होने के कारण आरम्भिक विचारों के बहुत बाद उदित होती है। भारतवर्ष और विशेषतः उसके प्राचीन युग के विषय में यह बात और भी अधिक सत्य है क्योंकि उस समय लिखना मनीषियों, चिन्तकों एवं विद्वानों का व्यापार नहीं था। लिखते वे लोग तभी थे जब सतत साधना के अनन्तर सत्य के किसी अंश के 'ऋषि'—द्रष्टा—बनते थे और लोकहितार्थ उसे लेखबद्ध करने के लिए आन्तरिक प्रेरणा पाते थे। समस्त वेद-राशि—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्—का आविर्भाव इसी प्रकार हुआ था। इसी से यह अपौरुषेय कहलाती है क्योंकि गृत्समद, वशिष्ठ, विश्वामित्र इत्यादि उसके कर्ता नहीं, द्रष्टा थे।

उपर्युक्त कथन से जो बात निस्सन्देह ज्ञात होती है, वह यह है कि हिन्दुओं के दार्शनिक चिन्तन और विचार परवर्ती काल में सांख्य, योग न्याय, वेदान्त इत्यादि नामों से व्यवहृत होने वाली विशिष्ट विचार-प्रणालियों के व्यवस्थित रूप धारण करने के अनेक शताब्दियों पूर्व ही आरम्भ हो गए थे और बीच की

शताब्दियों में भी अनवरत रूप से चलते रहे। डा० ई० एच० जानसन ने अपने Early Sankhya नामक ग्रन्थ के आरम्भ में ठीक लिखा है—"Hindu philosophy was in the making for many centuries befor any of the extant authoritative treatises on the various classical system was composed."

आरम्भिक उपनिषद् साहित्य इन्हीं पूर्व विचारों का लेख बद्ध रूप है, एवं इसी से परवर्ती दर्शन-शास्त्र सूत्र-रूप मे व्यवस्थित हुए। इस साहित्य मे परवर्ती दर्शन-शास्त्र के मूल-भूत सिद्धान्त बीज-रूप में यत्र-तत्र बिखरे पड़े है। सांख्य-शास्त्र न केवल इस नियम का अपवाद नहीं है, अपितु इसके मूल तत्त्व तो बृहदारण्यक और छान्दोग्य जैसे प्राचीनतम उपनिषदों में भी सूक्ष्म रूप से मिलते हैं। जैसे, पुरुष केवल साक्षी या द्रष्टा है, कर्ता नहीं—इत्यादि भाव बृहदारण्यक की 'असङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य' इत्यादि पंक्तियों मे झलकते हैं। इसी प्रकार सांख्य का सत्कार्यवाद छान्दोग्य की 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच—कथमसतः सज्जायेतेति, सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसी-देकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि पंक्तियों में, तथा उसके सत्त्व, रजस् और तमस् गुण 'यदग्ने रोहितं रूपं, तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य'[1] इत्यादि पंक्तियों में झलकते हैं। इनकी तो बात ही क्या, ऋग्वेद इत्यादि में भी सांख्य के पदार्थों की झलक मिलती है। जैसे 'तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं-(ऋग्वेद १०, १२९, ३) में सांख्य के भावी 'अव्यक्त' का संकेत मिलता है। इन सबसे यह तो अवश्य स्पष्ट होता है कि विकसित तथा व्यवस्थित सांख्य दर्शन की पृष्ठ-भूमि में विद्यमान विचार, जिनसे उनका भावी स्वरूप निर्धारित हुआ, अत्यन्त प्राचीन हैं; परन्तु इससे यह कदापि स्पष्ट नहीं होता कि ये प्राचीनतम उपनिषद् किसी प्रकार के सांख्य-शास्त्र से परिचित हैं।

---

१. भाष्यकार शङ्कराचार्य के अनुसार उद्धृत पंक्ति में तीनों गुणों का नहीं अपितु जगत् की त्रिविध प्रकृति तेजस्, जल तथा पृथ्वी का ही उल्लेख है:—भूतत्रय-लक्षणैवेयमजा विज्ञेया न गुणत्रयलक्षणा। कस्मात्? तथा ह्येके शाखिनः तेजोऽबन्नानां परमेश्वरादुत्पत्तिमात्रमाम्नाय तेषामेव रोहितादिरूपतामामनन्ति—यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं....।

—ब्रह्मसूत्र १।४।९ पर शां० भा०

इनके बाद के कठ और श्वेताश्वतर में तो सांख्य के बुद्धि, अव्यक्त, तथा पुरुष इत्यादि तत्त्व न केवल स्पष्ट रूप से उल्लिखित हैं, अपितु उनकी आनुक्रमिक सूक्ष्मता भी वर्णित है।[१] श्वेताश्वतर का तो कहना ही क्या ? यह तो सांख्य-उपनिषद् माना ही जाता है। 'सांख्य'[२] और 'कपिल'[३] नाम इसमें पहली ही बार आए हैं। इसी प्रकार व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ—ये तीनों भी इसी उपनिषद् में मिलते हैं।[४] 'प्रधान' (श्वेता० १।१०) और 'गुण' (श्वेता० १।३) शब्द भी इसमें मिलते हैं। श्वेताश्वतर के प्रसिद्ध मन्त्र 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (४।१०) में अव्यक्त या प्रधान का 'प्रकृति' नाम भी आया हुआ है। इस मन्त्र में, 'महेश्वर' शब्द के आने से 'मायिक महेश्वर ही जगत् की सृष्टि करता है'—इत्यादि वेदान्त-सिद्धान्त का प्रतिपादन समझाते हुए डा० हरदत्त शर्मा ने सांख्यतत्त्वकौमुदी के ओ० बु० ए० पूना वाले संस्करण की भूमिका में पृष्ठ आठ पर लिखा है कि 'सांख्य के कुछ पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग-मात्र से हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि कोई उपनिषद्-विशेष सांख्य-सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है, जैसे "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" में ही यद्यपि सांख्य का एक पारिभाषिक शब्द 'प्रकृति' आया हुआ है, तथापि यह मन्त्र वेदान्त-सिद्धान्त का ही समर्थन करता हुआ

---

१. द्रष्टव्य, कठ० अ० १, वल्ली ३, श्लोक १०, ११—इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ।। महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ।।

२. द्रष्टव्य श्वेताश्व० ६।१३ः '.......। तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्' ।।

३. द्रष्टव्य श्वेताश्व० ५।२ :—'.......ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ।।

४. द्रष्टव्य श्वेताश्व० १।८,९ :—'संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्त भरते विश्वमीशः ।.......' ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थ-

प्रतीत होता है'[1]। यह बात समझ में नहीं आती कि इस मन्त्र में सेश्वर सांख्य का सिद्धान्त मानने में क्या कठिनाई है? स्वयं स्वामी शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में स्पष्ट ही कहा है कि सांख्य वेदान्त के बहुत समीप है। इस मत से उनका सबसे बड़ा विरोध केवल इस बात के कारण है कि यह अचेतन प्रकृति को ईश्वर इत्यादि चेतन अधिष्ठाता की बिना अपेक्षा किए ही पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए सृष्टि में प्रवृत्त होने वाली मानता है। प्रकृति के अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर को स्वीकार कर लेने पर दोनों में कम ही भेद रह जाता है। ऐसी स्थिति में तो उपर्युक्त मन्त्र में सेश्वर सांख्य के सिद्धान्त का उल्लेख न केवल अनुचित नहीं जान पड़ता, अपि तु 'तत्कारणं सांख्य-योगाधिगम्यम्' तथा 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे' इत्यादि मन्त्रों के साथ पढ़े जाने पर सर्वथा उचित और स्वाभाविक जान पड़ता है, क्योंकि प्रथम मन्त्र में सांख्य-ज्ञान को स्पष्ट ही उच्चतम कोटि का साधन माना है और यदि सांख्यशास्त्र इस उपनिषद् के पूर्व नहीं था, तो इस प्रकार का उल्लेख अनर्गल और काल्पनिक सिद्ध होता है जो सम्भव नहीं प्रतीत होता। इस सेश्वर सांख्य के इस प्रकार श्रुति-मूलक होने के कारण ही महाभारत में सांख्यानुयायियों को 'यथाश्रुतिनिदर्शिनः,' ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः' इत्यादि कहना संगत होता है। इससे तो यही मानना उचित लगता है कि कठ और श्वेताश्वर, दोनों के पूर्व अर्थात् ई० शताब्दी से बहुत पूर्व सेश्वर सांख्य व्यवस्थित हो चुका था। जैकोबी का यह कथन कि 'अत्यन्त प्राचीन एवं प्राचीन उपनिषदों के बीच सांख्यदर्शन का उदय मानने के विषय में दो मत नहीं हो सकते' सर्वथा ठीक लगता है। केवल इतनी बात और स्मरण रखने की है कि यह मत सेश्वर सांख्य के विषय में ही मान्य है। निरीश्वर सांख्य संभवतः ईश्वरकृष्ण के बहुत पूर्व का नहीं है, इसे आगे स्पष्ट करेंगे। श्रुतियों से आई हुई सेश्वर सांख्य की यही परम्परा महाभारत, मनुस्मृति, तथा भागवत आदि

---

१. डा० शर्मा का यह मत ब्रह्मसूत्र १।४।९ के शां० भा० पर आधारित है—'ब्रह्मवादिनो वदन्ति—किं कारणं ब्रह्म' (श्वेता० १।१) इत्युपक्रम्य 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वेता० १।३) इति परमेश्वर्याः शक्तेः समस्तजगद्विधायिन्या वाक्योपक्रमेऽवगमात्। वाक्यशेषेऽपि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति तस्या एवावगमान्न

पुराणों में भी मिलती है। "महाभारत में सांख्य-सिद्धान्तों के विभिन्न प्रकार के व्याख्यान प्राप्त होने पर भी ब्रह्म या ईश्वर के विवेचन के विषय में सभी में ऐकमत्य है। यद्यपि पुरुषों की अनेकता मानी गई है, तथापि ब्रह्म सब का आधार माना गया है। (द्रष्टव्य 'बहूनां पुरुषाणां स यथैका योनिरुच्यते-शान्तिपर्व ३५०।२६।'")[1]

कपिल

जैसा अभी पूर्व में कह चुके हैं, सेश्वर सांख्य की परम्परा ईसवी सन् के आरम्भ के कई शताब्दी पूर्व की ज्ञात होती है। परम्परा से इसके प्रवर्तक महर्षि कपिल माने जाते हैं। परन्तु महाभारत, भागवत इत्यादि प्राचीन ग्रन्थों में इनका विविध एवं परस्पर-विरुद्ध वर्णन प्राप्त होने के कारण अनेक विद्वान् इनके ऐतिहासिक व्यक्ति होने में ही सन्देह करते हैं। महाभारत में ही दो प्रकार के वर्णन मिलते हैं। एक[2] के अनुसार वे ब्रह्मा के पुत्र ठहरते हैं तथा दूसरे[3] के अनुसार अग्नि के अवतार ठहरते हैं। भागवत[4] के अनुसार वे नारायण के ही पञ्चम अवतार थे। श्वेताश्वतर के पूर्वोद्धृत 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे' इत्यादि मन्त्र में आये हुए 'कपिल' पद से भास्कराचार्य इत्यादि ने हिरण्यगर्भ का ग्रहण किया है, क्योंकि 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' इत्यादि पहले और बाद के अनेक मन्त्रों में ब्रह्मा को ही सर्व-प्रथम उत्पन्न करके वेदादि-ज्ञान देने की बात कही गई है। यो० सू० १।२५ की टीका[5] में वाचस्पति मिश्र ने भी कपिल को हिरण्यगर्भ कहा है।

---

१. द्रष्टव्य सांख्यतत्त्वकौमुदी, ओ० बु० ए०, पूना संस्करण की भूमिका, पृ० ११।

२. 'सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः। कपिलश्चासुरिश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा॥ सप्तैते ब्रह्मणः पुत्राः—महाभा० शान्ति०।

३. "कपिलं परमर्षिञ्च यं प्राहुर्यतयः सदा। अग्निः स कपिलो नाम साङ्ख्ययोग प्रवर्तकः"—महाभा० शान्ति०।

४. "पञ्चमे कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्। प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्"॥ भागवत, १।३।११॥

५. द्रष्टव्य योगसूत्र १।२५ पर तत्त्ववैशारदी—आदिविद्वान् कपिल इति।.... कपिलो नाम विष्णोरवतारविशेषः प्रसिद्धः। स्वयम्भूर्हिरण्यगर्भस्तस्यापि सांख्ययोगप्राप्तिर्वेदे श्रूयते, स ऐवेश्वर आदिविद्वान् कपिलो विष्णुः स्वयम्भूरिति भावः।

इस प्रकार परस्पर-विरुद्ध कथन पाकर प्रो० कीथ इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कपिल किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का नहीं अपितु हिरण्यगर्भ का ही नाम है, क्योंकि वे कहीं अग्नि, कहीं विष्णु तथा कहीं शिव के अवतार या रूप कहे गए है[1]। मैक्समूलर ओर कोलब्रूक भी इसी विचार के थे। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी कविराज ने भी 'जयमङ्गला' की भूमिका में कपिल के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में सन्देह प्रकट किया है, यद्यपि उन्होंने आसुरि के प्रति कपिल के सांख्यविषयक उपदेश को ऐतिहासिक माना है। महामहोपाध्याय डा० हरदत्त शर्मा ने भी पूर्वोक्त समस्त विवरण से यही निष्कर्ष निकाला है कि कपिल के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में सबल प्रमाण नही मिलता[2]।

पर इन विद्वानों के इस निष्कर्ष पर श्रद्धा नहीं होती। इसका सबसे बड़ा कारण तो प्राचीन परम्परा है जो महर्षि कपिल को सिद्ध-श्रेष्ठ और सांख्य-दर्शन का प्रथम उपदेष्टा मानती है। गीता में भगवान् कृष्ण ने अपने को सिद्धों में कपिल मुनि कहा है[3]। स्वामी शङ्कराचार्य ने भी कपिल को सांख्य का उपदेष्टा माना है। हाँ, इन्हें सगर के साठ हजार पुत्रों को भस्म करने वाले वासुदेव नामक वैदिक कपिल से भिन्न अवश्य बताया है[4]। ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य की टीका में आनन्दगिरि ने भी लिखा है कि वैदिक कपिल वे थे जिन्होंने महाराज सगर के साठ हजार पुत्रों को भस्म कर दिया था, अवैदिक सांख्य के उपदेष्टा कपिल उनसे भिन्न थे। परन्तु पद्मपुराण में वासुदेव कपिल को ही वैदिक सांख्य का प्रवर्तक कहा है। ध्यान देने की बात है कि पूर्व उद्धरणों में सांख्य के वैदिक या अवैदिक कपिल द्वारा उपदिष्ट होने के विषय में ही मतभेद है, कपिल की सत्ता के विषय में नहीं। इससे स्पष्ट है कि कपिल काल्पनिक नहीं हो सकते।

---

१. द्रष्टव्य प्रो० कीथ का Sankhya System, पृ० ६।

२. द्रष्टव्य सांख्यतत्त्वकौमुदी के पूना संस्करण की भूमिका, पृ० १०।

३. द्रष्टव्य गीता अ० १०, श्लो० २६।

४. द्रष्टव्य, ब्रह्मसूत्र २।१।१ पर शांकरभाष्यः—या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं दर्शयन्ती प्रदर्शिता, न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलमतं श्रद्धातुं शक्यं कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्। अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात् ॥

इसीलिए गार्बे ने मैक्समूलर और कोलब्रूक के विचारों का खण्डन करते हुए अपने ग्रन्थ Sankhya Philosophy में लिखा है कि परम्परा से चला आता हुआ कपिल का नाम काल्पनिक नहीं माना जा सकता। महर्षि कपिल के विषय में प्राप्त प्राचीन वर्णन में प्रो० कीथ को जो विरोध प्रतीत होता है, उसके सम्बन्ध में यहाँ इतना ही वक्तव्य है कि सांख्य के उपदेष्टा कपिल किसी एक कल्प में ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ के पुत्र, किसी दूसरे मे अग्नि के अवतार तथा किसी और कल्प में कर्दम और देवहूति के पुत्र (भगवान् विष्णु के पंचम अवतार) भी हो सकते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है। यह परिहार कोई नई सूझ या कल्पना नहीं है। भारतीय परम्परा जानने वाले सज्जन भली भाँति जानते हैं कि रामावतार की आपाततः विरोधी कथायें विभिन्न कल्पों के विभिन्न रामावतारों की होने के कारण वस्तुतः परस्पर विरोधी नहीं मानी जातीं। कपिल मुनि के प्रथम सांख्योपदेष्टा होने में पञ्चशिख का वह वचन सबसे प्रबल प्रमाण हैं जो व्यासदेव ने योगसूत्र १।२५ के भाष्य के अन्त में उद्धृत किया है—'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच"। परन्तु कपिल को काल्पनिक मानने वाले कह सकते हैं कि प्रस्तुत उद्धरण के 'निर्माणचित्तमधिष्ठाय' पदों से यह बात स्पष्ट है कि कपिल मुनि चित्त-विहीन होने से मनुष्य-शरीर मे पृथ्वी पर कभी वर्तमान नहीं थे, केवल जिज्ञासु आसुरि को सांख्य-तन्त्र का उपदेश देने के लिए उन्होंने योग-बल से चित्त का निर्माण कर लिया था। योगभाष्य की अपनी 'वार्त्तिक' टीका में विज्ञानभिक्षु ने तो स्पष्ट कहा ही है कि 'सर्ग के आदि में आदि विद्वान् स्वयम्भू के रूप में उत्पन्न विष्णु ने ही योग-बल से स्वनिर्मित चित्त मे अंशतः प्रविष्ट होकर कपिल नाम से जिज्ञासु आसुरि को तत्त्व का उपदेश दिया था'[1]। पर इससे यह कहाँ ज्ञात होता है कि वे शरीरधारी नहीं थे। किसी न किसी प्रकार का शरीर बिना हुए निर्माण-चित्त का अधिष्ठान—आधार—क्या रहा होगा और तब उनका उपदेश देना कैसे सम्भव हुआ होगा? इससे तो यही कहना पड़ता है कि कपिल मुनि को काल्पनिक मानना उचित नहीं है।

---

१. द्रष्टव्य योगसूत्र १।२५ के व्यासभाष्य की 'वार्त्तिक' टीकाः—आदि-विद्वान् स्वयम्भूः सर्गादावाविर्भूतो विष्णुर्निर्माणचित्तं योगबलेन स्वनिर्मितं चित्तमधिष्ठाय स्वांशेन प्रविश्य कपिलाख्यपरमर्षिर्भूत्वा कारुण्याज्जिज्ञासवे आसुरये तत्त्वं प्रोवाचेत्यर्थः।"

महर्षि कपिल की वास्तविकता का संपेक्षतः विचार कर चुकने पर स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि उनके द्वारा आसुरि को सांख्यशास्त्र का जो ज्ञान दिया गया, वह किस नाम से प्रसिद्ध हुआ? वह ग्रन्थ आज-कल का 'सांख्य-प्रवचन-सूत्र' नामक छः अध्यायों वाला ग्रन्थ ही तो नहीं था? अथवा वह बाइस सूत्रों का 'तत्त्वसमास' नामक ग्रन्थ था? अथवा वह ग्रन्थ सांख्य दर्शन का सर्वाधिक प्रसिद्ध किन्तु इस समय लुप्त-प्राप्य ग्रन्थ 'षष्टितन्त्र' ही था। आज इन प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर देना असम्भव-प्राय है, क्योंकि इस विषय में प्रायः तो प्रामाण नहीं मिलते। जो एकाध मिलते भी हैं, वे परस्पर-विरोधी एवं बहुत बाद के होने से सर्वथा विश्वसनीय नहीं हैं। फिर भी यहाँ उनका विचार अप्रासङ्गिक अथवा अवाँछनीय न होगा।

तत्त्वसमास की 'सर्वोपकारिणी' नामक टीका के एक अवतरण से यह ज्ञात होता है कि तत्त्व-समास और सांख्यप्रवचनसूत्र—दोनों सूत्र-ग्रन्थों के कर्त्ता दो कपिल थे। तत्त्व-समास के रचयिता कपिल भगवान् विष्णु के अवतार तथा कर्दम और देवहूति के पुत्र थे, एवं सांख्य-प्रवचन-सूत्र के रचयिता कपिल अग्निदेव के अवतार थे। वह अवतरण इस प्रकार है—'अथात्र अनादिक्लेशकर्मवासनासमुद्रपतितानाथहीनानुद्दिधीर्षुः परमकृपालुः स्वतःसिद्धज्ञानो महर्षिर्भगवान् कपिलो द्वाविंशतिसूत्राण्युपादिक्षत्; सूचनात्सूत्रमिति हि व्युत्पत्तिः। तत एतैः समस्ततत्त्वानां सकलषष्टितन्त्रार्थानां सूचनं भवति, इतश्चेदं सकलसांख्यतीर्थमूलभूतं तीर्थान्तराणि च एतत्प्रपञ्चभूतान्येव। सूत्रषडध्यायी तु वैश्वानरावतारभगवत्कपिलप्रणीता, इयं तु द्वाविंशतिसूत्री तस्या अपि बीजभूता नारायणावतारमहर्षिभगवत्कपिलप्रणीतेतिवृद्धाः।' परन्तु विज्ञानभिक्षु के सांख्य-प्रवचन-भाष्य से ज्ञात होता है कि दोनों ही सूत्र-ग्रन्थों के रचयिता भगवान् विष्णु के अवतरण महर्षि कपिल ही थे। उन्होंने भाष्य में लिखा है—"ननु तत्त्वसमासाख्यसूत्रैः सहास्याः षडध्याय्याः पौनरुक्त्यमिति चेन्न, संक्षेपविस्तररूपेणोभयोरप्यपौनरुक्त्यात्; तत्त्वसमासाख्यं हि यत् संक्षिप्तं सांख्यदर्शनं, तस्यैव प्रकर्षेणास्यां निर्वचनमिति, अत एवास्याः षडध्याय्याः सांख्यप्रवचनसंज्ञा सान्वया।" इन दोनों में विरोध स्पष्ट है। इन दोनों ही से भिन्न पद्मपुराण का पूर्व उद्धृत वह मत है जिसमें कहा गया है कि वासुदेव कपिल ने भृगु इत्यादि महर्षियों को वैदिक सांख्य का उपदेश दिया और दूसरे कपिल ने वेद-विरुद्ध सांख्य का प्रचार किया[1]। ऐसी स्थिति मे निश्चयपूर्वक यह कहना कठिन है कि उपलब्ध सांख्य-सूत्र कपिल की ही कृति हैं, या नहीं।

१. ब्रह्मसूत्र २।१।१ के नोट में डा० वेल्वाकर द्वारा उद्धृत।

अनेक विद्वान् कई कारणों से इन्हें कपिल-कृत नहीं मानते। सर्व प्रथम कारण तो यही है कि इनमें कई सूत्र दूसरे ग्रन्थों से लिए गए हैं। ब्रह्मसूत्र ४।१।१ (आवृत्तिरसकृदुपदेशात्) सांख्यप्रवचनसूत्र ४।३ है, योग-सूत्र २।४६ (वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः) सांख्यप्रवचनसूत्र २।३३ है। इसी प्रकार पच्चीसवीं सांख्य-कारिका की 'सात्त्विक एकादशकः' इत्यादि प्रथम पंक्ति सांख्यप्रवचन-सूत्र २।१८ 'सात्त्विकमेकादशकम्' इत्यादि है। इसके और कई अंश सूत्रों में उद्धृत हैं। दूसरा मुख्य कारण यह है कि इन सूत्रों में पञ्चशिख के मत का उल्लेख है। जैसे सां० प्र० सूत्र ५।३२ "आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः" तथा ६।६८ "अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः" है। यदि सांख्य-प्रवचन-सूत्र सचमुच कपिल-कृत ही है तो इनमें शिष्य के शिष्य पञ्चशिख के मत कैसे उद्धृत हुए? तीसरा प्रमुख कारण यह है कि इन सांख्य-सूत्रों को किसी भी प्राचीन ग्रन्थकार ने उद्धृत नहीं किया है। अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में शङ्करा-चार्य ने कहीं भी सांख्य-सूत्रों को उद्धृत नहीं किया है। सांख्यकारिका की टीका तत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने पञ्चशिख, वार्षगण्य इत्यादि को तो उद्धृत किया है, पर कपिल को नहीं। यदि ये सूत्र महर्षि कपिल द्वारा रचित मौलिक सूत्र होते तो प्राचीन आचार्य परम सिद्ध ऋषि के सूत्रों को उद्धृत न करके उनकी अपेक्षा ईश्वरकृष्ण जैसे सामान्य मानव की कृति को क्यों उद्धृत करने जाते? चौदहवीं शताब्दी के माधवाचार्य तक ने भी अपने षड्दर्शन-संग्रह में कारिकाओं को ही उद्धृत किया है, सूत्रों को नहीं। सूत्रों के सबसे पुराने टीकाकार अनिरुद्ध १५०० ई० के आस-पास हुए थे। अतः इनकी रचना १३८० ई० से १४०० ई० के बीच हुई होगी। पर इसके विपरीत पं० उदयवीर शास्त्री ने अनिरुद्ध को १०५० ई० का तथा उपलब्ध सांख्य-सूत्रों को कपिल-रचित सिद्ध किया है। उनका कथन है कि इनमें अनेक सूत्र प्रक्षिप्त हैं, अतः उनके आधार पर समूचे सूत्र-ग्रन्थ की अर्वाचीनता नहीं सिद्ध की जा सकती। इसका विस्तृत विवेचन और खण्डन डा० हरदत्त शर्मा की भूमिका के पृ० २२-२५ पर द्रष्टव्य हैं।

---

१. दसवीं कारिका की प्रथम पंक्ति 'हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्" सां० प्र० सूत्र १।१२४, एवं २९ वीं कारिका की द्वितीय पंक्ति 'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च" सां० प्र० सूत्र २।३१ हैं।

२. द्रष्टव्य ओ० बु० ए० पूना से प्रकाशित सांख्यतत्त्वकौमुदी की भूमिका पे० २२। यह मत डा० शर्मा ने गार्वे के Sankhya And Yoga नामक ग्रन्थ (पे० ८, ९) से उद्धृत किया है।

आसुरि

कपिल के शिष्य आसुरि की भी ऐतिहासिकता के विषय में मत-भेद है। पं० गोपीनाथ जी कविराज इन्हें ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं[१]। कीथ[२] इन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानने के विरुद्ध है। गार्बे[३] भी प्रायेण इसी मत के हैं पर उन्होंने इतना अवश्य कहा है कि यदि सांख्य से सम्बद्ध आसुरि ऐतिहासिक हैं तो ये अवश्य ही शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित आसुरि से भिन्न हैं। प्रो० कीथ का मत मान्य नही हो सकता। हरिभद्र सूरि जैसे प्राचीन आचार्य जिनका समय ७२५ ई० के लगभग है, ने अपने षड्दर्शनसमुच्चय में "विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते। प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छो यथा चन्द्रमसोऽम्भसि॥" श्लोक को आसुरि के नाम से उद्धृत किया है। इसका अर्थ यह है कि आसुरि के ऐतिहासिक होने और कोई ग्रन्थ लिखने का सम्प्रदाय ८०० ई० से भी प्राचीन है। हरिभद्र सूरि के समय से भी कई शताब्दी पूर्व के महाभारत[४] में भी आसुरि को पञ्चशिख का गुरु कहा गया है। मुनि कपिल के सम्बन्ध में भागवत के पूर्व उद्धृत श्लोक (भाग० १।३।११) में भी आसुरि को भगवदवतार सिद्धेश कपिल मुनि से कालविप्लुत सांख्य-ज्ञान प्राप्त करने की बात कही गई है। माठर-वृत्ति[५] में भी आसुरि को न केवल कपिलाचार्य का शिष्य कहा गया है अपितु गृहस्थ-धर्म तथा पुत्र, स्त्री इत्यादि को छोड़कर शिष्य बनना बताया गया है। इस सारी परम्परा के विपरीत उन्हें अवास्तविक मानना सर्वथा अनुचित ही लगता है। दुःख है कि उनकी कोई कृति आज उपलब्ध नहीं है।

---

१. द्रष्टव्य सांख्यकारिका की जयमंगला टीका की कविराज जी द्वारा लिखित भूमिका, पे० ३।

२. द्रष्टव्य ग्रन्थ Sankha System, पे० ४७, ४८।

३. द्रष्टव्य ग्रन्थ Sankya And Yoga, पे० २, ३।

४. द्रष्टव्य शान्तिपर्व अ० २१८:—आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिर-जीविनम्। पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः। पञ्चज्ञः पञ्चकृत् पञ्चगुणः पञ्चशिखः स्मृतः॥

५. द्रष्टव्य, माठरवृत्ति चौ० सं० सिरिज प्रकाशन, पे० २:—'स एवं गृहस्थधर्ममपहाय पुत्रदारादिकं च प्रव्रजितो भगवतः किल कपिलाचार्यस्य योगिनः प्राणाः शिष्यो बभूव।'

पञ्चशिख

पञ्चशिख की ऐतिहासिकता का विरोध किसी ने भी नहीं किया है। अभी पीछे आसुरि के पञ्चशिख के गुरु होने के विषय में महाभारत का उल्लेख किया गया है। उसमें पञ्चशिख को 'पञ्चरात्रविशारद' कहा गया है। यह कथन कुछ विचित्र सा लगता है क्योंकि पञ्चशिख तो सांख्य के आचार्य थे। वैसे बाह्य दृष्टि से इसका परिहार यह कह कर भी किया जा सकता है कि पञ्चशिख पञ्चरात्र या भागवत-सम्प्रदाय के भी ज्ञाता हो सकते है, इसमे विचित्रता क्या है ? परन्तु आन्तरिक या सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जायगा कि इस कथन से पञ्चशिख के 'पञ्चरात्र-विशारद' कहे जाने के रहस्य का उद्‌घाटन नहीं होता क्योंकि यों तो सभी आचार्य और विशेषतः पञ्चशिख की कोटि के उच्चतम आचार्य अपने समय के किसी एक नहीं, अपितु प्रायः सभी प्रमुख सम्प्रदायो के ज्ञाता होते ही हैं। अतः उनके पञ्चरात्र का ही विशारद कहे जाने में कुछ विशेष रहस्य अवश्य है। वह रहस्य क्या हो सकता है ? योगभाष्य मे व्यास ने तथा सांख्यतत्त्वकौमुदी मे वाचस्पति मिश्र ने पञ्चशिख का सर्व-प्रसिद्ध वचन "स्यात् स्वल्पः सङ्करः, सपरिहारः, सप्रत्यवमर्षः, कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात् ! कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति" उद्‌धृत किया है। इस बचन से पञ्चशिख का हिंसा-विषयक यह मत ज्ञात होता है कि वेदों के द्वारा विहित यज्ञों में अनिवार्य रूप से होने वाली हिंसा भी पाप—अपुण्य—उत्पन्न करती है और उसका दुःखादि फल, चाहे वह यज्ञादि कृत्यो के फल-भूत सुख के समक्ष कितना भी अकिञ्चित्कर या नगण्य क्यों न हो, स्वर्ग में भी भोगना पड़ता है, वेद बाह्य अवहित हिंसा का तो कहना ही क्या ! इस प्रकार उसके मत से अहिंसा ही मानव का सर्वाधिक कल्याण करने वाला तत्त्व है और यही सिद्धान्त पाञ्चरात्र या भागवत सम्प्रदाय में विहित आचार की आधारशिला है, यही पाञ्चरात्र मत की समस्त साधना का रहस्य एवं उस साधना की सफलता का मूल मन्त्र है। अतएव वेदों के यज्ञादि कर्म को श्रेयः—साधना, अतश्च करणीय मानते हुये भी उसकी अपेक्षा अहिंसा को ही ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्ति में सर्वाधिक हितकर और अनिवार्य मानने के कारण ही आचार्य पञ्चशिख को 'पञ्चरात्र-विशारद' पञ्चरात्र के गूढ तत्त्व का ज्ञाता—कहा गया होगा। आगे सांख्य में यही सिद्धान्त सर्वमान्य हुआ। ईश्वरकृष्ण का वैदिक यज्ञों के विषय में 'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः' इत्यादि कथन भी आचार्य पञ्चशिख की इसी मान्यता का समर्थक है, और मीमांसकों के

एतद्विषयक मत के विरुद्ध 'तद्विपरीतः श्रेयान्' इत्यादि सांख्य-मत की स्थापना करता है। योग में भी अहिंसा को ही मुख्य सार्वभौम धर्म माना गया, जैसा कि योग के आठ अंगों में प्रमुख पञ्चविध[1] यमों में भी अहिंसा को प्रथम स्थान देने से स्पष्ट है। यहाँ तक कि अहिंसा और सत्य के पारस्परिक विरोध के अवसर पर अहिंसा की ही मुख्यता मानी गयी है, जैसा योगसूत्र २।३० के व्यास-भाष्य[2] से स्पष्ट है। भागवत-धर्म के साथ सांख्य और योग के सम्बन्ध का यही रहस्य है[3]।

पञ्चशिख के अन्य मुख्य सिद्धान्त योगभाष्य, भामती इत्यादि ग्रन्थो में उद्धृत वाक्यों से ज्ञात होते हैं। ये 'पाञ्चशिख सूत्र' कहे जाते हैं। इसमें से कुछ (मुख्य) ये हैं:—(१) एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम् [योग० १।४]। (२) तमणुमात्रमात्मानमविद्यास्मीत्येवं तावत्संप्रजानीते [योग १।३६]। (३) बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात्तत्रात्मबुद्धि-मोहेन [योग० २।६]। (४) तत्संयोगहेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःख-प्रतीकारः [योग० १।१७, ब्रह्मसूत्रभाष्य-भामती २।२।१०] (५) अपरिणा-मिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्‌वृत्तिमनु-पतति तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्य-विशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते [योग० २।२०]।

इसके अतिरिक्त दो प्रमुख उद्धरण पूर्व में दिये जा चुके हैं। ये सूत्र किसी ग्रन्थ के अंग थे या यों ही पृथक् रूप से कथित थे? इस प्रश्न का आज उत्तर मिलना कठिन है; क्योंकि पञ्चशिख का लिखा कोई ग्रन्थ इस समय उप-लब्ध नहीं है। चीनी परम्परा के अनुसार प्रसिद्ध षष्टितन्त्र के रचयिता पञ्चशिख ही थे। इस मत के विपरीत पं० रामावतार शर्मा आदि के मतानुसार षष्टितंत्र के रचयिता वार्षगण्य थे। योगसूत्र ४।१३ के व्यास-भाष्य में 'तथा च

---

१. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः ॥ यो० सू० २।३० ॥

२. 'एषा (यथार्थाऽपि वाक्) सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय, यदि चैवमप्यभिधीयमानभूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत्, तेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतमं प्राप्नुयात्, तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्'' ।

३. द्रष्टव्य पं० बलदेव उपाध्याय का भारतीय दर्शन नामक ग्रन्थ।

शास्त्रानुशासनम् शब्दों के साथ "गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्" श्लोक उद्धृत है। 'तथा च शास्त्रानुशासनं' का अर्थ तत्त्ववैशारदी में वाचस्पति मिश्र ने 'अत्रैव षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टिः' किया है। उनके इसी लेख के आधार पर वे इस श्लोक को षष्टितन्त्र का बताते हैं। फिर ब्रह्मसूत्र २।१।३ पर व्याख्यान लिखते हुए भामती में इसी श्लोक को 'अतएव योगशास्त्रं व्युत्पादयिताऽऽह स्म भगवान् वार्षगण्यः'—इन शब्दों के साथ उद्धृत किया है। इससे वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वाचस्पति मिश्र के मत से षष्टितन्त्र वार्षगण्य का ही लिखा हुआ था। परन्तु वार्षगण्य के नाम से भामती में उद्धृत श्लोक के 'मायेव' के स्थान में मायैव' पाठ है। साथ ही दोनों स्थलों में उद्धृत श्लोकों के वाचस्पति-कृत अर्थों में भी भेद है। ऐसी स्थिति में बहुत सम्भव है कि वाचस्पति मिश्र के उपर्युक्त लेखों का यह तात्पर्य रहा हो कि 'मायेव' पाठ वाला श्लोक तो मूलतः 'षष्टितन्त्र' का है परन्तु वार्षगण्य ने थोड़े पाठ-भेद के साथ उसे अपने ग्रन्थ में अपना लिया। ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन है कि वाचस्पति मिश्र के अनुसार षष्टितन्त्र के रचयिता वार्षगण्य थे। यह तो तभी सम्भव था जब वे योगभाष्य-टीका में षष्टितन्त्र शास्त्र के साथ मे वार्षगण्य का नाम देते। पं० गोपीनाथ कविराज का मत है कि वाचस्पति मिश्र को षष्टितन्त्र का साक्षात् परिचय नहीं प्राप्त था[1]। परन्तु पं० रामावतार शर्मा का मत है कि उन्हें इस ग्रन्थ का साक्षात् ज्ञान था[2]। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि शर्मा जी तो षष्टितन्त्र के सम्बन्ध में वाचस्पति मिश्र का प्रामाण्य स्वीकार करने के पक्ष में हैं परन्तु कविराज जी नहीं। जयमङ्गला की भूमिका में कविराज जी ने अपना यह विचार स्पष्ट भी किया है। जयमङ्गला में आये हुए षटितन्त्र-विषयक उल्लेखों के आधार पर प्रो० हिरियन्ना भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह ग्रन्थ पंचशिख का है, वार्षगण्य का नहीं। एक तीसरा मत इस सम्बन्ध में और है। ब्रह्मसूत्र २।१।१ पर भाष्य लिखते हुए भास्कराचार्य ने "कपिलमहर्षिप्रणीतषष्टितन्त्राख्यस्मृतेः" इत्यादि लिखा है जिससे स्पष्ट है कि उनके मत से षष्टितन्त्र के रचयिता कपिल

---

१. द्रष्टव्य जयमङ्गला की भूमिका, पृ० ४, ७।

२. द्रष्टव्य सांख्यतत्त्वकौमुदी की बलराम-कृत विद्वत्तोषिणी, पे० २२६।

मुनि थे। उदयवीर शास्त्री[1] और कालीपद भट्टाचार्य[2] भी इस मत के हैं।

षष्टितन्त्र का एक और उद्धरण सांख्यकारिका १७ के गौडपाद-भाष्य तथा माठर-वृत्ति में मिलता है। परमार्थ के चीनी अनुवाद में भी यह मिलता है। यह उद्धरण[3] गद्य में है। इन दोनों के अतिरिक्त एक ही उद्धरण और बचता है जो ५० वीं कारिका के गौडपाद-भाष्य तथा माठर वृत्ति में आया है और जिसके विषय मे सामान्य धारणा है कि यह षष्टितन्त्र का होगा, यद्यपि भाष्य और वृत्ति दोनों में से किसी में भी यह बात स्पष्ट नहीं कही गयी है, केवल 'शास्त्रान्तरे' और 'ग्रन्थान्तरे' शब्दों के द्वारा ही यह उद्धरण[4] प्रस्तुत किया गया है। यह भी गद्य में है। इस प्रकार अभी तक न तो यही सर्वथा निश्चित हो पाया है कि षष्टितन्त्र का कर्ता कौन था और न यही कि यह ग्रन्थ गद्य में था या पद्य में ! इस द्विविध अनिश्चयात्मकता का उल्लेख डा० बेल्वाकर[5] ने किया है।

---

१. द्रष्टव्य, Proceedings Of The Oriental Confererence Lahore II, पे० ८८२।

२. द्रष्टव्य, 'Some Problems Of Sankhya Philosophy and Sankhya Literature, I. H. Q. Sept 1902, पे० ५१६, २०।

३. द्रष्टव्य का० गौडपाद-भाष्यः—'तथा चोक्तं षष्टितन्त्रे—पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते''।

४. द्रष्टव्य, का ५० का गौडपाद-भाष्यः—एवमाध्यात्मिकबाह्यभेदान्नव तुष्टयः तासां नामानि शास्त्रान्तरे प्रोक्तानि—'अम्भः सलिलं, मेघो वृष्टिः सुतमः पारं सुनेत्रं नारीकमनुत्तमाम्भसिकम्'' इति।'

५. द्रष्टव्य, भण्डारकर कमेमोरेशन वाल्यूम, पे० १२७ पर डा० बेल्वा-ल्कर का Matharvritti and the date of Ishwarrkrishna

जैगीषव्य

महर्षि जैगीषव्य परम योगी एवं प्रसिद्ध सांख्योपदेशक के रूप में महाभारत मे एक से अधिक स्थल में उल्लिखित है। उसमें ऐसा उल्लेख है कि जैगीषव्य ने आसित देवल के सम्मुख अपना योग-सिद्धि का प्रदर्शन किया था और रुद्र तथा उमा को भी छकाया था[1]। देवल ने सांख्य-ज्ञान जैगीषव्य से ही प्राप्त किया था यह बात महाभारत के शान्ति पर्व से स्पष्ट होती है। प्रो० कीथ ने लिखा है कि कूर्म पुराण के वर्णन के अनुसार जैगीषव्य पञ्चशिख के सहाध्यायी थे[2]। पञ्चशिख के अति दीर्घजीवी होने के कारण उनके अन्तिम दिनों में जैगीषव्य का साथ होना बहुत असम्भव नहीं है। बुद्धचरित १२।६७ में जैगीषव्य, जनक और वृद्ध पराशर का प्राचीन सांख्य योगाचार्यों में रूप मे उल्लेख हुआ है। जैगीषव्य का नाम महाभारत १२।११७७ में दी गई सांख्याचार्यों को नामावली मे भी आया है। इतना ही नहीं, महाभारत १२।८४।३१ में जैगीषव्य का मत भी संक्षेप में उल्लिखित है। डा० जानसन का कथन[3] है कि बुद्ध-चरित १।४६-४७ से शोल की आवश्यकता पर जोर देने के साथ योग का जो वर्णन आरम्भ हुआ है, वह महाभारत १२।८४।३१ में दिये गए जैगीषव्य के मत का संक्षेप कहा जा सकता है। योगसूत्र २।५५ के व्यास-भाष्य में चार प्रकार के इन्द्रिय-जय बताये गये है। इनमें चौथा जैगीषव्य के नाम से उद्धृत है[4]। भाष्यकार ने पहले तीनों की अपेक्षा इसी चौथे को 'परम' कहा है और उनके मत से इन्द्रियों की सूत्रकार द्वारा कथित 'परमवश्यता' का अभिप्राय यही चौथे प्रकार का इन्द्रिय-जय है। इस प्रकार स्पष्ट है कि महाभारत और व्यास-भाष्य में जैगीषव्य योग के विषय में परम प्रमाण माने गए हैं। प्रथम शताब्दी के बुद्ध-चरित मे तो प्राचीन योगाचार्यों में इनका उल्लेख है ही। इससे स्पष्ट है कि ये भी वार्षगण्य की भाँति प्रथम शताब्दी ईसवी के वहुत पूर्व हुए होंगे। वस्तुत: ये महाभारत-काल से ही पर्याप्त प्राचीन आचार्य थे।

---

१. महाभारत शान्ति-पर्व।

२. द्रष्टव्य, Sankhya System, पृ० ५१।

३. द्रष्टव्य डॉ० जानसन का Early Shankhya पृ० ६।

४. द्रष्टव्य योगभाष्य २।५५ :—चित्तैकाग्रचादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः, ततश्च परमा त्वियं वश्यता यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानि इन्द्रियाणि, नेतरेन्द्रिय-जयवत् प्रयत्नकृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति।

वार्षगण्य

षष्टितन्त्र पर विचार करते समय पहले कहा जा चुका है कि कुछ विद्वानों के अनुसार वाचस्पति मिश्र के मत से षष्टितन्त्र के रचयिता यही थे। परन्तु यह कई कारणो से अनिश्चित है, जैसा पीछे स्पष्ट कर चुके हैं। पूर्वोक्त उद्धरण के अतिरिक्त इनका एक और उद्धरण भीं योग-भाष्य (३।५३) में आया है, जो इस प्रकार है—"मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वम्"। ४७वीं सांख्यकारिका की टीका में वाचस्पति मिश्र ने इनका एक और उद्धरण दिया है। तत्त्वकौमुदी की पंक्तियाँ इस प्रकार है—'यदविद्यया विपर्ययेणावधार्यते वस्तु, अस्मितादयस्तत्स्वभावाः सन्तस्तदभिनिविशन्ते। अतएव "पंचपर्वाऽविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः।' १७वीं सांख्य-कारिका के गौडपाद-भाष्य मे षष्टितन्त्र के उद्धरण के रूप से दिए गए ,'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते" को प्रो० कीथ ने वार्षगण्य का कथन कहा है[1]। पर उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि उनके इस कथन का आधार क्या है? प्रो० कीथ के इस कथन से तो पूर्वोल्लिखित प्रथम मत ही पुष्ट ह ता है कि षष्टितन्त्र के रचयिता वार्षगण्य ही थे। बौद्ध दार्शनिक अश्वघोष के बुद्धचरित १२।३३ में वार्षगण्य का उपर्युक्त कथन "पंचपर्वाऽविद्या" उद्धृत है। इससे स्पष्ट है कि वार्षगण्य ईसवी प्रथम शताब्दी के अन्त में होने वाले अश्वघोष से बहुत पूर्व के होंगे[2], क्योंकि अपने ग्रन्थ में सांख्य-योग के उन्हीं आचार्यों और उनके विशिष्ट मतों का उल्लेख अश्वघोष ने किया होगा जो उनके समय में सांख्य-योग के प्रामाणिक आचार्य

---

१. द्रष्टव्य प्रो० कीथ का Sankhya System, पे० ७३।

२. द्रष्टव्य, डा० जानसन का Early Sankhya, पे० ६१ :—"It appears that Buddha. XII. gives us in outline the teaching of the chief school of Sankhya and Yoga, those of Varshrganya and Pancashikha in the form in which they were prevalent in the first century. A. D., so that the origin of these schools must be placed at a more remote date than

गिने जाते रहे होंगे। आगे १२।६७ में जैगीषव्य, जनक एवं पंचशिख[1] का उल्लेख होने से इस अनुमान की पुष्टि होती है।

परमार्थ के चीनी अनुवाद के अय्यास्वामी शास्त्री कृत संस्कृत रूपान्तर में सांख्य की गुरु-परम्परा इस प्रकार दी गई है :—"इदं ज्ञानं कपिलादासुरेरागतम्। आसुरिणा पंचशिखस्योपदिष्टम्। पंचशिखेन गार्ग्यस्योपदिष्टम्। गार्ग्येणोलूकस्योपदिष्टम्। उलूकेन वार्षगणस्य। वार्षगणेन ईश्वरकृष्णस्य। एवं क्रमेण ईश्वरकृष्ण इदं ज्ञानमलभत[2]" इसके अनुसार वार्षगण ईश्वरकृष्ण के गुरु थे। अय्यास्वामी शास्त्री के मतानुसार वार्षगण और महाभारत के वार्षगण्य, दोनों एक ही हैं। चीनी अनुवाद के जिस शब्द से शास्त्री जी ने 'वार्षगण' का ग्रहण किया है, वह है 'पो-पो-ली'। ऐसा करने में शास्त्री जी ने डा० तकाकुसु का अनुसरण किया है। जिस विधि से डा० तकाकुसु ने 'पोपोली' से वार्ष या वार्षगण का ग्रहण किया है वह शास्त्री जी के शब्दों में इस प्रकार है :—

वार्षगण=वार्षगण्य of the Epic The term 'वार्ष' is transliterated in to Chinese as 'po-po-li.' Takakusu says that 'po-li.so.' may be read for 'po po li.' He futher explains thus: All those who are familiar with the Chinese Buddhist works, know that 'po' is often written for 'So', or vice versa. Suppose we have here this misplace, and also 'so-li' has been taken for 'li-so' by such interversion that presents itself frequently. In that case, we obtain 'po-li-so' which may be restored in to वार्ष or वर्ष" ३ [Vide his introductions, pp. 59-60]

१. द्रष्टव्य, महाभारत, शान्तिपर्व—पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः। भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसम्मतः॥ १२।३२०।२४ (चित्रशाला संस्करण, १९३२) [धर्मध्वज जनक to योगिनी सुलभा] who is said to be in सत्ययुगः—

अथ धर्मयुगे तस्मिन् योगधर्ममनुष्ठिता। महीमनुचचारैका सुलभा नाम भिक्षुकी॥ [१२।३२०।१६] [कृतयुगे-सत्ययुगे नीलकण्ठी]

२. द्रष्टव्य, चीनी अनुवाद का संस्कृत रूपान्तर, पृ० ९८।

३. द्रष्टव्य वही, पृ० ९८, पाद-टिप्पणी सं० २।

डा० तकाकुसु ने 'पो-पो-ली' से वार्षगण्य का ग्रहण करने में जो क्लिष्ट कल्पना की है, उसका आधार उन्हें परमार्थ-कृत 'वसुबन्धुचरित' में मिला। इसमें लिखा है कि विन्ध्यवास नामक सांख्य दार्शनिक के गुरु वार्षगण्य थे। परमार्थ ने अपना ग्रन्थ कुमारजीव के 'वसुबन्ध-चरित' के आधार पर रचा था। कुमारजीव ने वार्षगण्य एवं विन्ध्यवास के साम्प्रदायिक सम्बन्ध का उल्लेख किया होगा। उसकी वास्तविकता को न समझते हुए परमार्थ ने उनको साक्षात् अध्यापक और शिष्य समझ लिया। अन्यत्र विन्ध्यवास को हिरण्यसप्तति' नामक ग्रन्थ का रचयिता कहा है। चीनी परम्परा के अनुसार 'हिरण्यसप्तति' सांख्यसप्तति या सांख्य-कारिका का ही दूसरा नाम है। इस प्रकार विन्ध्यवास एवं ईश्वरकृष्ण एक ही व्यक्ति हुये। एवं वार्षगण्य ईश्वरकृष्ण के गुरु हुए। परन्तु यह कल्पना अन्य तथ्यों के अतिरिक्त इस निश्चित तथ्य के कारण भी ध्वस्त हो जाती है कि विन्ध्यवास एवं सांख्यदर्शन के अन्तर्गत उनकी विशिष्ट विचार-धारा अथवा विशिष्ट सम्प्रदाय के गुरु या प्रवर्तक आचार्य वार्षगण्य, दोनों का ही ईश्वरकृष्ण से अनेक सिद्धान्तों के विषय में महान् मत-भेद है, जैसा कि अगले प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा। वास्तव में . पो-पो-ली कपिल का वाचक प्रतीत होता है, जैसा कि पं० उदयवीर शास्त्री का सुझाव है। महर्षि कपिल ईश्वरकृष्ण के गुरु उसी अर्थ में हैं जिसमें अभी वार्षगण्य विन्ध्यवास के कहे गये हैं। ईश्वरकृष्ण कपिल द्वारा प्रवर्तित एवं पञ्चशिख आदि द्वारा संवर्धित मुख्य सांख्यीय विचार-धारा के अनुयायी थे, वह तथ्य आगे स्पष्ट किया जायगा।

वार्षगण्य के नाम से सम्बद्ध कुछ विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं :—

(१) मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः। [योगभाष्य ३।५३]

(२) गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेय सुतुच्छकम्॥ [योगभाष्य ४।१३]

थोड़े पाठ-भेद (मायैव) के साथ यही श्लोक ब्रह्मसूत्रभाष्य २।१।३ की 'भामती' में भी उद्धृत है।

(३) सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम्। [न्यायवार्तिक १।१।५]

(४) 'पंचपर्वा अविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः। [सांख्यतत्त्वकौमुदी,

(५) श्रोत्रादिवृत्तिरिति वार्षगणाः [युक्तिदीपिका, पृ० ३६]

(६) तथा च वार्षगणाः[1] पठन्ति तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति, न सत्त्वात् । अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात् । संसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यं सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिः । तस्माद् व्यक्तापगमो विनाशः । स तु द्विविधः—आसर्गप्रलयात् तत्त्वानां, किञ्चित्कालान्तरावस्थानादितरेषाम्' इति । [युक्तिदीपिका पृ० ६७]

(७) तथा च भगवान् वार्षगण्यः पठति—रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च विरुध्यन्ते, सामान्यानि त्वतिशयैः सह वर्तन्ते' [युक्ति०, पृ० ७२] यही उद्धारण थोड़े पाठ-भेद के साथ योगभाष्य २।१५ एवं ३।१३ में भी पठित है जिसे वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु, दोनों ने ही पंचशिख का वचन कहा है। सम्भवतः वार्षगण्य ने पंचशिख के वचन को थोड़े पाठ-भेद के साथ अपना लिया इसी प्रकार संख्या ४ का 'पञ्चपर्वा अविद्या' उद्धरण भी मूलतः तत्त्वसमाससूत्र १२ है। अतः यह भी वार्षगण्य द्वारा अपनाया गया प्रतीत होता है।

(८) तथा च वार्षगणा पठन्ति—'बुद्धिवृत्त्याविष्टो हि प्रत्ययत्वेनानुवर्तमानामनुयाति पुरुषः' इति । [युक्ति, पृ० ६५]

(९) तथा च वार्षगणाः पठन्ति—'प्रधान प्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणापरिगृह्यमाणाऽऽदिसर्गे वर्तते इति । [युक्ति, पृ० १०२]

(१०) वार्षगणानां प्रधानात् महानुत्पद्यते । [युक्ति० पृ० १०८]

(११) एकरूपाणि तन्मात्राणीत्यन्ये, एकोत्तराणीति वार्षगण्यः । [युक्ति०, पृ० १०८]

(१२) करणानां महती स्वभावातिवृतिः प्रधानात् स्वल्पा च स्वतः इति वार्षगण्यः । [युक्ति०, पृ० १०८]

(१३) करणम्·······एकादशविधम् इति वार्षगणाः । [युक्ति०, पृ० १३३]

---

१. ध्यान देने की बात है कि 'वार्षगण' सर्वत्र बहुवचन में पठित है। और वार्षगण्य एक वचन में। इससे ऐसा लगता है कि वृषगण' शब्द से यञ् प्रत्यय जुड़ने पर बना हुआ 'वार्षगण्य' शब्द वृषगण के पुत्र या वंशज किसी प्रसिद्ध आचार्य का वाचक है, एवं दोनों में ही 'तदधीते तद्वेद' अर्थ में अ् प्रत्यय जुड़ने पर बना हुआ 'वार्षगण्य' शब्द उनके अनुयायियों का वाचक है। इस प्रकार 'वार्षगणाः' के नाम पर उद्धृत मत भी 'वार्षगण्य' के ही समझे जाने चाहिये ।

(१४) यदि यथा वार्षगणा आहुः—लिङ्गमात्रो महानसंवेद्यः कार्यकारणरूपेणाविशिष्टो विशिष्टलक्षणेन तथा स्यात् तत्वान्तरम्। [युक्ति०, पृ० १३३]

(१५) साधारणो हि महान् प्रकृतित्वात् इति वार्षगणानां पक्षः। [युक्ति०, पृ० १४०]

(१६) वार्षगणानां तु 'यथा स्त्रीपुंशरीराणामचेतानानामुद्दिश्येतरेतरप्रवृत्तिस्तथा प्रधानस्येत्ययं दृष्टान्तः। [युक्ति, पृ० १७०]

इनमें से अनेक उद्धरण वार्षगण्य की विचार-धारा को कपिल की प्रसिद्ध विचार-धारा से अनेक बातों में पृथक् या भिन्न सिद्ध करते हैं। अगले प्रकरण में विन्ध्यवास के विशिष्ट मत के साथ इसका विचार किया जायगा।

विन्ध्यवास

मेधातिथि ने अपने मनुस्मृति-भाष्य (१।५५) में विन्ध्यवास के मत का इस प्रकार उल्लेख किया है—"सांख्या हि केचिन्नान्तराभवमिच्छन्ति विन्ध्यवासप्रभृतयः"। श्लोकवर्तिक में भी "अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना"—ऐसा उल्लेख मिलता है। त्रिकाण्डशेष और हैम कोश में आये हुये उद्धरणों के आधार पर तनुसुखराम ने माठर-वृत्ति[1] की अपनी भूमिका मे विन्ध्यवास को व्याडि से अभिन्न एवं नन्द का समकालीन कहा है। यदि यह ठीक हो तो इनका समय ई० पू० चतुर्थ शताब्दी होगा। परन्तु अश्वघोष ने अन्य सांख्याचार्यों के साथ इनका उल्लेख नहीं किया है, अतः इनका ईसवी सन् के पूर्व का होना बहुत संदिग्ध जान पड़ता है।

चीनी परम्परा के अनुसार विन्ध्यवास ने हिरण्यसप्तति सांख्य-कारिका की टीका है। परन्तु कविराज जी ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है कि "जैन-ग्रन्थ 'अनुयोग-द्वारसूत्र' में ब्राह्मण-धर्म के ग्रन्थों की एक सूची मिलती है जिसमें एक ग्रन्थ कनगसत्तरि (कनकसप्तति) भी है जो मेरे विचार से सुवर्ण-सप्तति या हिरण्य-सप्तति ही है और चीन में यह सांख्य-सप्तति का ही प्रचलित

---

१. द्रष्टव्य, चौखाम्बा सं० सिरीज में प्रकाशित माठरवृत्ति की भूमिका, पृ० ३।

२. द्रष्टव्य, भण्डारकर कमेमोरेशन वाल्यूम में प्रकाशित डा० वेल्वल्कर का पर्वोद्धत लेख, पृ० १७५।

नाम है"[1]। अब यदि चीनी परम्परा और कविराज जी का निष्कर्ष, दोनों ही ठीक हों तो अनिवार्य रूप से यही निष्कर्ष निकलेगा कि विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण एक ही व्यक्ति हैं, जैसा डा० तकाकुसु भी मानते हैं। परन्तु कविराज जी डा० तकाकुसु के इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि सम्भवतः विन्ध्यवास ने सांख्य-सिद्धान्त का संशोधन किया और वसुबन्धु ने विन्ध्यवास के इस संशोधित ग्रन्थ के खण्डन में अपना 'परमार्थसप्तति' ग्रन्थ लिखा था। परन्तु ईश्वरकृष्ण की विन्ध्यवास के साथ अभिन्नता प्रतिपादित करने के लिए कोई समुचित आधार नहीं प्रतीत होता। यदि यह सत्य है कि माठरवृत्ति ही चीनी अनुवाद का मूल संस्कृत रूप है और यदि माठर महाराज कनिष्क के शासन-काल में अथवा उसके आस-पास विद्यमान थे, तो ईश्वर-कृष्ण का समय अवश्य ही कुशन-काल से पर्याप्त पूर्व होना चाहिये। इस प्रकार डा० तकाकुसु द्वारा प्रस्तावित अभिन्नता में काल-विपर्यय बाधक होगा, क्योंकि तकाकुसु ने विन्ध्यवास को ईसवी पञ्चम शताब्दी के मध्य में रक्खा है। इसके अतिरिक्त दोनों की अभिन्नता इसलिए भी मान्य नहीं हो सकती, क्योंकि श्लोकवार्तिक (पृ० २६३ तथा ७०४), योगसूत्र ४।२२ की भोजवृत्ति, मनु० १।४५ के मेधातिथि-भाष्य, स्याद्वादमंजरी (चौ० संस्करण, पृ० ११७), तथा सर्वदर्शनसंग्रह की गुणरत्नटीका (पृ० १०२ तथा १०४) में उपलब्ध विन्ध्यवास के विशिष्ट विचार ईश्वरकृष्ण के विचारों के साथ कुछ महत्त्वपूर्ण बातों में संगत नहीं होते।[2] कविराज जी का मत सर्वथा समीचीन है। ईश्वरकृष्ण एवं विन्ध्यवास कदापि एक नहीं हो सकते।

विन्ध्यवास के समय के विषय में इतना वक्तव्य है कि चूंकि परमार्थ के अनुसार विन्ध्यवास वसुबन्धु के समकालिक, यद्यपि अवस्था में उनसे बड़े थे और वसुबन्धु को डा० बेल्वल्कर के अनुसार २८० ई० से ३६० ई० के बीच रक्खा जा सकता है,[3] अत: विन्ध्यवास का समय भी ३०० ई० के आस-पास हो सकता है। किन्तु जैसा पूर्व उद्धरण से स्पष्ट है, डा० तकाकुसु के अनुसार

---

१. द्रष्टव्य, जयमङ्गला की भूमिका, पृ० ७।

२. द्रष्टव्य वही।

३. द्रष्टव्य डा० बेल्वल्कर का लेख, पृ० १८१ :—"The general trend of the evidence is for assigning Vasubandhu somewhere between A. D. 280 and 360, and Vindhyavasa by all accounts was Vasubandhu's older contemporary".

विन्ध्यवास का समय ईसवी पाँचवी शताब्दी का मध्य है। बौद्ध परम्परा के अनुसार यही समय ठीक जान पड़ता है। वसुबन्धु, जिन्होंने अपने गुरु बुद्धमित्र को शास्त्रार्थ में पराजित करने वाले सांख्याचार्य विन्ध्यवास के सांख्य-शास्त्र का खण्डन करने के लिए अपना 'परमार्थसप्तति' नामक ग्रन्थ लिखा, एवं जो प्रसिद्ध योगाचार-संस्थापक असंग के छोटे भाई थे, स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (४५५-४८० ई०) के समसामयिक थे। अतः उनका समय लगभग ४२० से ५०० ई० तक माना जाता है।[1] इस प्रकार विन्ध्यवास का समय पंचम शताब्दी के मध्य तक सिद्ध होता है अर्थात् इनका समय चतुर्थ शतक का अन्तिम पाद तथा पञ्चम का पूर्वार्ध रहा होगा। जैसा ऊपर कह चुके हैं, ईश्वरकृष्ण निस्सन्देह इनसे भिन्न थे एवं कई शताब्दी पूर्व हुये थे।

विन्ध्यवास सांख्यदर्शन के अन्तर्गत वार्षगण्य की विशिष्ट विचार-धारा अथवा परम्परा के अनुयायी थे, जब कि ईश्वरकृष्ण महर्षि कपिल द्वारा प्रवर्तित एवं आसुरि, पञ्चशिख आदि के द्वारा पोषित एवं संवर्धित मुख्य धारा या परम्परा के अनुयायी थे। ७१ वीं सांख्यकारिका में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि तत्त्वज्ञान की जो पवित्र धारा कपिल मुनि ने आसुरि के प्रति बहाई और जिसे उनके शिष्य पञ्चशिख ने अपनी प्रतिभा से बहुरूप एवं विविध बनाया, उसे ही कालांतर में शिष्य-परम्परा द्वारा प्राप्त करके ईश्वरकृष्ण ने सत्तर आर्यायों द्वारा अत्यन्त संक्षिप्त कर दिया। विन्ध्यवास के जो उद्धरण अथवा उनके मत के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों या लेखकों की जो उक्तियाँ संस्कृत के दार्शनिक साहित्य में प्राप्त होती हैं, उनके आधार पर सांख्यदर्शन की मुख्य धारा, जिनके अनुयायी या पोषक ईश्वरकृष्ण थे, से उनका वैषम्य अथवा भेद जाना जा सकता है। वे उद्धरण इस प्रकार हैं:—

(१) सन्दिह्यमानसद्भाववस्तुबोधात् प्रमाणता।
विशेषदृष्टमेतच्च लिखितं विन्ध्यवासिना॥ (श्लोकवा० पृ० ३९३)

(२) अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना।
तदस्तित्वे प्रमाणं हि न किञ्चिदवगम्यते॥ (वही, सूत्र ५ पर श्लोक ६२)

---

१. द्रष्टव्य, Encyclopaedia of Religion and Ethics में Dr. Wogihare. प्रोफेसर, टोकियो विश्वविद्यालय, का लेख, पृ० ५९५-९६।

(३) यदेव दधि तत् क्षीरं यत् क्षीरं तद् दधीति च वदता रुद्रिलेनैवं ख्यापिता विन्ध्यवासिना ॥ (कमलशीलकृत तत्त्वसंग्रहपंजिका, पृ० २२)

(४) प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्धमनुमानं विशेषतोदृष्टमनुमानमित्येवं विन्ध्यवासिना गदितम् । (वही, पृ० ४२३)

(५) सारूप्यं सादृश्यं विन्ध्यवासीष्टम् । (वही, पृ० ६३६)

(६) विन्ध्यवासिनस्तु "पूर्वव्यक्त्यवच्छिन्नमपूर्वव्यक्तौ प्रतीयमानं सामान्यमेव सादृश्यम्, तदेकशब्दवाच्यम्" इति मतम् । साहित्य-मीमांसा, पृ० ४३)

(७) सांख्या अपि केचिन्नान्तराभवमिच्छन्ति विन्ध्यवासिप्रभृतयः । (मनु० १।५ का मेधातिथि-भाष्य)

(८) अनेनैवाभिप्रायेण विन्ध्यवासिनोक्तम्—'सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वम् इति । (योगसूत्र ४।२२ की भोजवृत्ति)

(९) श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका इति विन्ध्यवासिप्रत्यक्षलक्षणम् । (सिद्ध सेनदिवाकर-कृत 'सन्मतितर्क' की अभयदेवसूरि-कृत व्याख्या, गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर ग्रन्थावली संस्करण, पृ० ५३३)

(१०) विन्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे—पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् । मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा ॥' इति ! (हरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरि-कृत व्याख्या, रायल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता संस्करण, पृ० १०४)

(११) महतः षडविशेषाः सृज्यन्ते पञ्चतन्मात्राण्यहङ्कारश्चेति विन्ध्यवासिमतम् । (सांख्यकारिका की व्याख्या युक्तिदीपिका, पृ० १०८)

(१२) इन्द्रियाणि..........विभूनीति विन्ध्यवासिमतम् । (" ")

(१३) अधिकरणमपि ....एकादशकमिति विन्ध्यवासी । (" ")

(१४) तथान्येषां महति सर्वार्थोपलब्धिः, मनसि विन्ध्यवासिनः । (" ")

(१५) सङ्कल्पाभिमानाध्यवसायनानात्वमन्येषाम्, एकात्वं विन्ध्यवासिनः ।। (" ")

(१६) विन्ध्यवासिनस्तु विभुत्वादिन्द्रियाणां बीजदेशे वृत्त्या जन्म, तत्त्यागो मरणम्, तस्मान्नास्ति सूक्ष्मशरीरं, तस्मान्निर्विशेषः संसार इति पक्षः (वही पृ० १४४)

[१७] विन्ध्यवासिनस्तु नास्ति तत्त्वसमं सांसिद्धिकं च। किं तर्हि! सिद्धिरूपमेव। तत्र परमर्षेरपि सर्गसंघातव्यूहोत्तरकालमेव ज्ञानं निष्पद्यते, यस्माद् गुरुमुखाभिप्रतिपत्तेः प्रतिपत्स्यते इति। अपीत्याह—सिद्धं निमित्तं नैमित्तिकस्यानुग्रहं कुरुते नापूर्वमुत्पादयतीति। निमित्तनैमित्तकभावश्चैवमुपपद्यते। [वही, [पृ० १४८]

पीछे दी गई वार्षगण्य के उद्धरणों के सूची के साथ इस सूची की तुलना करने पर यह तथ्य प्रकट होता है कि दोनों की सं० १३ के उद्धरणों में एक ही सिद्धान्त कथित है और वह यह है कि करण ग्यारह प्रकार के होते हैं, जब कि सांख्य-सूत्र [करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात् ॥ २।३८] एवं सांख्यकारिका [करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणाप्रकाशकरम्"......।। ३२], दोनों ही में तेरह करणों का सिद्धान्त कथित हैं। इसी प्रकार इस सूची की संख्या ९ तथा पिछली की संख्या ५ के उद्धरणों में प्रत्यक्ष प्रमाण का ही लक्षण दिया गया है, जो साँख्य-सूत्रों तथा सांख्य कारिकाओं के लक्षणों से भिन्न है। इसी प्रकार अनुमानादि के लक्षणों एवं अन्य बातों में भी वार्षगण्य एवं विन्ध्यवास में परस्पर ऐकमत्य तथा दोनों का सांख्य-सूत्रों तथा सांख्य-कारिकाओं से वैमत्य दिखाई पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि वार्षगण्य और विन्ध्यवास का ईश्वरकृष्ण से अनेक बातों में वैमत्य या भेद है। इससे पूर्व प्रतिपादित इस तथ्य का भी समर्थन होता है कि न तो वार्षगण्य ईश्वरकृष्ण के गुरु थे और न ही विन्ध्यवास उनसे अभिन्न। वार्षगण्य और ईश्वरकृष्ण के अभिन्न होने पर मतभेद होना असम्भव था। गुरु और शिष्य में तो थोड़ा मतभेद हो भी सकता है, पर वही व्यक्ति एक ही विषय में परस्पर-विरुद्ध विचार या मत कैसे रख सकता है? ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास के परस्पर अभिन्न अथवा एक ही होने का खण्डन करने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि जहाँ ईश्वरकृष्ण सूक्ष्म शरीर की सत्ता स्पष्ट एवं सबल शब्दों में प्रतिपादित करते हैं (द्रष्टव्य का० ३९, ४०), वहाँ विन्ध्यवास उसका निषेध अथवा खण्डन करते हैं (द्रष्टव्य सं० २ एवं ७ के उद्धरण)। इस सबसे यह बात सर्वथा निश्चित होती है कि ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास सर्वथा भिन्न व्यक्ति थे। इससे डा० तकाकुसु एवं लोकमान्य तिलक आदि विद्वानों का एतद्विषयक विरुद्ध या भिन्न मत सर्वथा असंगत ही लगता है।

ईश्वरकृष्ण

पूर्व विवेचन से स्पष्ट हो चुका है कि ईश्वरकृष्ण सांख्य के मूल प्रवर्तक कपिल द्वारा प्रचारित एवं आसुरि-पञ्चशिख आदि द्वारा संवर्धित मुख्य सांख्यीय विचारधारा के अनुयायी थे, एवं उसकी एक विशिष्ट धारा के पोषक आचार्य वार्षगण्य ईश्वरकृष्ण से कई शताब्दी पूर्व तथा उस धारा के अनुयायी विन्ध्य-वास उनके पर्याप्त पश्चात् हुए थे। यह बात स्पष्ट कर आए हैं कि विन्ध्यवास का समय बौद्ध परम्परा तथा डा० तकाकुसु के अनुसार ईसवी पञ्चम शतक के मध्य तक तथा बेल्वलकर के अनुसार तृतीय शतक के मध्य के समीप सिद्ध होता है, एवं ईश्वरकृष्ण का समय कुशन-काल अर्थात् ईसवी प्रथम शतक के अन्त से पर्याप्त पूर्व सिद्ध होता है। इस प्रकार ईश्वरकृष्ण विन्ध्यवास से पर्याप्त पूर्व के प्रतीत होते हैं। ईश्वरकृष्ण की कुशन-काल से पर्याप्त पूर्ववर्तिता केवल उनके टीकाकार माठर के कनिष्क के शासन-काल में रक्खे जाने पर ही आधारित नहीं है, अपितु इस सुदृढ़ तथ्य पर भी आधारित है कि आधुनिक विद्वानों द्वारा ईसवी प्रथम शतक का अनुमान किए जाने वाले प्राचीन जैन-ग्रन्थ 'अनुयोग-द्वारसूत्र' में कनगसत्तरी (संस्कृत 'कनकसप्तति') नामक ग्रन्थ का उल्लेख है[1], जो पं० गोपीनाथ कविराज, पं० उदयवीर शास्त्री तथा अन्य अनेक विद्वानों के अनुसार ईश्वरकृष्ण का 'सांख्यसप्तति' या सांख्यकारिका नामक ग्रन्थ ही है। जब विन्ध्यवास का समय किसी भी प्रकार से २५० ई० से पूर्व का नहीं हो सकता किन्तु इसके विपरीत ईश्वरकृष्ण का समय कई आधारों पर १०० ई० से पर्याप्त पूर्व का सिद्ध होता है, तब ईश्वरकृष्ण का विन्ध्यवास से कई शताब्दी पूर्व का होना ध्रुव सत्य है। किन्तु इसके विपरीत कुछ विद्वान् ईश्वर-कृष्ण को विन्ध्यवास से परवर्ती आचार्य मानते हैं। जर्नल आव् इण्डियन हिस्ट्री, भाग ६ के पृ० ३६ पर मुद्रित अपने एक लेख में श्रीयुत विनयतोष भट्टाचार्य ने ईश्वरकृष्ण को विन्ध्यवास से परवर्ती सिद्ध करने में यह हेतु दिया है कि ईश्वरकृष्ण ने सम्पूर्ण सांख्य-अर्थों को प्रस्तुत करने के लिए रचित केवल ७२ आर्याओं के संक्षिप्त ग्रन्थ में तीन आर्यायें सूक्ष्म शरीर के ही प्रतिपादन में लिखी हैं, जिससे प्रकट होता है कि इनके द्वारा वे विन्ध्यवास द्वारा प्रतिपादित सूक्ष्म शरीर के निषेध या अभाव का खण्डन करना चाहते हैं। किन्तु भट्टाचार्य महोदय का यह कथन नितान्त असत्य है। न तो सूक्ष्म शरीर का वर्णन ही तीन कारिकाओं में है और न सूक्ष्म शरीर का वर्णन प्रस्तुत करने वाली ४०वीं

---

१. द्रष्टव्य, अनुयोगद्वारसूत्र का ४१ वाँ सूत्र।

कारिका में विरोधी मत के खण्डन की भावना ही ध्वनित होती है। इसमें तो विषय का केवल साधारण रूप में वर्णन है, जैसा कि अन्य कारिकाओं में अन्यान्य विषयों का। ऐसी स्थिति में भट्टाचार्य महोदय का कथन अप्रामाणिक एवं असत्य ही कहा जायगा।

ऊपर कविराज जी इत्यादि विद्वानों के अनुसार 'कनकसप्तति' के 'सांख्यकारिका' से अभिन्न ग्रन्थ होने का उल्लेख किया जा चुका है। इसके विपरीत डा० बेल्वल्कर का मत है कि ईश्वरकृष्ण-रचित 'सांख्यकारिका' या सांख्य-सप्तति' का 'हिरण्यसप्तति', 'सुवर्णसप्तति' या 'कनकसप्तति' नाम नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने में कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। भोज-कृत राज-मार्तण्ड नामक योगसूत्र-वृत्ति में ४।२२ सूत्र पर विन्ध्यवास के दो वाक्य[1] उद्धृत हैं, जिनकी रचना से प्रतीत होता है कि वह व्याख्या-ग्रन्थ रहा होगा। इसी लिए यह अधिक सम्भव है कि ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं पर विन्ध्यवास ने 'हिरण्यसप्तति' नामक व्याख्या लिखी हो।[2] 'हिरण्यसप्तति' नाम के सम्बन्ध में डा० बेल्वल्कर का सुझाव है कि सांख्य के मौलिक सिद्धान्तों में से एक 'हिरण्य' या 'हिरण्यगर्भ' के आधार पर सांख्यकारिका का नाम 'हिरण्य-सप्तति हो सकता है। बेल्वल्कर महोदय का मत समीचीन नहीं जान पड़ता, क्योंकि सांख्य में इस प्रकार का कोई भी सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में कुई-ची (kuei-chi का यह कथन ही अधिक सम्भव एवं समीचीन प्रतीत होता है कि सांख्य-सप्तति के रचयिता को स्वर्ण भेंट किए जाने का साधन होने के कारण इसी ग्रन्थ के 'हिरण्यसप्तति' 'कनकसप्तति' 'सुवर्ण-सप्तति' नाम भी पड़ गए होंगे। विन्ध्यवास के उद्धरण पीछे संगृहीत हैं, वे किसी व्याख्या-ग्रन्थ के नहीं ज्ञात होते, और सांख्य-सप्तति की व्याख्या के तो और भी नहीं, क्योंकि सांख्य-सप्तति एवं विन्ध्यवास के कई उद्धरणों के विषयों में महान् वैषम्य या भेद दिखाई पड़ता है। यदि यह मान भी लिया जाय कि विन्ध्यवास का ग्रन्थ ईश्वरकृष्ण की सांख्य-सप्तति की व्याख्या था, तब तो डा० बेल्वल्कर को भी यह बात माननी पड़ेगी कि वह व्याख्या गद्य में लिखी गई रही होगी क्योंकि योगवृत्ति में उद्धृत विन्ध्यवास-वचन गद्यात्मक ही है।

---

१. 'सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वम्। 'बिम्बे' प्रतिबिम्बिमानच्छायासदृशच्छायान्तरोद्भवः प्रतिबिम्बशब्देनोच्यते'।

२. द्रष्टव्य भण्डारकर-स्मारक-ग्रन्थ, पृ० १७६-७७।

जब व्याख्या गद्य में रही होगी, तब उसका 'हिरण्य-सप्तति' नाम कैसे समञ्जस या संगत होगा, क्योंकि 'सप्तति' यह गणनापरक शब्द गद्य के सम्बन्ध में कदापि-कथमपि समीचीनतया प्रयुक्त नही कहा जा सकता। भला गद्य की भी कहीं पद्यवत् गणना हो सकती है ? इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हिरण्य-सप्तति विन्ध्यवास-कृत व्याख्या का नाम नहीं अपितु सांख्य-सप्तति या सांख्य-कारिका का ही नामान्तर रहा होगा।

डा० तकाकुसु ने सांख्य-कारिका और उसकी संस्कृत टीका, जो परमार्थ-कृत चीनी अनुवाद का मूल रूप कही जाती है, दोनों का कर्ता ईश्वरकृष्ण हो माना है। चीन और जापान की परम्परा में सामान्यतः ईश्वरकृष्ण को कारिकाकार तथा बोधिसत्त्व बसुबन्धु को टीकाकार मानते है।[1] परन्तु जैसा आगे स्पष्ट किया जायगा, अय्यास्वामी शास्त्री ने इन दोनों ही मतों को निराधार माना है और ऐसा ठीक ही किया है।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न सांख्य-कारिकाओं की संख्या के सम्बन्ध में भी उठाया जाता है। यों तो स्वयं ग्रन्थकार ने ही ग्रन्थ के अन्त[2] में कारिकाओं की संख्या सत्तर बताई है और उनका स्पष्ट साक्ष्य उपलब्ध होने पर इस विषय मे किसी प्रकार की शंका के लिए स्थान नहीं रह जाता। किन्तु चूँकि वर्तमान रूप में इस ग्रन्थ में सांख्य-सिद्धान्त विषयक ६८ ही कारिकायें उपलब्ध हैं, ६९वीं कारिका में इस सिद्धान्त के कपिलोपदिष्ट होने की बात कही गई है, ७० वीं कारिका में सांख्यशास्त्र की गुरु-परम्परा दी गई है, शेष दो कारिकायें प्रस्तुत ग्रन्थ के ही विषय में कही गई हैं जो यह बताती हैं कि ईश्वरकृष्ण ने शिष्य-परम्परा से प्राप्त हुए सांख्य-शास्त्र को सत्तर ही कारिकाओं में संक्षिप्त करके रख दिया है

---

१. द्रष्टव्य अय्यास्वामी की भूमिका, पे० ३४—Chinese and Japanese writers attribute generally Sankhyakarika to Ishwarakrisna and the commentary to Bodhisattva Vasubandhu, and believe that the Bodhisattva wrote the commentary when he took up the refutation of the erroneous doctrines of Sankhya philosophy.

२. द्रष्टव्य, कारिका ७२ :—सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य। आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥

और इसमें 'षष्टितन्त्र' का सारा विषय आ गया है, केवल इसके आख्यान और परमत-खण्डन छोड़ दिए गए हैं, अतएव संख्या-विषयक शंका होती है। अब यदि इस ग्रन्थ की सारी कारिकायें ली जायँ तो इसकी संख्या ७२ होती है और यदि केवल सांख्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाली कारिकायें ली जायँ तो संख्या ६८ ही होती है। तब फिर प्रश्न यह है कि ७०वीं कारिका कौन सी है? ७२ वीं कारिका पर विचार करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि कारिकाकार ने जो ७० संख्या दी है, वह उन्हीं कारिकाओं की दी है जो षष्टितन्त्र में आए हुए सांख्य-ज्ञान का प्रतिपादन करती हैं। इस प्रकार अन्तिम दो कारिकायें तो स्पष्ट ही उन ७० के बाहर हैं। अब रही ७० वीं कारिका जिसमें सांख्य का गुरु-सम्प्रदाय उल्लिखित है, सिद्धान्त-प्रतिपादन-विषयक न होने के कारण अनेक विद्वान् इसे भी ७० के अन्तर्गत नहीं मानते। अतः उनका मत है कि एक कारिका कहीं बीच से लुप्त हो गई है।

इस प्रश्न को सर्वप्रथम लोकमान्य पं० बाल गंगाधर जी तिलक ने उठाया था, और ६१ वीं कारिका के गौडपाद-भाष्य में विषयान्तर देखकर वे इस निर्णय पर पहुँचे थे कि उक्त भाष्य एक नहीं दो कारिकाओं का है और यह दूसरी कारिका इसी ६१वीं कारिका के बाद होनी चाहिये। यह विषयान्तर गौडपाद-भाष्य के ही शब्दों मे इस प्रकार है :—"केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते 'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा ॥' अपरे स्वभावकारणका ब्रुवते—'केन शुक्लीकृता हंसा मयूराः केन चित्रिताः। स्वभावेनैव' इति। अत्र सांख्याचार्या आहुः—'निर्गुणत्वादीश्वरस्य कथं सगुणतः प्रजा जायेरन्? कथं वा पुरुषान्निर्गुणादेव? तस्मात् प्रकृतेर्युज्यते। तथा शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्ल एव पटो भवति, कृष्णेभ्यः कृष्ण एव इति। एवं त्रिगुणात् प्रधानात् त्रयो लोकास्त्रिगुणाः समुत्पन्ना इति गम्यते। निर्गुणः ईश्वरः, सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिरयुक्तेति। तथा केषाञ्चित् कालः कारणमिति, उक्तञ्च—'कालः पचति भूतानि कालः संहरते जगत्। कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः' ॥ इति। व्यक्ताव्यक्तपुरुषास्त्रयः पदार्थाः, तेन कालोऽन्तर्भूतोऽस्ति, स हि व्यक्तः, सर्वकर्तृत्वात् कालस्यापि प्रधानमेव कारणं, स्वभावोऽपि अत्रैव लीनः, तस्मात् कालो न कारणं, नापि स्वभाव इति। तस्मात् प्रकृतिरेव कारणं, न प्रकृतेः कारणान्तरमस्तीति।" इस भाष्य के आधार पर तिलक जी ने लुप्त कारिका का जो स्वरूप निर्धारित किया, वह इस प्रकार है—

'कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च ॥

उनके मत से इस कारिका का सन्दर्भ भी ठीक बैठ जाता है। डा० हरदत्त शर्मा ने तिलक जी के पूर्वोक्त तर्क का समर्थन बड़े प्रबल शब्दों में किया है, और पं० सूर्यनारायण शास्त्री के एतद्-विरोधी तर्क का खण्डन किया है[1]। पर उन्होंने इस बात पर विचार नहीं किया कि किसी भी मौलिक ग्रन्थ के किसी भाष्य में विषयान्तर प्राप्त होने भर से ही उसके तद्विषयक किसी अंश के लुप्त होने का निश्चय नहीं हो जाता, जब तक उसके पक्ष में अन्य सबल प्रमाण न हों। फिर तिलक जी ने इस तर्क का कि 'लुप्त कारिका का पूर्वापर सन्दर्भ ठीक बैठ जाता है' डा० शर्मा ने भी समर्थन नहीं किया। शायद इसलिए कि इसका समर्थन किया ही नहीं जा सकता था। कारिकाकार के ५३ वीं कारिका से लेकर ६१ वीं कारिका तक के कथन का एकमात्र विषय यही है कि 'प्रकृति-कृत सर्ग केवल पुरुष के भोग एवं तदनन्तर विवेक-ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त कराने के लिए है और ज्यों ही प्रकृति ने पुरुष का यह अर्थ या कार्य सम्पन्न किया, त्यों ही वह उसकी ओर से निवृत्त हो जाती है और फिर कभी भी उसकी दृष्टि मे नहीं आती क्योंकि वह उस परम लज्जालु सुकुमारी कुलांगना से अधिक लज्जालु है जो किसी पुरुष के द्वारा एक बार देख ली जाने पर सर्वथा उसकी दृष्टि बचाती है'। इस सन्दर्भ में उपर्युक्त कारिका की संगति कैसे बैठेगी जिसमें ईश्वर, काल, स्वभाव आदि की सृष्टिकारणता के निराकरण के साथ प्रकृति के कारण-वाद का समर्थन किया गया है? इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि ६१ वी कारिका का गौडपादभाष्य विषयान्तर है तो उसके आधार पर गढ़ी गई तथाकथित ६२ वीं कारिका भी विषयान्तर, और वह भी मूलग्रन्थ से, प्रस्तुत करती है और इन दोनों में से मूल ग्रन्थ से होने वाला विषयान्तर ही अधिक अक्षम्य होगा। अतः तिलक जी एवं डा० शर्मा का कथन निराधार प्रतीत होता है। इसके निराधार होने का एक अन्य कारण यह भी है कि यदि वर्तमान ७० वीं कारिका सिद्धान्त प्रतिपादन-विषयक न होने से ७० के अन्तर्गत नहीं गिनी जा सकती, तो फिर वर्तमान ६९ वीं कारिका भी उसी कारण से ७० के अन्तर्गत नहीं गिनी जा सकती और उसी स्थिति में एक और कारिका तिलक सदृश किसी मनीषी को ढूँढ़नी होगी।

---

१. द्रष्टव्य, सांख्यतत्त्वकौमुदी का ओ० बु० ए० पूना का संस्करण, संस्कृत अंश, पे० ७३-७४।

अब प्रश्न यह है कि ७० वीं कारिका कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में विनम्र निवेदन है कि जो कारिका-ग्रन्थ आज-कल उपलब्ध है, उसमें प्राप्त होने वाली ७० वीं कारिका को ही सांख्यकारिका की ७० वीं कारिका मानना युक्ति-युक्त है। सन् १९२३ ई० के इण्डियन ऐण्टीक्वैरी के जुलाई वाले अंक में श्रीधर शास्त्री पाठक ने इस विषय पर जो विचार प्रस्तुत किये हैं, वे बड़े संगत हैं। उनके लेख का अन्तिम भाग इस प्रकार है:—

"Having thus stated our grounds for the rejection of the proposed Karika, we shall now briefly show that it is not necessary to have any Karika at all to make up the number seventy. The seventieth Karika, as it stands, gives the Guru-parampara, as is often the practice in old works. Thus the बृहदारण्यक concludes with a chapter that gives a fairly long list of succession from preceptor to pupil. The षष्टितन्त्र which is the soure of the Sankhyakarikas, must have given this Guru-parmpara, and therefore, there cannot be the least objection to counting the present seventieth Karika among the seventy, which are referred to in seventy-second verse (सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य). This is the most natural explanation. When Iswarkrishna writes that his seventy Karikas contain all matters that are treated in "the whole Shashti-tantra", he does not include only the purely doctrinal part in the word "the whole of Shashtitantra", but also the Gurupa-rampara which, we have every reason to believe formed the coneluding part of it. It does not seem, therefore, neccessary when such a simple and natural explanation of existence of the seventy Karika is available, to search for a new Karika.

सांख्यकारिका के टीकाकार

ईश्वरकृष्ण की ये कारिकायें संक्षिप्त एवं सार-गर्भित होने के कारण इतनी प्रसिद्ध हुईं कि इन पर एक नहीं, कई विद्वानों ने टीकायें लिखी जिनमें युक्ति-दीपिका, गौडपाद-भाष्य, जयमंगला, तत्त्वकौमुदी इत्यादि प्राचीन तथा नारायण-तीर्थ-कृत सांख्य-चन्द्रिका जैसी अपेक्षा-कृत अर्वाचीन टीकाएं भी हैं। किन्तु इन कारिकाओं की सर्वाधिक प्राचीन टीका शायद वह थी जिसका अनुवाद उज्जयिनी के बौद्ध भिक्षु परमार्थ ने सन् ५५७ से ५६९ ई० के बीच चीनी भाषा में किया था। स्पष्ट है कि यह छठीं शताब्दी के मध्य के पर्याप्त पूर्व लिखी गई रही होगी। इसका लेखक कौन था?—इस प्रश्न के उत्तर के विषय में बड़ा मत-भेद

है। भूतपूर्व डा० तकाकुसु ने बहुत पूर्व लिखा था कि बील के मतानुसार यह टीका-ग्रन्थ गौडपाद-कृत भाष्य ही था। परन्तु बाद में जब उन्होंने इसके चीनी अनुवाद का फ्रांस की भाषा में अनुवाद किया तो उसकी भूमिका में इस प्रश्न पर विशेष विचार करने के बाद वे इस निर्णय पर पहुँचे कि "चीनी अनुवाद गौडपाद-भाष्य का नहीं है, फिर भी दोनों में कुछ सम्बन्ध अवश्य है क्योंकि दोनों के अनेक शब्द, उद्धरण तथा व्याख्यानात्मक दृष्टान्त अनुरूप या समान हैं"।[1] प्रो० बेल्वल्कर चीनी अनुवाद तथा माठर-वृत्ति की तुलना करके इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि माठर-वृत्ति ही चीनी अनुवाद का मूल रूप है[2]। परन्तु लोकमान्य तिलक बहुत पूर्व सन् १९१५ में माठर-वृत्ति की किसी हस्त-लिखित प्रति के कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों का निरीक्षण एवं विचार करने के अनन्तर इस निर्णय पर पहुंचे थे कि माठर-वृत्ति एवं चीनी अनुवाद का मूल (संस्कृत रूप)--दोनों एक नहीं हो सकते[3]। प्रो० कीथ तथा पं० एस्० सूर्यनारायण शास्त्री भी इसी मत के हैं। पं० अय्यास्वामी शास्त्री भी चीनी अनुवाद के स्व-कृत संस्कृत रूपान्तर की भूमिका में उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों की सविस्तर एवं सूक्ष्म तुलना के बाद इसी निर्णय पर पहुँचे हैं। उनके मत में न तो माठर-वृत्ति और न गौडपाद-भाष्य ही चीनी अनुवाद के मूल रूप हैं। ४५० ई० से पूर्व के जैन-ग्रन्थ 'अनुयोगद्वार-सूत्र' में उल्लिखित सांख्य-ग्रन्थ 'माठर' तथा जैन ग्रन्थकार हरिभद्र सूरि द्वारा रचित 'षड्दर्शनसमुच्चय' पर स्व-रचित टीका में गुणरत्न द्वारा उल्लिखित 'माठर-भाष्य' के आधार पर अय्यास्वामी शास्त्री इसी 'माठर' या 'माठर'-भाष्य' को चीनी अनुवाद का मूल रूप मानने के पक्ष में है। अपनी इस मान्यता के लिए उन्होंने प्रबल तर्क प्रस्तुत किये हैं[4]।

अय्यास्वामी शास्त्री के तर्कों से माठर-भाष्य के चीनी अनुवाद का मूल सिद्ध होने के अतिरिक्त डा० तकाकुसु के इस मत का भी खण्डन हो जाता है कि सांख्यकारिका और उसकी टीका, जिसका अनुवाद परमार्थ ने चीनी भाषा में किया, दोनों ही ईश्वरकृष्ण ने ही लिखी थी; क्योंकि किसी भी विषय में एक

---

१. द्रष्टव्य अय्यास्वामी शास्त्री द्वारा लिखित सुवर्णसप्ततिशास्त्र की भूमिका, पृ० ३।

२. द्रष्टव्य Bhandarkar Commemoration volume, पृ० १७१-७४।

३. द्रष्टव्य Sanskrit Research भाग १, पृ० १०८।

४. द्रष्टव्य सुवर्ण-सप्तति-शास्त्र की भूमिका, पृ० ३७-३९।

ही ग्रन्थकार का वैसा मत-वैषम्य कैसे हो सकता है, जैसा सांख्यकारिका और चीनी अनुवाद में पाया जाता है। जैसे पञ्च तन्मात्रों और इन्द्रियों, दोनों की ही उत्पत्ति सांख्यकारिका २२ और २५ मे अहङ्कार से बताई गई हैं, पर चीनी अनुवाद में ३[१] ८[२], १०, १५, १७[३] और ६८ कारिकाओं के व्याख्यान में सारी इन्द्रियाँ पञ्च तन्मात्रों से, और ये पञ्च तन्मात्र स्वयं अहङ्कार से निकले हुए कहे गये है। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध में भी दोनों में मत वैषम्य है। यद्यपि सांख्यकारिका में इसके विषय में स्पष्ट कुछ भी नही कहा गया है,[४] तथापि ३९वीं कारिका को २४वी, २५वीं औए ३८वीं कारिकाओं के साथ मिलाकर पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वरकृष्ण के मत से यह शरीर महत्, अहङ्कार, पञ्च तन्मात्र तथा एकादश इन्द्रियाँ—इन अठारह तत्त्वों का बना होता है, और गौडपाद-भाष्य को छोड़ कर अन्य सभी टीकाओं की भी यही मान्यता है। परन्तु गौडपाद-भाष्य एवं चीनी अनुवाद में इसे महत्, अहङ्कार तथा पञ्च तन्मात्र—इन सात ही तत्त्वों का बना बताया गया है। इस प्रकार शास्त्री जी के मत से वह टीका, जिसका अनुवाद परमार्थ ने ५४६ ई० में चीन जाने के बाद किया, स्वयं ईश्वरकृष्ण की लिखी हुई नहीं हो सकती। चीन और जापान के लेखकों का यह मत है कि सांख्य-कारिका की उपर्युक्त संस्कृत-टीका वसुबन्धु की लिखी हुई है, पर अय्यास्वामी के पूर्वोक्त तर्कों से यह मत भी सही नहीं लगता।

माठर-वृत्ति, जैसा पहले कहा जा चुका है, अय्यास्वामी के अनुसार चीनी व्याख्या के मूल रूप 'माठर-भाष्य' का ही संक्षिप्त रूप है। परन्तु प्रो० बेल्वलकर ने 'भण्डारकर-स्मारक-ग्रन्थ' (पृ० १७२-१८४) में इसे ही परमार्थ के चीनी अनुवाद का पूर्व-रूप सिद्ध किया है। अय्यास्वामी ने अपने सुवर्ण-सप्तति-शास्त्र की भूमिका (पृ० ६०) एवं महामहोपाध्याय, डा० उमेश मिश्र ने आल इण्डिया

१. अहङ्कारो महत उत्पन्न इति विकृतिः, पञ्चतन्मात्राणि जनयतीति प्रकृतिः। पंचतन्मात्राणि अहङ्कारादुत्पन्नानि इति विकृतयः, महाभूतानि इन्द्रियाणि च उत्पादयन्तीति प्रकृतयः।

२. अहङ्कारात् पंचतन्मात्राणि, पंचतन्मात्रेभ्यः षोडश विकारा उत्पद्यन्ते।

३. (प्रधानं) आदौ बुद्धिमुत्पादयति, बुद्धिरहंकारम्, अहङ्कारात्पंचतन्मात्राणि, पंचतन्मात्रेभ्य एकादशेन्द्रियाणि पंचमहाभूतानि चोत्पादयति।

४. अय्यास्वामी शास्त्री का यह कथन प्रौढोक्ति-मात्र अतश्च निस्सार है, क्योंकि ४० वीं कारिका में स्पष्ट ही सूक्ष्म शरीर का वर्णन है।

ओरियण्टल कान्फरेन्स के छठें अधिवेशन में पठित 'गौड-पाद-भाष्य एवं माठर-वृत्ति' नामक अपने लेख मेंइसका समय १००० ई० के आस-पास माना है। डा० जानसन ने भी अपने 'Early Sankhya' नामक ग्रन्थ (पृ० ११) में लगभग यहीं बात कही है।

परन्तु इन समस्त विद्वानों के मत के विरुद्ध पं० उदयवीर शास्त्री माठर-वृत्ति को सांख्य-कारिका की सबसे प्राचीन टीका मानते हैं। इतना ही नहीं, अपितु वे इसे परमार्थ द्वारा चीनी में अनूदित, सांख्य-कारिका की सर्वाधिक प्राचीन व्याख्या से अभिन्न मानते हैं और अय्यास्वामी के उपर्युक्त इस मत का खण्डन करते हैं कि परमार्थ द्वारा अनूदित संस्कृत-व्याख्या 'माठर-वृत्ति' से भिन्न 'माठर-भाष्य' थी। उन्होंने लिखा है कि 'हमारी ऐसी धारणा कि सांख्य-सप्तति के उपलभ्यमान सब ही व्याख्या-ग्रन्थों में माठर की वृत्ति सबसे प्राचीन है।...... सांख्यतत्त्वकौमुदी एक निश्चायक केन्द्र है। इसका काल सर्वसम्मति से निर्णीत है, उसने (अर्थात् वाचस्पति ने) स्वयं भी अपने काल का निर्देश कर दिया है। जयमंगला सांख्यतत्त्वकौमुदी से प्राचीन है। युक्तिदीपिका जयमंगला से प्राचीन है। इसका उपपादन किया जा चुका है। माठरवृत्ति युक्तिदीपिका से भी प्राचीन है'।[1] इसका प्रमुख कारण शास्त्री जी ने यह दिया है कि युक्ति-दीपिका में अनेक स्थानों पर ऐसे मतों का स्मरण किया गया है अथवा उनका खण्डन किया गया है जो माठर-वृत्ति में उपलब्ध हैं। युक्ति-दीपिका के उन पाठों से सहज ही निर्णय किया जा सकेगा कि ये मत माठर से लिये गये हैं। इसके अनन्तर उन्होंने ऐसे पांच स्थलों का सविस्तर निर्देश किया है। दूसरा कारण शास्त्री जी ने यह दिया है कि माठर में ऐसे अर्थसम्बन्धी मत-भेदों का अभाव होने से यह बात सिद्ध है कि माठर का व्याख्या-ग्रन्थ उपलब्ध सभी टीकाओं से प्राचीन है। यह ऐसी बात न होती तो अन्य टीकाओं की भाँति ही उसमें भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतान्तरों के उल्लेख अवश्य ही प्राप्त होते। केवल १८ वीं कारिका के 'जन्ममरणकरणानाम्' के व्याख्यान में माठर ने स्वाभिमत अर्थ देकर उसके विकल्प रूप से एक दूसरा अर्थ 'अपरे पुनरित्थङ्कारं वर्णयन्ति' इत्यादि शब्दों के द्वारा दिया है जिसे माठर के अतिरिक्त अन्य सभी प्राचीन टीकाकारों ने अपनाया है। यदि माठर सबसे प्राचीन टीककार हैं, तो प्रश्न होता है कि उन्होंने 'अपरे' के द्वारा किसके अर्थ का कथन किया है। इससे दो सम्भाव्य समाधान शास्त्री जी ने दिये हैं। प्रथम समाधान तो यह दिया है कि

१. द्रष्टव्य, सांख्य-दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ४०८।

माठर के द्वारा दिया गया यह अर्थ किसी आचार्य-विशेष का न होकर परम्परागत है जो कारिका की रचना के अनन्तर ही प्रचलित हुई पठनपाठन की प्रणाली में प्रचार में आ गया होगा। दूसरा समाधान शास्त्री जी ने यह दिया है कि जयमंगला इत्यादि की रचना के अनन्तर माठर-वृत्ति से किसी प्रतिलिप-लेखक ने हाशिये पर उन शब्दों में इस अर्थ का निर्देश कर दिया होगा, जो कालान्तर में अज्ञानवश ग्रन्थ के ही भाग समझ लिये गये। जहाँ तक भागवत आदि के एकाध उद्धरण के माठर-वृत्ति में प्राप्त होने की बात है, उसे शास्त्री जी प्रक्षिप्त मानते हैं। माठर-वृत्ति में वर्णित मोक्ष की सुखात्मकता, जो सांख्य-विरुद्ध है, का भी वे इसी आधार पर समाधान करते हैं।

सांख्यकारिका की दूसरी प्राचीन टीका गौडपाद-भाष्य है जिसे उदयवीर जी ने ५५० ई० के लगभग माना है। परन्तु इस भाष्य के कर्ता गौडपाद को शास्त्री जी आचार्य शङ्कर के परम गुरु एवं माण्डूक्य-कारिकाओं के प्रसिद्ध रचयिता गौडपादाचार्य से भिन्न समझते हैं। इसका कारण वे यही देते हैं कि गौडपाद-भाष्य की शैली, उसका प्रतिपाद्य विषय आदि प्रसिद्ध गौडपाद की गुरु-गम्भीर अत्यन्त संक्षिप्त शैली एवं गुरुतर-गम्भीरतर दार्शनिक विवेचन से पर्याप्त भिन्न है। गौडपाद-भाष्य में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिससे उसे माण्डूक्य-कारिकाओं के रचयिता गौडपाद की कृति कहा जा सके। वैसे शास्त्री जी का मत सत्य हो सकता है पर उनका तर्क अकाट्य या निश्चयात्मक नहीं कहा जा सकता। यों गौडपाद-भाष्य की भी व्याख्यान-शैली इतनी संक्षेपात्मक है कि यह ग्रन्थ गौडपाद-कृत हो सकता है। जहाँ तक इसके तथा प्रसिद्ध शंकर-गुरु गौडपाद के विचारो के वैषम्य या विरोध का प्रश्न है, उसका समाधान यह हो सकता है कि प्राचीन अनेक आचार्यों ने स्वमत से भिन्न मत का प्रतिपादन करने वाले प्रथित ग्रन्थों की भी टीकायें की है। उसमें कोई विरोध नहीं दिखता।

सांख्यकारिका की प्राचीन टीकाओं में 'जयमंगला' भी एक है। यह शंकराचार्य के नाम से प्रचलित है। परन्तु इसका जो संस्करण बहुत पूर्व काशी से निकला था, उसकी भूमिका में महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज ने स्पष्ट किया है कि यह भाष्यकार शंकराचार्य की लिखी टीका नहीं हो सकती। इसका कर्त्ता शंकरार्य नामक कोई बौद्ध भिक्षु था। ५१ वीं कारिका में आई हुई अष्ट सिद्धियों का स्वाभिमत व्याख्यान देकर तत्त्वकौमुदीकार ने 'अन्ये व्याचक्षते' इत्यादि शब्दों द्वारा अपने पूर्ववर्ती किसी व्याख्याता के मत का उल्लेख किया है।

महामहोपाध्याय डा० हरदत्त शर्मा का कथन[1] है कि यह मत जयमङ्गलाकार का है। यदि यह सत्य है तो जयमङ्गलाकार का समय वाचस्पति मिश्र के समय अर्थात् नवम शताब्दी से पहले का होगा। वैसे गौडपाद-भाष्य में भी अष्ट सिद्धियों का इसी प्रकार का व्याख्यान मिलता है और हो न हो, वाचस्पति मिश्र ने उपयुक्त स्थल में गौडपाद का ही मत दिया हो। यदि वह सम्भावना सत्य भी हो तो भी अन्य अनेक स्थलों में वाचस्पति द्वारा जयमङ्गला का अनुसरण किये जाने से जयमङ्गलाकार का समय निस्सन्देह वाचस्पति से पूर्व का सिद्ध होता है।

सांख्यकारिका की दो और टीकायें भी हैं जो अपेक्षाकृत बहुत अर्वाचीन हैं। एक तो है मुडुम्ब नरसिंह स्वामिन् की 'सांख्यतत्त्ववसन्त' नामक टीका और दूसरी है नारायण तीर्थ की सांख्यचन्द्रिका'। दोनों का ही समय बहुत बाद का है। नारायण तीर्थ मधुसूदन सरस्वती के बाद के होने के कारण सत्रहवीं के उत्तरार्ध तथा अठारवीं के प्रथम बाद के होंगे। सांख्यचन्द्रिका भी संक्षिप्त टीका है। यद्यपि यह बहुत बाद की रचना है, तथापि माठर-वृत्ति की भाँति इसमें सांख्य के साथ वेदान्त का सम्मिश्रण प्रायः नहीं मिलता। हाँ, मुख्यतः वेदान्ती विचार-धारा के पोषक होने के कारण नारायण तीर्थ ने यत्र-तत्र सांख्य-सिद्धान्तों के प्रतिपादन में वेदान्त का प्रमाण अवश्य दिया है। जैसे ६३ वीं कारिका की द्वितीय पंक्ति—सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण—के व्याख्यान में पुरुषार्थ को 'स्वरूपावस्थानलक्षणं मोक्षम्' भर ही कहा है, स्वरूप में माठर-वृत्ति की भाँति चित् के साथ आनन्द का समन्वय करके उसे वेदान्ती मोक्ष का स्वरूप नहीं दिया है। परन्तु आगे 'एक रूपेण' का व्याख्यान करते हुए 'एकेन रूपेण ज्ञानेन मोचयति संसारान्निवर्तयति; एतेन वैराग्योपरत्याद्यभावेऽपि ज्ञानं मोक्षस्य कारणं भवत्येवेति ज्ञापितम्, उक्तं च तथा वेदान्तेषु—पूर्णबोधे तदन्यौ द्वौ प्रतिबद्धो यदा तदा। मोक्षो विनिश्चितः किन्तु दृष्ट-दुःखं न नश्यति ॥' इत्यादि लिखा है। वेदान्त के विद्यार्थी को स्पष्ट ही ज्ञात होगा कि यह विषय पंचदशी इत्यादि में सविस्तर प्रतिपादित है। पर वेदान्त से भी बढ़कर इसमें योगशास्त्र के प्रमाण मिलते हैं। सारी टीका इस शास्त्र के उदाहरणों से भरी है। इसका मुख्य कारण तो यह है कि सांख्य का व्यावहारिक पक्ष योग ही

---

१. द्रष्टव्य 'Jayamangala and other commentaries on the Sankhya-Karikas' in Indian Historical Quarterly. Vol. V, P. 429

है, बिना यौगिक क्रियाओं के सांख्य के सत्यों का अनुभव नहीं किया जा सकता। अतः दोनों में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण सांख्य के ग्रन्थ में योग के उद्धरणों का प्राप्त होना स्वाभाविक है। पर इतनी अधिक मात्रा में प्राप्त होने का कारण यह भी है कि नारायण तीर्थ स्वयं योगी थे। अतः उनका दृष्टिकोण सर्वत्र एक योगी का ही रहा है।

सांख्य-कारिका की उपर्युक्त सभी टीकायें अपना कुछ न कुछ वैशिष्ट्य रखती हैं। परन्तु वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी टीका इन सबसे बढ़कर है। इतनी पाडित्य-पूर्ण तथा गम्भीर टीका और कोई नहीं है। अन्तिम कारिका की टीका में वाचस्पति मिश्र ने सांख्यकारिका को षष्टितन्त्र के सारे विषयों का प्रतिपादक होने के कारण 'शास्त्र' कहा और किसी 'शास्त्र' ग्रन्थ का जैसा गुरु-गम्भीर विवेचन होना चाहिये, इनकी तत्त्वकौमुदी में वैसा ही शास्त्रीय विवेचन मिलता है। इस टीका में प्रवेश पाने का न तो सहसा साहस ही होता है और न सहसा प्रवेश मिलता ही है। इसकी इस दुरूहता का कारण जहाँ एक ओर वाचस्पति मिश्र का अगाध आचार्यत्व है, वहाँ दूसरी ओर उनकी नैयायिक-शैली भी है जो लिङ्ग एवं व्याप्ति-ज्ञान का ही विशेष आश्रय लेती है। साथ ही ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं की सूत्रात्मक सूक्ष्मता भी इसमें कम हेतु नहीं है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र समस्त दर्शन-शास्त्रों में निष्णात थे, इसलिए भारतीय पण्डित-समाज उन्हें 'द्वादश-दर्शन-कानन-पंचानन' कहकर उनके प्रति अपना असीम श्रद्धाभाव एवं समादर प्रकट करता है। उनकी जैसी अप्रतिहत गति शाङ्कर वेदान्त में थी जिसके वे मानने वाले थे और जिसके दो प्रस्थानों में से 'भामती-प्रस्थान' के वे प्रवर्तक थे, वैसी ही गति न्याय-वैशेषिक और सांख्य-योग में भी थी। ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य पर लिखी हुई भामती यदि आज भी उनकी मौलिक प्रतिभा का प्रतीक बनी हुई है, तो न्याय के तात्पर्य का उद्घाटन करने वाली न्याय-वार्तिक-तात्पर्य-टीका भी आद्यावधि उनकी अक्षय कीर्ति की सुदृढ़ स्तम्भ बनी है, और उनकी सांख्य-कारिकाओं की टीका **तत्त्वकौमुदी** तथा योगभाष्य की टीका **तत्त्ववैशारदी** भी किसी प्रकार से कम महत्त्व की नहीं है। इतने विविध शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित होते हुये भी उन्होंने जिस समय जिस शास्त्र का व्याख्यान करना आरम्भ किया है, उस समय उसी के रहस्यों को खोलने और गुत्थियों को सुलझाने की पूर्ण निष्ठा और तत्परता के साथ चेष्टा की है। इतर शास्त्रों की विरोधी और बेमेल बातें

उठाकर वे किसी शास्त्र-विशेष में श्रद्धा रखने वाले पाठक की बुद्धि को उद्भ्रान्त नहीं करते। न्याय में सांख्य एवं सांख्य में वेदान्त के उच्चतर सिद्धान्तों को उठाकर प्रस्तुत शास्त्र के सिद्धान्तों की ही हीनता नहीं प्रकट करते।

सांख्य-कारिका में अनेक ऐसे स्थल आये हैं, जहाँ आचार्य वाचस्पति का स्पष्ट मत-भेद रहा होगा; पर उन्होंने बिना किसी भी प्रकार की टीका-टिप्पणी किए उसके प्रतिपाद्य विषय का बड़ी सत्यता के साथ विवेचन किया है। उनकी यह विशेषता पाठकों के हृदय को उनके प्रति श्रद्धा से आवर्जित कर देती है। उदाहरणार्थ, सत्कार्यवाद का प्रतिपादन करने वाली नवम कारिका के व्याख्यान में जहाँ वेदान्त के मायावाद का प्रसङ्ग आया है, वहाँ अपने सिद्धान्त का मोह छोड़कर 'प्रपञ्चप्रत्ययश्चासति बाधके न शक्यो मिथ्येति वदितुम्' ऐसा लिखकर उसका खण्डन ही किया है, ताकि सांख्य के विद्यार्थी की उसके सत्कार्यवाद अर्थात् 'प्रकृति का जगत् रूप कार्य सत् ही है, असत् नहीं क्योंकि असत् की उत्पत्ति शश-शृङ्ग की भाँति असम्भव है'—इस सिद्धान्त में श्रद्धा हो सके। इसी प्रकार अठारहवीं कारिका में पुरुष का बहुत्व सिद्ध करने के लिए दिए गए तर्क सदोष प्रतीत होते हैं। यदि आचार्य वाचस्पति मिश्र चाहते तो वे इनकी कटु आलोचना कर सकते थे। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया है, अपितु गम्भीरता पूर्वक उसका विवेचन प्रस्तुत किया है। ये तर्क सदोष या यथार्थ इसलिये हैं कि जिस 'पुरुष' का वास्तविक अनेकता सिद्ध करने के लिए तर्क दिए गए हैं, वह तो परमार्थतः असंग, उदासीन और अव्यवहार्य है, और जो तर्क दिए गये, वे सामान्य या व्यावहारिक जीवन के हैं। वस्तुतः कभी भी जन्म और मरण न प्राप्त करने वाला 'पुरुष' जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्' (अर्थात् सभी पुरुष एक साथ जन्म एवं मरण न प्राप्त करने के कारण एक हो नहीं सकते, एक ही होते तो एक साथ ही जन्म लेते और मरते) इत्यादि तर्कों के आधार पर अनेक कैसे कहा जा सकता है। इसी प्रकार पुरुष के मोक्ष के लिए स्वतः प्रवृत्त होने वाली अचेतन प्रकृति के लिए ५७वीं कारिका में दिया गया 'वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य' इत्यादि दृष्टान्त कुछ संगत नहीं प्रतीत होता। पर इसके विरुद्ध कुछ कहने के स्थान में आचार्य ने ईश्वरवाद की ही बड़ी मीठी चुटकी[१] ली है।

पर जहाँ आचार्य वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी में उपर्युक्त गुण हैं वहाँ कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि उनकी सांख्य और योग की टीकायें उन

---

१. द्रष्टव्य का० ५७ की तत्त्वकौमुदी का द्वितीय पैरा।

है, बिना यौगिक क्रियाओं के सांख्य के सत्यों का अनुभव नहीं किया जा सकता। अतः दोनों में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण सांख्य के ग्रन्थ में योग के उद्धरणों का प्राप्त होना स्वाभाविक है। पर इतनी अधिक मात्रा में प्राप्त होने का कारण यह भी है कि नारायण तीर्थ स्वयं योगी थे। अतः उनका दृष्टिकोण सर्वत्र एक योगी का ही रहा है।

सांख्य-कारिका की उपर्युक्त सभी टीकायें अपना कुछ न कुछ वैशिष्ट्य रखती है। परन्तु वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी टीका इन सबसे बढ़कर है। इतनी पाडित्य-पूर्ण तथा गम्भीर टीका और कोई नहीं है। अन्तिम कारिका की टीका में वाचस्पति मिश्र ने सांख्यकारिका को षष्टितन्त्र के सारे विषयों का प्रतिपादक होने के कारण 'शास्त्र' कहा और किसी 'शास्त्र' ग्रन्थ का जैसा गुरु-गम्भीर विवेचन होना चाहिये, इनकी तत्त्वकौमुदी में वैसा ही शास्त्रीय विवेचन मिलता है। इस टीका में प्रवेश पाने का न तो सहसा साहस ही होता है और न सहसा प्रवेश मिलता ही है। इसकी इस दुरूहता का कारण जहाँ एक ओर वाचस्पति मिश्र का अगाध आचार्यत्व है, वहाँ दूसरी ओर उनकी नैयायिक-शैली भी है जो लिङ्ग एवं व्याप्ति-ज्ञान का ही विशेष आश्रय लेती है। साथ ही ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं की सूत्रात्मक सूक्ष्मता भी इसमें कम हेतु नही है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र समस्त दर्शन-शास्त्रों में निष्णात थे, इसलिए भारतीय पण्डित-समाज उन्हें 'द्वादश-दर्शन-कानन-पंचानन' कहकर उनके प्रति अपना असीम श्रद्धाभाव एवं समादर प्रकट करता है। उनकी जैसी अप्रतिहत गति शाङ्कर वेदान्त में थी जिसके वे मानने वाले थे और जिसके दो प्रस्थानों में से 'भामती-प्रस्थान' के वे प्रवर्तक थे, वैसी ही गति न्याय-वैशेषिक और सांख्य-योग में भी थी। ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य पर लिखी हुई भामती यदि आज भी उनकी मौलिक प्रतिभा का प्रतीक बनी हुई है, तो न्याय के तात्पर्य का उद्‌घाटन करने वाली न्याय-वार्तिक-तात्पर्य-टीका भी आद्यावधि उनकी अक्षय कीर्ति की सुदृढ़ स्तम्भ बनी है, और उनकी सांख्य-कारिकाओं की टीका **तत्त्वकौमुदी** तथा योगभाष्य की टीका **तत्त्ववैशारदी** भी किसी प्रकार से कम महत्त्व की नहीं है। इतने विविध शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित होते हुये भी उन्होंने जिस समय जिस शास्त्र का व्याख्यान करना आरम्भ किया है, उस समय उसी के रहस्यों को खोलने और गुत्थियों को सुलझाने की पूर्ण निष्ठा और तत्परता के साथ चेष्टा की है। इतर शास्त्रों की विरोधी और बेमेल बातें

उठाकर वे किसी शास्त्र-विशेष में श्रद्धा रखने वाले पाठक की बुद्धि को उद्भ्रान्त नहीं करते। न्याय में सांख्य एवं सांख्य में वेदान्त के उच्चतर सिद्धान्तों को उठाकर प्रस्तुत शास्त्र के सिद्धान्तों की ही हीनता नहीं प्रकट करते।

सांख्य-कारिका में अनेक ऐसे स्थल आये हैं, जहाँ आचार्य वाचस्पति का स्पष्ट मत-भेद रहा होगा; पर उन्होंने बिना किसी भी प्रकार की टीका-टिप्पणी किए उसके प्रतिपाद्य विषय का बड़ी सत्यता के साथ विवेचन किया है। उनकी यह विशेषता पाठकों के हृदय को उनके प्रति श्रद्धा से आवर्जित कर देती है। उदाहरणार्थ, सत्कार्यवाद का प्रतिपादन करने वाली नवम कारिका के व्याख्यान में जहाँ वेदान्त के मायावाद का प्रसङ्ग आया है, वहाँ अपने सिद्धान्त का मोह छोड़कर 'प्रपञ्चप्रत्ययश्चासति बाधके न शक्यो मिथ्येति वदितुम्' ऐसा लिखकर उसका खण्डन ही किया है, ताकि सांख्य के विद्यार्थी की उसके सत्कार्यवाद अर्थात् 'प्रकृति का जगत् रूप कार्य सत् ही है, असत् नहीं क्योंकि असत् की उत्पत्ति शश-शृङ्ग की भाँति असम्भव है'—इस सिद्धान्त में श्रद्धा हो सके। इसी प्रकार अठारहवीं कारिका में पुरुष का बहुत्व सिद्ध करने के लिए दिए गए तर्क सदोष प्रतीत होते हैं। यदि आचार्य वाचस्पति मिश्र चाहते तो वे इनकी कटु आलोचना कर सकते थे। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया है, अपितु गम्भीरता पूर्वक उसका विवेचन प्रस्तुत किया है। ये तर्क सदोष या यथार्थ इसलिये हैं कि जिस 'पुरुष' का वास्तविक अनेकता सिद्ध करने के लिए तर्क दिए गए हैं, वह तो परमार्थतः असंग, उदासीन और अव्यवहार्य है, और जो तर्क दिए गये, वे सामान्य या व्यावहारिक जीवन के हैं। वस्तुतः कभी भी जन्म और मरण न प्राप्त करने वाला 'पुरुष' जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्' (अर्थात् सभी पुरुष एक साथ जन्म एवं मरण न प्राप्त करने के कारण एक हो नहीं सकते, एक ही होते तो एक साथ ही जन्म लेते और मरते) इत्यादि तर्कों के आधार पर अनेक कैसे कहा जा सकता है। इसी प्रकार पुरुष के मोक्ष के लिए स्वतः प्रवृत्त होने वाली अचेतन प्रकृति के लिए ५७वीं कारिका में दिया गया 'वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य' इत्यादि दृष्टान्त कुछ संगत नहीं प्रतीत होता। पर इसके विरुद्ध कुछ कहने के स्थान में आचार्य ने ईश्वरवाद की ही बड़ी मीठी चुटकी[1] ली है।

पर जहाँ आचार्य वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी में उपर्युक्त गुण हैं वहाँ कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि उनकी सांख्य और योग की टीकायें उन

१. द्रष्टव्य का० ५७ की तत्त्वकौमुदी का द्वितीय पैरा।

शास्त्रों के रहस्यों को पूर्णतः उद्घाटित करने की दृष्टि से बहुत सफल नहीं कही जा सकती। उनका कथन है कि वाचस्पति मिश्र प्रकाण्ड आचार्य अवश्य थे परन्तु योगी नहीं थे और बिना स्वयं योगी हुए योग के द्वारा प्रत्यक्षीकृत सत्यों तथा रहस्यों का उद्घाटन दुष्कर है। इसीलिए छठीं कारिका जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि किस प्रमेय का ज्ञान किस प्रमाण से होता है का उनका व्याख्यान ठीक नहीं है। उन्होंने समान्यतोदृष्ट अनुमान से प्रधान और पुरुष का ज्ञान तथा उससे भी प्रतीत न होने वाले स्वर्ग, देवता इत्यादि का ज्ञान आगम प्रमाण से बताया है। वस्तुतः इस कारिका का अर्थ यह है कि सर्वसामान्य वस्तुओं का ज्ञान 'दृष्ट' अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से, प्रकृति तथा पुरुष जैसे अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान अनुमान से तथा अतीन्द्रिय 'कैवल्य' का ज्ञान आगम प्रमाण से होता है[1]। नारायण तीर्थ ने 'सामान्यतस्तु दृष्टात्' इत्यादि प्रथम पंक्ति का यही अर्थ किया है, परन्तु 'तस्मादपि चासिद्धम् परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्' इस द्वितीय पंक्ति का वैसा ही अर्थ[2] किया है, जैसा वाचस्पति मिश्र ने। गौडपाद-कृत अर्थ[3] तो सर्वथा आचार्य वाचस्पति मिश्र का ही अर्थ है। ऐसी स्थिति में कौन सा अर्थ कारिकाकार का अभिप्रेत अर्थ है—यह कहना यद्यपि कठिन है, तथापि द्वितीय अर्थ के पक्ष में इतना अवश्य वक्तव्य है कि सांख्य-शास्त्र प्रमाण-प्रधान नहीं, प्रमेय-प्रधान है और इसके प्रमुख प्रमेय 'प्रकृति' एवं 'पुरुष', तथा इनका अन्तिम लक्ष्य इन दोनों के विवेक-ज्ञान से प्राप्तव्य 'कैवल्य' ही है। अतः इसमें जो महत्त्व इनका है, वह याग, स्वर्ग, देवता इत्यादि का नहीं है।[4] ऐसी स्थिति में अधिक स्वाभाविक यही है कि प्रमाणों का प्रमेयों में यथा-योग्य उपयोग बताने वाली सांख्यकारिका में कैवल्य-विषयक प्रमाण का कथन अवश्य हो,

---

१. इस अर्थ के लिए मैं पूज्य पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय जी का ऋणी हूँ। उनसे ज्ञात हुआ कि पं० गोपीनाथ जी कविराज इसी को ठीक मानते थे।

२. तस्मादपि (अनुमानादपि) परोक्षमतीन्द्रियं यागस्वर्गसाधनत्वादि, आप्तागमात् शब्दप्रमाणादित्यर्थः। —का० ६ की सांख्यचन्द्रिका।

३. सामान्यतोदृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणां....सिद्धिः। प्रधानपुरुषावतीन्द्रियौ सामान्यतोदृष्टानुमानेन साध्येते। तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्, यथेन्द्रो देवराज उत्तराः कुरवः स्वर्गोऽप्सरस इति परोक्षमाप्तवचनात् सिद्धम्॥—का० ६ का गौडपाद-भाष्य॥

४. द्रष्टव्य, प्रस्तुत भूमिका में पूर्व आया हुआ पञ्चशिख का विवरण।

चाहे याग, स्वर्ग और देवता इत्यादि गौण विषयों में प्रवृत्त होने वाले प्रमाण का कथन हो या न हो। इस दृष्टि से तो द्वितीय अर्थ ही अधिक संगत लगता है।

इसी प्रकार पुरुष-बहुत्व को सिद्ध करने वाले तर्कों की प्रतिपादक अठारहवीं कारिका के अर्थ में वाचस्पति मिश्र ने कोई विशेष मौलिकता नहीं दिखाई है, यद्यपि इसके लिये अवकाश था; क्योंकि जैसा थोड़ा पहले कहा जा चुका है, कारिकाकार के तर्क 'पुरुष-बहुत्व' को सिद्ध नहीं कर पाते और उनकी इस त्रुटि को वाचस्पति मिश्र ने अवश्य अनुभव किया होगा। पर इसके लिए उन्होंने कोई दृढ़तर तर्क नहीं दिया, यद्यपि दृढ़तर तर्क दिए जा सकते थे। इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में होने वाले सांख्य और योग के परम विद्वान् एवं योगी हरिहरानन्द आरण्यक ने अपने 'सांख्य-तत्त्वालोक' में इस विषय पर सुदृढ़ एवं मौलिक तर्क प्रस्तुत किया है।[1]

इससे तत्त्वकौमुदी का मूल्य कम नहीं किया जा सकता, यह निर्विवाद है। आधुनिक काल में इस पर अनेक टीकायें लिखी जा चुकी हैं, जिसमें स्वामी बालराम उदासीन की **विद्वत्तोषिणी**, पंडितसम्राट् बंशीधर मिश्र की बृहत् टीका **सांख्य - तत्त्व - दिवाकर**, श्री कृष्णवल्लभाचार्य की **किरणावली**, शिवनारायण शास्त्री की **सारबोधिनी**, तथा पं० हरीराम शुक्ल की सुषमा अधिक प्रसिद्ध है।

सांख्य-शास्त्र के कुछ प्रमुख सिद्धान्त

१. प्रमाण

सांख्य शास्त्र मुख्यतः प्रमेय शास्त्र है, प्रमाण-शास्त्र नहीं, यह पहले कह चुके हैं। परन्तु प्रमेयों की सिद्धि प्रमाण से ही होने के कारण इसकी आवश्यकता सांख्य-शास्त्र को भी है ही। अतः प्रमेयों पर सविस्तर विचार करने के पूर्व प्रमाणों पर भी कुछ गहराई में जा कर विचार कर लेना सर्वथा उचित ही होगा। ये प्रमाण तीन हैं—दृष्ट (प्रत्यक्ष), अनुमान और आप्तवचन (आगम)। अन्य मतों में माने जाने वाले इनके अतिरिक्त अन्य सभी प्रमाणों का सांख्य के अनुसार इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। 'प्रमाण' सामान्यतः प्रमा अर्थात् यथार्थ-ज्ञान के मुख्य साधन को कहते हैं। तत्त्वकौमुदी के शब्दों में 'यह मुख्य साधन वह चित्तवृत्ति है, जिसका विषय निश्चित रूप से ज्ञात हो रहा हो, बाधित होने वाला न हो तथा पूर्व से ज्ञात न रहा हो। ऐसी चित्तवृत्ति से उत्पन्न, अत-

---

१. द्रष्टव्य, सांख्यतत्त्वालोक, पृ० ३, ४।

एव उसका फलभूत पुरुषवर्ती[1] बोध[2] प्रमा है। इसी के साधन को प्रमाण कहते हैं। इस कथन में संशय, भ्रम तथा स्मृति के साधनों में प्रमाण की प्रसक्ति नहीं हो सकती अर्थात् इन सबके साधन प्रमाण नहीं हो सकते'।[3] परन्तु सांख्य-तत्त्वकौमुदी के प्रसिद्ध टीकाकार राजेश्वर शास्त्री, बालराम, श्रीकृष्ण वल्लभाचार्य तथा शिवनारायण शास्त्री इत्यादि 'असन्दिग्धा...प्रमाणमिति' पाठ मानते हैं। इसके अनुसार सांख्य शास्त्र में कोई अर्थ केवल प्रमाण ही होता है, जैसे चक्षुरिन्द्रिय इत्यादि। कोई प्रमा और प्रमाण दोनों ही होता है, जैसे चित्तवृत्ति; यह सन्निकृष्ट चक्षु इत्यादि इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण प्रमा भी है तथा पौरुषेय बोध का करण—मुख्य कारण—होने से प्रमाण भी है। कोई केवल प्रमा होता है, जैसे पौरुषेय बोध। कोई केवल प्रमाता ही है, जैसे बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य जिसे व्यवहार में 'जीव' कहते हैं। इस प्रकार चित्त-वृत्ति तथा उसके द्वारा उत्पन्न पौरुषेय बोध दोनों ही प्रमा हैं। इनमें से प्रथम का पर्यवसान दूसरे प्रकार की प्रमा में होता है। अतः उसका फल होने के कारण दूसरी ही मुख्य प्रमा है। प्रमा का साधन होने के कारण प्रमाण भी द्विविध होगा। एक प्रमाण तो (१) चित्त-वृत्ति का मुख्य साधन होने के कारण अर्थ-सन्निकृष्ट चक्षु इत्यादि इन्द्रियाँ हैं और दूसरा प्रमाण (२) पौरुषेय बोध का साधन होने के कारण यह चित्त-वृत्ति ही है। नीचे फुटनोट १ में उद्धृत तत्त्व कौमुदी की राजेश्वरशास्त्री-कृत टिप्पणी राजनारायणशास्त्री-कृत सारबोधिनी, बालरामकृत-विद्वत्तोषिणी[4] तथा श्रीकृष्णवल्लभाचार्य-कृत किरणा-

१. पौरुषेयो बोध इत्यनेन न बोधस्य पुरुषनिष्ठत्वामाख्यायते येन प्रमातृत्वादिधर्मेण पुरुषस्य परिणामित्वं स्यादपितु बुद्धौ प्रतिबिम्बितत्वेन तत्तादात्म्यापत्त्या पुरुषस्य ज्ञानादिमत्त्वोपचारात् पौरुषेय इत्यभिधीयते, एवं च चितिचित्तयोरभेदग्रहात् पुरुष उपचर्यमाणोऽपि वस्तुतो बुद्धिवृत्त्यात्मक एव बोधो, न पुरुषधर्म इति विद्वत्तोषिणीकाराः।

२. नैयायिकानामनुव्यवसायो, घटज्ञाने 'घटमहं जानामि' इति पुरुषगतः।
—डा० झा

३. द्रष्टव्य का० ४ पर सांख्य-तत्त्वकौमुदी :—तच्च असन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः। बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणमिति। एतेन संशयविपर्ययस्मृतिसाधनेष्वप्रसङ्गः।

४. एवं प्रमां लक्षयित्वा प्रमाणं लक्षयति—तत्साधनं प्रमाणमिति। तस्याः चित्तवृत्तेर्यत्साधनं सन्निकर्षरूपव्यापारवच्चक्षुरादि, यच्च पौरुषेयबोधकरणं चित्तवृत्तिरूपं तदुभयमपि प्रमाणमित्यर्थः।—विद्वत्तोषिणीकाराः।

वली[1] में प्रस्तुत व्याख्यायें इसी अभिप्राय (द्विविध-प्रमा) को दृष्टि में रखकर की गई हैं। परन्तु यह अर्थ संगत इसलिए नहीं जान पड़ता क्योंकि अगली कारिका के व्याख्यान में स्वयं वाचस्पति मिश्र भी एक ही प्रमाण (चित्तवृत्ति-रूप) तथा एक ही प्रमा मानते हुए प्रतीत होते हैं। फिर इन्द्रियों को प्रमाण मानने पर न्याय से सांख्य का क्या भेद रह जायेगा ? सांख्य तो प्रत्यक्ष प्रमा में इन्द्रियों की उतनी ही आवश्यकता मानता है, जितनी जलाशयस्थ जल के खेत पहुँचने में प्रणालिका (नाली) की होती है। तब फिर इन्द्रियाँ प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमा का करण या मुख्य साधन कैसे हो सकती हैं ? स्वयं उदासीन जी के द्वारा कारिका के अन्तर्गत किया गया विषयोपन्यास[2] उपर्युक्त के साथ विरोध उपस्थित करता है।

ओ० बु० एजेन्सी पूना से डा० गङ्गानाथ झा के अनुवाद के सहित प्रकाशित संस्करण में 'तच्च असंदिग्ध.........' ही पाठ है और इसी के अनुसार डा० झा का अनुवाद भी है। सांख्यतत्त्वदिवाकर में पं० वंशीधर ने भी यही पाठ रक्खा है। इस पाठ के अनुसार 'तत्' पद के द्वारा पूर्व प्रयुक्त 'प्रमाण' का परामर्श होता है, जैसा कि वंशीधर में 'तच्च' के 'प्रमाणं च' अर्थ से स्पष्ट है।

यह कहने की आवश्यकता न होगी कि इस पाठ के अनुसार एक ही प्रमाण तथा एक ही प्रमा सांख्य को इष्ट ज्ञात होती है। यद्यपि 'द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः।.....' इत्यादि सांख्य-सूत्र से प्रमा और उसके साधन द्विविध ज्ञात होते हैं, तथापि पांचवी कारिका तथा उसके वाचस्पतिमिश्र-कृत व्याख्यान

---

१. इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यायाः एतादृशचित्तवृत्तेः प्रमात्वे इन्द्रियाणि प्रत्यक्षं प्रमाणमिति बोध्यम्। एवम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यां चित्तवृत्त्यात्मिकाम् अमुख्यां पुरुषवर्ती बोधः—बुद्धिधर्मोपि बोधः स्वाश्रयप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन पुरुषे उपचर्यमाणः—सा मुख्या प्रमेत्यर्थः। एतादृशबोधस्य प्रमात्वे चित्तवृत्तिः प्रमाणमिति बोध्यम्। एवं प्रमां लक्षयित्वा प्रमाणं लक्षयति—तत्साधनं प्रमाणमिति। तस्याश्चित्तवृत्तेः यत् साधनं पदार्थेन सह सन्निकृष्टं चक्षुरादि, एवं तस्य पौरुषेयबोधस्य यत् साधनं चित्तवृत्तिः, तदुभयमपि प्रमाणम्।

—किरणावली

२. इन्द्रियसन्निकर्षादिना जायमानोऽयं घट इत्यादिबोद्धो बोधः प्रमाणम् तदनुरूपं जायमानो घटमहं जानामीत्यादिपौरुषेयो बोधश्च प्रमेति भावः।

—का० ५ पर विद्वत्तोषिणी

से तो चित्तवृत्ति ही एकमात्र प्रमाण तथा पुरुष-गत बोध ही एकमात्र प्रमा ज्ञात होती है। मूल के 'चित्तवृत्तिः' पर टीका करते हुए वंशीधर ने लिखा है—'सिद्धान्ते चक्षुरादेः करणत्वाभावादाह-चित्तवृत्तिरिति । तत्साधनं प्रमाणम् इत्यत्रान्वेति' ॥

राजेश्वर शास्त्री द्राविड ने अपनी टिप्पणी में इस विषय पर व्याख्यान प्रस्तुत करते समय इस प्रकार लिखा है :—

"चैतन्यप्रतिबिम्बविशिष्टबुद्धिवृत्तिः वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यं वा फलपदार्थः, स एव मुख्यप्रमाशब्दवाच्यः । एतादृशप्रमाकरणत्वेन बुद्धि वृत्तेः प्रमाणत्वं व्यपदिश्यते, तत्करणत्वेन च इन्द्रियादीन्यपि प्रमाणशब्दवाच्यानि भवन्ति । तथा च एतन्मते प्रमा प्रमाणं च द्विविधम् । अतः 'अयं घटः' इत्याद्याकारिका अन्तःकरणावृत्तिः प्रमाणम् 'घटमहं जानामी' त्याद्यनुव्यवसायः पुरुषे बुद्धिवृत्तिप्रतिबिम्बरूपः पौरुषेयो बोधः इति यत्तु केषाञ्चित्तु व्याख्यानं तन्निरस्तम् ।" उनका यह कथन कितना अर्थवान् है, यह पूर्व किए गये प्रतिपादन से ही स्पष्ट है ।

अब जहाँ तक प्रत्यक्ष इत्यादि विशिष्ट प्रमाणों के लक्षण का प्रश्न है, उसका समाधान सांख्यकारिकाकार ने अपने ग्रन्थ की पाँचवीं कारिका[1] में किया है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार प्रत्यक्ष के लक्षण में आये हुये 'प्रतिविषय' पद का अर्थ है—विषय से सम्बद्ध इन्द्रिय । 'प्रतिविषयाध्यवसाय' का अर्थ है—विषय से संयुक्त इन्द्रिय पर आश्रित निश्चयात्मक ज्ञान । 'अध्यवसाय' ज्ञान को कहते हैं जो बुद्धि[2] का व्यापार या परिणाम है । यह इन्द्रियों का व्यापार नहीं, यद्यपि इन्द्रियों के व्यापार से ही बुद्धि का व्यापार सम्भव है। वस्तुतः सन्निहित विषय वाली इन्द्रियों का (उन विषयों के साथ) सन्निकर्ष होने पर बुद्धिगत तमोगुण के अभिभूत या न्यून होने के साथ-साथ सत्त्व गुण की जो प्रबलता या अधिकता होती है उसी को अध्यवसाय, वृत्ति या ज्ञान कहते हैं। यही वह (प्रत्यक्ष) प्रमाण है। इसी (विषयाकार रूप में परिणत) प्रमाणभूत बुद्धितत्त्व के द्वारा स्व-प्रतिबिम्बित चेतन पुरुष पर होने वाला (स्व-गृहीत विषयों

---

१. प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं, त्रिविधमनुमानख्यातम् ।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥

२. अध्यवसायपदाभिधेयं ज्ञानं च बुद्धेरेव व्यापारो, नेन्द्रियधर्मं इत्यर्थः ।
—विद्वत्तो०

का समर्पण-रूप[1]) अनुग्रह प्रत्यक्ष प्रमाण का फल है। यही प्रमा या (पुरुषगत) ज्ञान भी कहलाता है[2]।

न्याय में प्रत्यक्ष प्रमाण और प्रत्यक्ष प्रमा त्रिविध होती है। इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तथा निर्विकल्पक प्रमा ये त्रिविध प्रमाण हैं तथा निर्विकल्पक प्रमा, सविकल्पक प्रमा एवं हानोपादान-बुद्धि—ये तीन प्रमा हैं। सांख्य के अनुसार सभी प्रमाण केवल बोध-रूप या ज्ञान-रूप हैं और यह ज्ञान-विषयाकार परिणाम के स्वरूप का होने के कारण एकमात्र बुद्धि का ही धर्म है, इन्द्रिय इत्यादि का नहीं। विशेषता इतनी ही होती है कि इन्द्रिय-सन्निकर्ष द्वारा बुद्धिगत तमोगुण का अभिभव होने के साथ ही सत्त्व-प्राबल्य होने पर बुद्धि का विषयाकार परिणाम 'प्रत्यक्ष' व्याप्ति-ज्ञान से उत्पन्न हुआ बुद्धि का (ततोऽयं पर्वतो वह्निमान्'—एतादृश) विषयाकार परिणाम 'अनुमान', तथा वाक्य से उत्पन्न हुआ बुद्धि का विषयाकार परिणाम 'आगम' प्रमाण कहलाता है। प्रत्यक्ष में आया हुआ इन्द्रिय-सन्निकर्ष भी न्याय का संयोग इत्यादि सन्निकर्ष नहीं, अपितु इन्द्रियों की सहकारिता-मात्र है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि बुद्धि के विषयाकार रूप में परिणत होने में इन्द्रियों का जो साहाय्य-विशेष आवश्यक होता है, वही सन्निकर्ष है। यह सहायता उतनी और वैसी ही है, जितनी और जैसी अनेक छिद्रों से युक्त घट में स्थित दीप के प्रकाश को बाहर निकलकर फैलने तथा उपस्थित पदार्थों को प्रकाशित करने में छिद्रों द्वारा प्राप्त होती है[3], अथवा जलाशयस्थ सलिल को खेत तक पहुँचने

१. अन्तःकरणस्यायं स्वभावो यदिन्द्रियैरुपनीतान्विषयान् स्वस्वामिने आत्मने समर्पयति, यथाहुः—गृहीतानिन्द्रियैरर्थानात्मने यः प्रयच्छति। अन्तः—करणरूपाय तस्मै विश्वात्मने नमः॥ (वि० पु०, अंश १ अ० १४, श्लोक ३५) इति विद्वत्तोषिणीकाराः।

२. उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति, वृत्तिरिति, ज्ञानमिति चाख्यायते। इदं तत्प्रमाणम्। अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलं प्रमा बोधः।

—सांख्यतत्त्वकौमुदी

३. न चैतादृशेन्द्रियेण अध्यवसायः इत्यर्थकप्रतिविषयेणाध्यवसाय इति तृतीयासमासः कुतो नाश्रितः इति वाच्यम्' एतन्मते नानाछिद्रवटान्तरवर्तिप्रदीप-प्रकाशस्य छिद्रजन्यत्वाभाववत् बुद्धिवृत्तिरूपाध्यवसायस्य इन्द्रियजन्यत्वाभावेनैतादृशसमासासम्भावात्। —सुषमाकाराः

में जो सहायता प्रणाली से प्राप्त है। जैसे घटस्थ दीप का प्रकाश छिद्र-जन्य न होने के कारण उसका कार्य या धर्म होता है, उसी प्रकार तमोगुण से आवृत बुद्धि द्वारा विषय का प्रकाश छिद्रस्थानीय इन्द्रियों का न होने के कारण उसका धर्म नहीं अपितु बुद्धि का ही धर्म है। परन्तु जैसे छिद्रों के अभाव में दीप का प्रकाश बाहर निकल कर वस्तु का प्रकाशन नहीं कर सकता, तदर्थ छिद्रों की सहायता आवश्यक है, उसी प्रकार इन्द्रियों के अभाव में समस्त अर्थों को ग्रहण करने मे समर्थ भी बुद्धि तमोगुण से प्रतिबद्ध होने के कारण बाहर निकलकर तथा विषय तक पहुँच कर उसका प्रकाशन नहीं कर सकती, उसमें इन्द्रियाँ आवश्यक हैं[1]। इन्हीं इन्द्रियों की सहायता से बुद्धि को आवृत करने वाला उसका घटस्थानीय तमोगुण अति न्यून हो जाता है और फिर बुद्धि उस तमोगुण से मानो बाहर निकलकर, वस्तु तक प्राप्त होकर एवं तदाकार-रूप में परिणत होकर उसे प्रकाशित कर देती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि न्याय की तरह सांख्य में ज्ञानोत्पत्ति में इन्द्रियों का प्रधान या सक्रिय नहीं अपितु गौण ही योग रहता है, प्रधान भाग तो बुद्धि का होता है[2]। अतः वह बोध जिसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया, बुद्धि का धर्म है, इन्द्रियों का नहीं। यही बात अनुमान प्रमाण कहे जाने वाले वाक्य-जन्य ज्ञान के विषय में भी सत्य है[3]।

नारायण तीर्थ ने अपनी सांख्यचन्द्रिका में 'प्रतिविषयाध्यवसाय' इस समस्त पद का अर्थ 'इन्द्रिय' किया है :—'प्रतिविषयो नियतविषयोऽध्यवसीयते निश्चीयतेऽनेनेति प्रतिविषयाध्यवसाय इन्द्रियम् चक्षुरादीनां रूपादिविषयकत्वनि-यमान्नियतविषयकत्वम्।' गौडपाद ने इस पद का अर्थ इस प्रकार से किया

१. यथा स्वभावतश्चलनशीलमपि जलाशयस्थं सलिलं निर्गममार्गासत्त्व-रूपप्रतिबन्धकबलात् स्वयं क्षेत्रमनुपसर्पदपि छिद्रे सति तद्द्वारा निर्गत्य कुल्यात्मना क्षेत्रमुपसृत्य केदाराकारेण परिणमते, तथा स्वभावतः सर्वार्थग्रहणसमर्थमपि बुद्धितत्त्वं तमसा प्रतिबद्धं सत्स्वयं विषयमनुपसर्पदपीन्द्रियार्थसन्निकर्षादिना तमोनिरासे इन्द्रियप्रणालिकया विषयमुपसृत्य तदाकारेण परिणमते। योऽयं बुद्धितत्त्वस्य विषयाकारपरिणामः, स एव अध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति प्रमाणमिति चाभिधीयते।—विद्वत्तोषिणीकाराः।

२. द्रष्टव्य सां० का०।

३. सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि॥

है—'प्रतिविषयेषु श्रोत्रादीनां शब्दादिविषयेषु अध्यवसायो दृष्टम् प्रत्यक्ष मित्यर्थः।' गौडपाद का अर्थ वाचस्पति मिश्र के अर्थ के सदृश ही है क्योंकि दोनों के अनुसार इन्द्रिय-कृत अध्यवसाय या ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, न कि इन्द्रिय। चन्द्रिकाकार की उपर्युक्त पंक्तियों से तो उन्हें इद्रियाँ ही प्रत्यक्ष प्रमाण अभिमत प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार 'आप्तश्रुति' का भी अर्थ उन्होंने 'आप्तोक्त वाक्य' किया है, वाचस्पति मिश्र की भाँति 'वाक्य-जन्य वाक्य-ज्ञान' नहीं। परन्तु प्रस्तुत कारिका की टीका के अन्तिम भाग में "कारिकार्थस्तु—प्रतिविषयोऽध्यवसीयते निश्चीयते विषयीक्रियतेऽनेनेतीन्द्रियजन्यवृत्तिरूपं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, लिङ्गलिङ्गिपूर्वकं स्वज्ञानद्वारा हेतुपक्षजन्यसाध्यज्ञानमनुमानम्, आप्त-श्रुतिः आप्तशब्देन शब्दो बोध इति'' लिखकर वे स्वयं उसका विरोध करते हुए प्रतीत होते हैं।

पूर्वोक्त त्रिविध प्रमाणों से प्रमेयों की जो प्रमा या उनका जो ज्ञान होता है, उसकी प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता भी उसी ज्ञान में निहित रहती है। कारण के गुण या दोष से उसकी केवल अभिव्यक्ति होती है, जैसे कारण-व्यापार से मृत्तिका-स्थित घट का आविर्भाव। ऐसा मानने का कारण यह है कि सांख्य सत्कार्यवादी होने के कारण शश-शृङ्ग इत्यादि जैसे वस्तुतः असत् पदार्थों की उत्पत्ति नहीं मानता। अतः यदि ज्ञान के अनन्तर उदित होने वाले उसके प्रामाण्य या अप्रामाण्य को वह उसमें निसर्गतः निहित नहीं मानेगा, तो उसकी दृष्टि में इनका उदय कभी होगा ही नहीं। इसलिए 'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः' अर्थात् ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य स्वतः ही होते हैं,—ऐसा सांख्य मानता है। इसके विपरीत न्याय परतः प्रामाण्य मानता है।

२. प्रमेय

इन प्रमाणों से जिन प्रमेयों या पदार्थों का ज्ञान होता है, वे मुख्यतः दो ही हैं—जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष। सारा जड़ जगत् इसी जड़ प्रकृति का परिणाम—सत् कार्य—है। इस प्रकृति का सर्व-प्रथम परिणाम महत् या बुद्धि है, उसका परिणाम अहङ्कार, उसके द्विविध परिणाम पञ्च तन्मात्र तथा ग्यारह इन्द्रियाँ, तथा पञ्च तन्मात्रों के भी परिणाम आकाश, वायु इत्यादि पञ्च महा-भूत। स्पष्ट है कि महत्, अहङ्कार तथा पञ्च तन्मात्र—ये सात तत्त्व स्वयं दूसरों से उत्पन्न होते हैं तथा अन्य तत्त्वों को उत्पन्न भी करते हैं। किन्तु प्रकृति उत्पन्न ही करती है, स्वयं उत्पन्न नहीं होती; एवं ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच महाभूत— ये १६ तत्त्व उत्पन्न ही होते हैं, अन्य तत्त्वों को उत्पन्न नहीं करते।

हाँ, आकाश, वायु इत्यादि महाभूतों से चराचरात्मक जगत् अवश्य उत्पन्न होता है, पर सांख्य के मत से वह आकाश इत्यादि से भिन्न तत्त्व नहीं है। इस प्रकार 'प्रकृति' केवल प्रकृति या कारण है, इन्द्रियों तथा महाभूतों का सोलह का गण केवल विकृति या कार्य है तथा बीच के महत् इत्यादि प्रकृति तथा विकृति दोनों ही हैं। इस प्रकार 'प्रकृति' से उसके तेईस अवान्तर तत्त्वों का विकास होने पर परिणामी तत्त्व चौबीस हो जाते हैं। 'पुरुष', जो सांख्य शास्त्र का दूसरा प्रधान तत्त्व है, अपरिणामी अर्थात् न प्रकृति, न विकृति और न दोनों ही है। इसीलिए उससे कोई अवान्तर तत्त्व विकसित या उत्पन्न नहीं होता, जिससे प्रधान एवं गौण समस्त तत्त्वों की संख्या पच्चीस (प्रकृति, उसके तेईस परिणाम-भूत अवान्तर या गौण तत्त्व, तथा पुरुष) से आगे नहीं जाती।

सांख्य शास्त्र की उपर्युक्त तत्त्व-गणना के विषय में दो प्रश्न स्वभावत: उठते हैं। एक तो यह है कि सांख्य कारण-परम्परा का अन्त प्रकृति में ही क्यों मानता है? प्रकृति के पूर्व महत् इत्यादि अथवा प्रकृति के परे किसी अन्य तत्त्व में कारण-परम्परा का अन्त मानने में क्या हानि है? दूसरा प्रश्न यह है कि जैसे पाँच तन्मात्रों से उत्पन्न होने वाले पाँच भूतों का सांख्य शास्त्र तत्त्व मानता है, उसी प्रकार पाँच भूतों से उत्पन्न होने वाले गो, वृक्ष इत्यादि, उनसे भी उत्पन्न होने वाले दुग्ध, बीज इत्यादि तथा उनसे भी उत्पन्न होने वाले दधि, अंकुर इत्यदि को भी सांख्य-शास्त्र क्यों नहीं तत्त्व मानता? प्रथम प्रश्न का उत्तर यह है कि महत् इत्यादि तत्त्व सब के मूल कारण इसलिये नहो है क्योंकि वे परिमित, परिच्छिन्न या अव्यापी हैं[1]। जो अव्यापी होता है, वह कार्य होता है और जो व्यापक होता है, वह कारण होता है; जैसे घट मिट्टी की अपेक्षा अव्यापी या परिमित होता है, पर मिट्टी घट की अपेक्षा व्यापक होती है। जब महत् इत्यादि की इस प्रकार 'कार्यता' सिद्ध है, तब उनका कारण उनकी अपेक्षा कोई अव्यक्त या सूक्ष्म ऐसी वस्तु होगी जो उन्हीं गुणों या धर्मों से युक्त हो जिनसे महत् से लेकर पाञ्चभौतिक जगत् तक सभी वस्तुयें युक्त दिखाई पड़ती हैं। ये धर्म सुख, दुःख और मोह है, जो क्रमशः सत्त्व, रजस् तथा तमस्

१. द्रष्टव्य का० १५ की सांख्यतत्त्वकौमुदी :—शक्तितः प्रवृत्तिः कारण-कार्य-विभागौ च महतः परमाव्यक्तत्वं साधयिष्यतः, कृतं ततः परणाव्यक्ते-नेत्यत आह—"परिमाणात्" इति। परिमितत्वात् अव्यापित्वादिति यावत्। ववादाध्यासिता महदादिभेदा अव्यक्तकारणवन्तः, परिमितत्वात् घटादिवत्। घटादयो हि परिमिता मृदाद्यव्यक्तकारणका दृष्टाः।

के परिणाम या स्वभाव हैं। अतः यह कारण कोई अपरिमित या अपरिच्छिन्न त्रिगुणात्मक वस्तु होगी। इसे ही सांख्य 'प्रकृति' या 'प्रधान' या 'अव्यक्त' नाम देता है। अब जहाँ तक त्रिगुणात्मक 'प्रकृति' से परे किसी अव्यक्ततर तत्त्व को मूल कारण मानने की बात है: वह भी उसे मान्य नहीं है क्योंकि प्रकृति से परतर अव्यक्त मानने में कोई प्रमाण नहीं है।[1] यदि कोई कहे कि परम अव्यक्त से परतर अव्यक्त में भी पूर्व की ही भाँति अनुमान प्रमाण माना जा सकता है, अतः प्रमाणाभाव-कथन निरर्थक है, तो ऐसा तो कहना उचित नहीं; क्योंकि अनुमान प्रमाण मानने में दोष यह होगा कि जहाँ महत् इत्यादि कार्य स्पष्ट ही अव्यापी या परिच्छिन्न हैं, वहाँ अव्यक्त (प्रकृति) अव्यापी या परिच्छिन्न नहीं है? इसके अतिरिक्त परमाव्यक्त प्रकृति से भी परतर अव्यक्त की मूल कारण के रूप में कल्पना करने में अव्यवस्था होगी, जो प्रस्तुत स्थल में प्रामाणिक न होने से दोषावह होगी।[2] यद्यपि बीज और अंकुर के पारस्परिक कारणकार्य-भाव के सम्बन्ध में अनवस्था ही दिखाई पड़ती है क्योंकि बीज और अंकुर दोनों ही एक-दूसरे के कारण और कार्य हैं; निश्चित रूप से इनमें से एक कारण और दूसरा उसका कार्य हो, ऐसा नहीं है, जैसा कि मिट्टी और उससे बने हुए घड़े में देखा जाता है। परन्तु यह दोष नहीं है क्योंकि इसका बाध (निषेध) करके व्यवस्था को प्रतिष्ठित करने वाला कोई प्रमाण नहीं मिलता। अर्थात् प्रकृति-सिद्ध होने के कारण अनवस्था ही यहाँ वास्तविकता है, वस्तु-स्थिति है, व्यवस्था नहीं। परन्तु उपर्युक्त स्थल में प्रकृति का कारण, फिर उसका भी कारण, फिर उस कारण का भी कारण और इसी प्रकार आगे भी कारण मानते जाने पर जो अनवस्था होगी, वह प्रामाणिक नहीं है; क्योंकि 'अजामेकाम्' इत्यादि श्रुति तथा 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' इत्यादि स्मृति प्रकृति को अज और अनादि बताकर कारण-परम्परा का उसी में अन्त मानती हैं। इसलिए उक्त स्थल में वस्तु-स्थिति के भिन्न होने के कारण अनवस्था की कल्पना दोष के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट है कि प्रकृति से परतर अव्यक्त की कल्पना प्रामाणिक नहीं है।

१. का० १५ की सांख्य० :—यन्महतः कारणं, तत् परमाव्यक्तं, ततः परतराव्यक्तकल्पनायां प्रमाणाभावात्।

२. द्रष्टव्य सांख्यकारिका ३ की तत्त्वकौमुदी :—मूलं, चासौ प्रकृतिश्चेति मूलप्रकृतिः। विश्वस्य कार्यसंघातस्य सा मूलं, न त्वस्या मूलान्तरमस्ति अनवस्था-प्रसङ्गात्। न चानवस्थायां प्रमाणमस्तीति भावः।

अब जहाँ तक पृथ्वी इत्यादि कारणों के गो, घट, वृक्ष इत्यादि कार्यों के तत्त्वान्तर न होने की बात है, वह तो इसी से सिद्ध हो जाती है कि ये गो, घट इत्यादि कार्य उसी प्रकार स्थूल तथा इन्द्रिय-गोचर हैं, जैसे पृथिवी[1]।

प्रकृति एवं गुण

पूर्वोक्त तेईस अवान्तर तत्त्वों के रूप में परिणत होने वाली सांख्य की यह प्रकृति 'अजा' अर्थात् अनादि और 'अनन्त' अर्थात् अविनाशिनी है। इसमें सत्त्व, रजस् तथा तमस् तीन गुण हैं, इसीलिए यह 'त्रिगुण'[2] कहलाती है। इन सत्त्व इत्यादि तीनों की 'गुण' संज्ञा इनके 'परार्थ'[3] अर्थात् पुरुष के भोगापवर्ग के लिए होने के कारण है। जिसकी स्थिति दूसरे के लिए होती है, अपने लिए नहीं, उसका उस दूसरे की अपेक्षा अप्रधान-भाव—गुणभाव—होता है। इसी से सत्त्व इत्यादि 'गुण' कहे जाते हैं। ये तीनों गुण प्रकृति के धर्म या स्वभाव नहीं, इसके स्वरूप ही हैं। अर्थात् प्रकृति या अव्यक्त सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणों का आधार नहीं अपितु तद्रूप या तदात्मक है; जैसा कि 'सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्' (सां० सू० ६।३९) इत्यादि सांख्य-सूत्र तथा 'एते गुणाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति' (यो० सू० २।१८ का व्यास-भाष्य) इत्यादि योग-भाष्य की पंक्ति से स्पष्ट है। इस प्रकार प्रकृति के त्रिगुणात्मक होने पर भी 'प्रकृति के गुण' ऐसा भेद व्यवहार कथञ्चित् भेद-विवक्षा से होता है। इन गुणों के धर्म क्रमशः सुख, दुःख तथा मोह या अज्ञान अवश्य है जिससे ये गुण तथा इनके ये धर्म या स्वभाव भी महत् अहंकार, तन्मात्र इत्यादि प्रकृति के कार्यों में भी आ जाते हैं, क्योंकि यह तो नियम ही है कि कारण के गुणों या धर्मों से ही कार्य में गुण या धर्म आते है। इस प्रकार इनसे उत्पन्न सारा जगत् ही त्रिगुणात्मक तथा सुख-दुःख मोह-स्वरूप है।

उपर्युक्त कथन से एक बात तो स्पष्ट ही है, वह यह कि सांख्य के तीनों गुण न्याय के चौबीस गुणों की भाँति द्रव्याश्रित धर्म रूप नहीं अपितु द्रव्य रूप ही हैं, एवं उनमें रहने वाले धर्म क्रमशः सुख, दुःख तथा मोह हैं। प्रकृति के ये तीनों ही गुण नित्य-परिणामी हैं', अर्थात् प्रकृति कभी परिणाम से वियुक्त

१. द्रष्टव्य वही :—सर्वेषां गोघटादीनां स्थूलतेन्द्रियग्राह्यता च समेति न तत्त्वान्तरत्वम् ।।

२. द्रष्टव्य सां० का० ११ :—त्रिगुणमविवेकि विषय....।।

३. (i) द्रष्टव्य सां० का १२ की तत्त्व कौमुदीः—'गुणाः' इति परार्थाः ।
(ii) सां० का० १७ :—संघातपरार्थ त्वात्....।।

नहीं होती, यहाँ तक कि प्रलय-काल में भी परिणाम होता रहता है[1]। हां, इतना अवश्य है कि प्रलय-काल में सदृश परिणाम होता है और सृष्टि-काल में विसदृश या विषम। दूसरे शब्दों में इसी बात को इस प्रकार से कह सकते हैं कि जहाँ प्रलय-काल में प्रकृति स्वरूपतः परिणत होती है, उसके स्वरूप-भूत तीनों गुणों का साम्य नष्ट नहीं होता जिससे विभिन्न कार्यों की सृष्टि हो सके, वहाँ सर्ग-काल में गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है जिसके फल-स्वरूप उनके साम्य या सन्तुलन के नष्ट होने तथा विभिन्न अंशों के परस्पर संहत होने पर महत्, अहंकार, तन्मात्र, इन्द्रियाँ महाभूत और यह सारा त्रिगुणात्मक जगत्—सभी क्रमशः उत्पन्न होते हैं। सांख्य-कारिका १६ में ईश्वरकृष्ण ने इस द्विविध परिणाम का स्पष्ट कथन किया है।[2] मूल के 'त्रिगुणत' पद से प्रथम तथा 'समुदयाच्च' से द्वितीय प्रकार का परिणाम कहा गया है।

यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न इन परिणामों के सम्बन्ध में यह उठता है कि जो गुण प्रलय-काल में सदृश या एक-विध परिणाम उत्पन्न करते हैं, वे ही सृष्टि-काल में विषम या विविध प्रपंच कैसे उत्पन्न करने लगते हैं? इसका उत्तर भी पूर्वोद्धृत १६वीं कारिका की द्वितीय पंक्ति [परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्।] में कारिकाकार ने दिया है, जिसका व्याख्यान प्रस्तुत करते हुये वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वकौमुदी में लिखा है कि "जैसे मेघ का जल एक-रस (एक-सा) होने पर भी पृथ्वी के नाना विकारों को प्राप्त करके नारियल, ताड़, करेले, बेल, चिरविल्व, तिन्दुक (इमली) आँवला, प्राचीनामलक, कैथ इत्यादि का रस बन जाने पर मीठे-खट्टे, नमकीन, तिक्त, कषैले, तथा कड़वे आदि अनेक प्रकारों का हो जाता है, उसी

१. द्रष्टव्य सांख्यकारिका ११ के 'प्रसवधर्मित्व' पद की तत्त्वकौमुदी:— प्रसवरूपो धर्मो यः, सोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मि। प्रसवधर्मेति वक्तव्ये मत्वर्थीयः प्रसवधर्मस्य नित्ययोगमाख्यातम्। सरूपविरूपपरिणामाभ्यां न कदाचिदपि वियुज्यत इत्यर्थः।

(ii) द्रष्टव्य सां० का० १६ के 'प्रवर्तते त्रिगुणतः' पदों की तत्त्वकौमुदी :— प्रतिसर्गावस्थायां सत्त्वं रजस्तमश्च सदृशपरिणामानि भवन्ति। परिणामस्वाभावा हि गुणा नापरिणम्य क्षणमप्यवतिष्ठन्ते। तस्मात् सत्त्वं सत्त्वरूपतया रजो रजोरूपतया तमस्तमोरूपतया प्रतिसर्गावस्थायामपि प्रवर्तते।

२. सां० का० १६ :—प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।

प्रकार (प्रत्येक काल में) एक ही एक गुण का आविर्भाव होने से प्राधान्य-प्राप्त उस गुण का आश्रय लेकर अप्रधान गुण अनेक परिणाम उत्पन्न करते हैं।"[1]

ऊपर की पंक्तियों में कहा गया है कि जैसे एक ही जल अनेक भू-विकारों को प्राप्त करके अनेक प्रकार का हो जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक गुण प्रलय-काल में एक-विध होने पर भी सृष्टि-काल में अङ्गाङ्गिभाव को प्राप्त होने से विविध परिणाम उत्पन्न करता है। पर इससे एक बात स्पष्ट नहीं होती; वह यह कि जल के विविध परिणाम में तो भू-विकार कारण है जो पूर्वतः स्वतः सिद्ध है, पर गुणों के विविध परिणाम में कारण बनने वाला उनका अङ्गाङ्गि-भाव या गुण-प्रधान भाव तो पूर्वतः सिद्ध नहीं है क्योंकि सृष्टि के पूर्व अर्थात् प्रलय-काल में वे एक-विध थे, कोई गौण और कोई प्रधान—इस रूप में नहीं थे। फिर यह गुण-प्रधान भाव किस निमित्त से आया? इसका उत्तर १३वीं कारिका के "प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः" शब्दों से प्राप्त होता है। ३१ वीं कारिका के "पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्" में भी यही बात कही गई है। पुरुष के पूर्व-कृत कर्मों के भोगोन्मुख होने पर उनके भोग एवं भोगानन्तर तत्त्वज्ञान द्वारा अपवर्ग—इन उभय प्रयोजनों की सिद्धि के लिए गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है, जिससे न्यूनाधिक्य या गौण-प्रधान भाव उत्पन्न होता है, और उससे विविध परिणामों की सृष्टि होने लगती है।

पूर्वोक्त तीनों गुणों के प्रयोजन क्रमशः प्रकाशन, संचालन तथा नियंत्रण हैं और इन प्रयोजनों की सिद्धि इन गुणों के पारस्परिक अभिभव, आश्रय एवं जनन द्वारा होती है[2]। पारस्परिक अभिभव का अर्थ यह है कि प्रयोजन-विशेष से प्रकट हुए किसी एक के द्वारा दूसरे अभिभूत हो जाते हैं। जैसे 'सत्त्व' रजस् और तमस् को अभिभूत करके ही अपनी शान्त वृत्ति को प्राप्त करता है (अर्थात् सुख इत्यादि रूप से परिणत होता है)। इसी प्रकार 'रजस्' सत्त्व और तमस् को अभिभूत करके अपनी घोर अर्थात् दुःख की वृत्ति को, एवं 'तमस्' सत्त्व और

---

१. यथा हि वारिदविमुक्तमुदकमेकरसमपि तत्तद्भूविकारानासाद्य नारिकेलतालतालीबिल्वचिरबिल्वतिन्दुकामलकप्राचीनामलककपित्थफलरसतया परिणमन्मधुराम्ललवणतिक्तकषायकटुतया विकल्पते, एवमेकैकगुणसमुद्भवात् प्रधानं गुणमाश्रित्य अप्रधानगुणाः परिणामभेदान् प्रवर्तयन्ति।—का० १६ की तत्त्वकौमुदी।

२. द्रष्टव्य सा० का० १२:—प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्ति-नियमार्थाः। अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥

रजस् को अभिभूत करके अपनी मोह या विषाद की वृत्ति को प्राप्त करता है। इस प्रकार गुणों की सुखादि रूप से परिणति ही इनके अन्तिम प्रयोजन या कार्य हैं, विषय-प्रकाशन इत्यादि इन अन्तिम प्रयोजनों की सिद्धि में अपेक्षित होने से गौण प्रयोजन या द्वार-भूत कार्य हैं, अभिभव इत्यादि इस सिद्धि के माध्यम या प्रकार हैं। इसमे प्रयोजक या निमित्त जीव के पूव-कृत धर्म, अधर्म इत्यादि हैं। जैसे धर्म रूप प्रारब्ध का भोग उपस्थित होने पर सत्त्व प्रबल होकर अन्य दोनों को अभिभूत करके विषय को प्रकाशित करता हुआ सुख रूप से परिणत होगा।

'आश्रय' शब्द का प्रयोग कारिका में 'आधार' रूप मुख्य अर्थ में नहीं अपितु 'परस्पर-सहकारित्व' रूप गौड़ अर्थ में हुआ है[1]। यहाँ जिसकी क्रिया जिस पर अवलम्बित या निर्भर होती है अर्थात् जो जिसका सहकारी होता है, वह उसका आश्रय कहा गया है। जैसे सत्त्व गुण रजस् और तमस् के क्रमशः प्रवर्तन और नियन्त्रण कार्यों के आश्रय या साहाय्य से होने वाले अपने 'प्रकाशन' कार्य द्वारा उन दोनों की सहायता करता है (अन्यथा रजस् और तमस् के अभाव में सत्त्व अपने 'प्रकाशन' कार्य मे प्रवृत्त ही नही होगा)। इसी प्रकार रजस् गुण सत्त्व और तमस् के क्रमशः प्रकाशन और नियन्त्रण कार्यों के साहाय्य से होने वाले अपने 'प्रवर्तन' कार्य द्वारा अन्य दोनों (सत्त्व तथा तमस्) की, एवं तमस् गुण सत्त्व और रजस् के क्रमशः प्रकाशन और प्रवर्तन कार्यों के साहाय्य से होने वाले अपने 'नियन्त्रण' कार्य द्वारा अन्य दोनों (सत्त्व और रजस्) की सहायता करता है। 42779

इस पारस्परिक आश्रय द्वारा एक-दूसरे के कार्य में सहायक होने का बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त माठर-वृत्ति[2] तथा परमार्थ द्वारा चीनी भाषा में अनूदित सुवर्णसप्तति-शास्त्र[3] में मिलता है। जैसे तिरछे खड़े किये गये तीन दण्डों या

---

१. यद्यप्याधाराधेयभावेन नायमर्थो घटते, तथापि यदपेक्षया यस्य क्रिया, स तस्याश्रयः। तथाहिः—सत्त्वं प्रवृत्तिनियमावाश्रित्य रजस्तमसोः प्रकाशेनोपकरोति, रजः प्रकाशनियमावाश्रित्य प्रवृत्त्येतरयोः, तमः प्रकाशप्रवृत्ती आश्रित्य नियमेनेतरयोः। सां० त० कौ०

२. त्रिदण्डविष्टम्भवदमी वेदितव्या इति।—माठरवृत्ति, पे० २२

३. इमे गुणाः परस्पराश्रयाः सर्वकार्यकरणसमर्थाः, यथा त्रिदण्डी परस्पराश्रया कुण्डिकादीन् अवष्टम्नाति।—द्रष्टव्य अय्यास्वामी शास्त्री द्वारा चीनी भाषा में संस्कृत में अनूदित सुवर्ण-सप्तति-शास्त्र, पे० १७।

खम्भों पर आश्रित घट किसी एक पर नहीं आश्रित रह सकता और घट को अपने-अपने ऊपर सम्हालने के कार्य में तीनों में से प्रत्येक अन्य दोनों की सहायता की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार तीनों गुण भी अपने-अपने कार्य में अन्य दोनों की सहायता की अपेक्षा रखते हैं।

'अन्योन्यजननवृत्तयः' का अर्थ, जैसा तत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने किया है, 'एक दूसरे की उत्पत्ति करने वाले अर्थात् एक दूसरे के परिणाम में सहकारी' है। पर 'अन्योन्याश्रयवृत्तयः' की भी 'परस्पर सहकारी' ही अर्थ है। इस प्रकार पुनरावृत्ति दोष की आपत्ति होती है। इसलिये कौमुदीकार ने 'जनन' पद का 'सदृश-रूप परिणाम' अर्थ करके यह स्पष्ट किया है कि 'परस्पर-सहकारित्व' रूप अर्थ की दृष्टि से दोनों पदों के अर्थ में अभेद होने पर भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के विषय में कहे जाने से दोनों अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। गुणों का प्रथम सहकारित्व उनके अहङ्कार इत्यादि 'विरूप' परिणाम की अवस्था—सृष्टि-अवस्था—के लिए कहा गया है और द्वितीय सहकारित्व 'सरूप' अर्थात् सत्त्वादि रूप से ही परिणत होने की प्रलयकालीन अवस्था के लिए कहा गया है। इसलिए यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं है। इस सरूप परिणाम की प्रलयकालीन अवस्था का ही नाम प्रकृति है क्योंकि इस अवस्था में तीनों गुण प्रकृति-रूप से ही अवस्थित रहते हैं, सृष्टिकालीन बुद्धि, अहङ्कार इत्यादि विकृति या स्व-भिन्न तत्त्व के रूप में नहीं परिणत होते। इस प्रकार जब प्रकृति तथा तीनों गुणों में तादात्म्य या अभेद हुआ, तब कारणकार्य-भाव कहाँ सिद्ध हुआ? इसलिए प्रकृति-रूप सरूप परिणाम को अहेतु और नित्य कहा है। यहाँ यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि जब तीनों गुणों तथा उनके प्रकृति-रूप परिणाम में कोई भेद ही नहीं है, या दूसरे शब्दों में यों कहें कि जब तीनों गुण प्रलय-काल में किसी नये तत्त्व को उत्पन्न ही नहीं करते, तब उस अवस्था में व्यर्थ परिणाम मानने से क्या लाभ? इसका संक्षेप में उत्तर यह है कि यदि तीनों गुणों में प्रकृत्यवस्था में कोई परिणाम या क्रिया नहीं मानेंगे तो प्रश्न यह उठेगा कि सृष्टि-काल में उनमें यह परिणाम-शीलता या सक्रियता कहां से आ जाएगी? क्योंकि सांख्य का यह मान्य सिद्धान्त है कि 'जो जिसमें नहीं है, वह उसमें कभी भी नहीं हो सकता एवं जो जिसमें है, उसका उसमें कभी अभाव नहीं हो सकता।' यही कारण है कि दशम कारिका में इन गुणों को 'सक्रिय' कहा गया है, जिसका व्याख्यान कौमुदीकार ने 'परिस्पन्दवत्' शब्द के द्वारा किया है।

'परस्परमिथुनवृत्तयः' का अर्थ यह है कि ये तीनों ही गुण एक-दूसरे के

सहचर या एक-दूसरे के अभाव में न रहने वाले होते हैं। इसमें देवी-भागवत प्रमाण है :—सभी गुण परस्पर युग्म-भाव से रहते हैं। सभी गुण महत्, अहङ्कार इत्यादि सभी कार्यों में व्याप्त हैं, रजस् का मिथुन सत्त्व, सत्त्व का मिथुन रजस्, तमस् के भी मिथुन सत्त्व और रजस्, एवं सत्त्व तथा रजस् का मिथुन तमस् कहा गया है[१]।

गुणों के स्वरूप, प्रयोजन तथा कार्य-प्रणाली इत्यादि के विषय में जो कुछ अभी कहा गया, वह प्रायेण सांख्यकारिका १२ की द्वितीय पंक्ति की वाचस्पति-मिश्र-कृत व्याख्या पर आधारित है। नारायण तीर्थ की सांख्यचन्द्रिका में भी सदृश ही व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है। परन्तु गौडपाद-भाष्य, माठर-वृत्ति तथा जयमंगला में 'वृत्ति' पद को कौमुदीकार वाचस्पति मिश्र तथा चन्द्रिका-कार नारायण तीर्थ की भाँति 'अभिभव' 'आश्रय' इत्यादि प्रत्येक के अन्त में न जोड़कर इन्हीं पदों की भाँति 'अन्योन्य' पद के साथ स्वतन्त्र रूप से अन्वित किया गया है[२]। जयमंगला के अनुसार 'वृत्ति' का अर्थ 'सुखादि रूप से परिणति' है, गौडपाद के अनुसार 'परस्पर वर्तमान रहना' है, परन्तु माठर-वृत्ति के अनुसार इसका अर्थ 'कार्य' है। 'सुवर्ण-सप्तति' के परमार्थ-कृत चीनी-भाषानुबाद में भी यही अर्थ किया गया है। इस ग्रन्थ में सत्त्व का अपने कार्य के अतिरिक्त यदा-कदा रजस् और तमस् के भी कार्य करना, इसी प्रकार रजस् का स्व-कार्य के अतिरिक्त अन्य दोनों के, तथा तमस् का भी स्व-कार्य के अतिरिक्त अन्य दोनों के कार्य करना बड़े विशद और विस्तृत ढंग से समझाए गए हैं। इस ग्रन्थ के अय्यास्वामीशास्त्री-कृत संस्कृत-अनुवाद की पंक्तियाँ इस स्थल में द्रष्टव्य हैं :—"अन्योन्यवृत्तीति। इमे त्रयो गुणाः अन्योऽन्यमर्थं कुर्वन्ति। यथा राजकुलस्त्री सुप्रियरूपशीला। अयं सत्त्वगुण उच्यते। एतत्सत्त्वपरिणतं रूपं भर्तुर्बन्धोश्च प्रीतिं करोति। इदं स्वार्थकरण-मुच्यते। (सैव) सर्वासां सपत्नीनां शोकं जनयति। इदमन्यार्थकरणमुच्यते। अन्येषां विषादमपि जनयति। यथा दास्यादयः सदा तत्परिचर्याखिन्ना मोचन-मलभमाना विषादाविष्टचित्ता भवन्ति। इदमुच्यते अन्यार्थजननम्। इदमेव सत्त्व-

---

१. 'अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्रगामिनः। रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः॥
तमसश्चापि मिथुनं ते सत्त्वरजसी उभे। उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते॥

२. अन्योऽन्याभिभवाः अन्योऽन्याश्रयाः अन्योऽन्यजननाः अन्योऽन्यमिथुनाः अन्योऽन्यवृत्तयश्च। —गौडपादभाष्यम्

गुणस्य स्वपरार्थकरणमुच्यते। एवं रजः स्वपरार्थं जनयति.......। एवं तमः स्वपरार्थं जनयति।"

इस व्याख्यान से माठर-वृत्ति तथा सुवर्ण-सप्तति शास्त्र के रचयिताओं का वाचस्पति मिश्र से महान् मत-भेद ज्ञात होता है। जहाँ प्रथम दोनों आचार्यों के मत से रूप, यौवन, कुल एवं शील इत्यादि से सम्पन्न स्त्री का अपनी सपत्नियों को दुःख देना तथा अपने को न पा सकने वाले पर पुरुष को मोह या विषाद में डाल देना सामान्यतः रजस् और तमस् कार्य होने पर भी कभी-कभी सत्त्व का भी कार्य होता है जो उसका 'अन्यार्थकरण' (अर्थात् दूसरे गुणों के कार्य का सम्पादन) है, वहाँ वाचस्पति मिश्र के अनुसार क्रमशः रजस् और तमस् के ये कार्य सदा उन्हीं के द्वारा सम्पादित होते हैं, ये कभी भी सत्त्व के द्वारा सम्पादित नहीं होते। यही बात अन्य दोनों गुणों—रजस् तथा तमस्—के भी अन्यार्थकरण के सम्बन्ध में जाननी चाहिए। तेरहवीं कारिका के व्याख्यान में आई हुई निम्न पंक्तियाँ इसमें प्रमाण है :—

"अत्र च सुखदुःखमोहाः परस्परविरोधिनः स्वस्वानुरूपाणि सुखदुःखमोहात्मकान्येव निमित्तानि कल्पयन्ति। तेषां च परस्परमभिभाव्याभिभावकभावान्नानात्वम्। तद्यथा—एकैव स्त्री रूपयौवनकुलशीलसम्पन्ना स्वामिनं सुखाकरोति, तत्कस्य हेतोः? स्वामिनं प्रति तस्या सुखरूपसमुद्भवात्। सैव स्त्री सपत्नीर्दुःखाकरोति, तत् कस्य हेतोः? ताः प्रति तस्याः दुःखरूपसमुद्भवात्। एवं पुरुषान्तरं तामविन्दमानं सैव मोहयति, तत् कस्य हेतोः? तं प्रति तस्याः मोहरूपसमुद्भवात्।... तत्र यत् सुखहेतुः तत् सुखात्मकं सत्त्वम्, यत् दुखःहेतुस्तत् दुःखात्मकं रजः, यन्मोहहेतुस्तन्मोहात्मकं तमः।"

तत्त्वकौमुदी की इन पंक्तियों का तात्पर्य निम्नलिखित है :—

जागतिक पदार्थों में प्राप्त होने वाले परस्पर-विरोधी सुख, दुःख तथा अज्ञान अपने-अपने प्रादुर्भाव के अनुकूल ही सुखात्मक, दुःखात्मक तथा अज्ञानात्मक कारणों का अनुमान कराते हैं। इन्हीं को १३वीं कारिका में सत्त्व, रजस् और तमस् नाम दिया गया है। इन गुणों का अनेकत्व सुखादि के परस्पर अभिभाव्य (अभिभव या तिरोभाव को प्राप्त होने वाला) तथा अभिभावक (अभिभव या तिरोभाव करने वाला) होने से है। अर्थात् चूँकि कभी सुख उत्कृष्ट होकर अन्य दोनों का तिरोभाव करता है, कभी दुःख, और कभी अज्ञान, इसलिये इनके कारण एक नहीं हो सकते; क्योंकि यदि एक ही गुण सुख, दुःख तथा मोह का

कारण मान लिया जाय तो प्रत्येक वस्तु एक ही समय में एक ही व्यक्ति को सुखदुःखमोहात्मक अनुभूत होगी। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। इसके विपरीत अनेक होने पर इन सत्त्वादि गुणों के उद्भूत या उत्कृष्ट होने के लिए व्यक्ति के धर्म और अधर्म की अपेक्षा रहने से व्यक्ति और वस्तु दोनों में ही कभी सत्त्व, कभी रजस् और कभी तमस् ही उद्भूत होगा। इस प्रकार वस्तु-विशेष व्यक्ति-विशेष को एक समय में एक ही प्रकार की—सुखात्मक, दुःखात्मक या मोहात्मक लगेगी, सर्वात्मक नहीं। जैसे रूप, यौवन, कुल, शील से सम्पन्न वही स्त्री अपने पति को सुख देती है क्योंकि उसके प्रति उस स्त्री का सुखात्मक सत्त्व-रूप ही प्रकट होता है। वही स्त्री सौतों को दुःख देती है क्योंकि उनके प्रति उसका दुःखात्मक रजो-रूप ही प्रकट होता है। इसी प्रकार उसे न पा सकने वाले पर पुरुष को मूढ बना देती हैं क्योंकि उनके प्रति उस स्त्री का मोहात्मक तमोरूप ही प्रकट होता है।........ उपर्युक्त दृष्टान्त में जो पति के सुख का कारण है, वह कान्ता-काय-गत सुखात्मक सत्त्व गुण है जो पति द्वारा किये गये धर्म रूप निमित्त से समुद्भूत होकर उसके सुख में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार जो सपत्नी के दुःख का कारण है वह कान्ता-काय-गत दुःखात्मक रजो गुण है जो सपत्नी द्वारा किये गये अधर्म रूप निमित्त से समुद्भूत होकर उसके दुःख में परिणत हो जाता है। एवं जो उस स्त्री को प्राप्त न कर सकने वाले पर पुरुष के मोह का कारण हैं, वह कान्ता-काय-गत मोहात्मक तमो गुण है जो पुरुष द्वारा किये गए अधर्म रूप निमित्त से समुद्भूत होकर उनके मोह या विषाद में परिणत हो जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि उपर्युक्त मत ही कारिकानुसारी होने के कारण संगत एवं उपयुक्त है।[1]

---

१. तत्त्वकौमुदीकार ने यह सिद्धान्त-प्रतिपादन सांख्य-मत के अनुरोध से किया है। वस्तुतः उनका अपना मत (वेदान्त मत) इससे भिन्न है। उसका संक्षेप में कथन उन्होंने ब्रह्मसूत्र २।२।१ के शांकर-भाष्य की भामती में इस प्रकार किया है—यदि पुनः एते एव सुखदुःखादिस्वभावा भवेयुस्ततः स्वरूपत्वाद्धेमन्तेऽपि चन्दनः सुखः स्यात्। नहि चन्दनः कदाचिदचन्दनः। तथा निदाघेऽपि कुङ्कुमपङ्कः सुखः भवेत्। नह्यसौ कदाचिदकुङ्कुमपङ्क इति। एवं कण्टकः क्रमेलकस्य सुख इति मनुष्यादीनामपि प्राणभृतां सुखः स्यात्। नह्यसौ कांश्चित् प्रत्येव कण्टक इति। तस्मादसुखादिस्वभावा अपि चन्दनकुङ्कुमादयो जातिकालावस्थाद्यपेक्षया सुखदुःखादिहेतवो, न तु स्वयं सुखादिस्वभावा इति रमणीयम्'। इसके अनुसार चन्दन, कुङ्कुम इत्यादि जागतिक भोग-पदार्थ स्वतः सुख-दुःख-मोहात्मक नहीं हैं अपितु जाति, काल, अवस्था इत्यादि के अनुरोध से वे वैसे हो जाते हैं।

४. सृष्टि एवं उसका प्रयोजन

प्रमेयों के विवेचन के आरम्भ में कहा जा चुका है कि सांख्य के प्रमेय या पदार्थ मुख्यतः दो ही हैं, एक तो जड प्रकृति और दूसरा चेतन पुरुष; और सारा जड जगत् इसी जड प्रकृति का परिणाम है और इसी परिणाम का नाम 'सर्ग' या सृष्टि है। प्रकृति के एक और परिणाम की भी चर्चा पहले **'प्रकृति और उसके गुण'** प्रकरण में की जा चुकी है। वह परिणाम त्रिगुणात्मक प्रकृति का प्रकृति रूप परिणाम ही है। इसे ही सदृश परिणाम भी कहा गया है जो प्रलयकाल में होता रहता है। इस परिणाम को मानने का कारण भी वहाँ स्पष्ट किया जा चुका है। इस सदृश परिणाम में प्रकृति के गुणों का पारपरिक साम्य नष्ट नहीं होता, इसी से कोई अभिनव सृष्टि नहीं होती। परन्तु सृष्टि-काल में गुणों में क्षोभ होने से, साम्य नष्ट होता है, वैषम्य उत्पन्न होता है, एवं वैषम्य या न्यूनाधिक्य को प्राप्त हुए गुणों के विविध मिश्रण से विविध सृष्टि होने लगती है। यहाँ यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि पूर्वतः साम्य-प्राप्त गुणों में वैषम्य या न्यूनाधिक्य क्यों और कैसे आ जाता है? 'क्यों' का उत्तर, जैसा पहले कहा जा चुका है, तेरहवीं कारिका के 'प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः' तथा ३१ वीं कारिका के 'पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्' अंशो में दिया गया है। इनका भाव यह है कि चूँकि पुरुष के पूर्व-कृत कर्मों के भोग तथा भोगान्तर तत्त्वज्ञान द्वारा पुरुष के अपवर्ग की सिद्धि के लिए विविध सृष्टि अपेक्षित है और इस विविध सृष्टि के लिये गुणों में वैविध्य या वैषम्य होना आवश्यक है, अतः गुणों में क्षोभ तथा उसके द्वारा वैषम्य या न्यूनाधिक्य उत्पन्न होता है। 'कैसे' का उत्तर कारिकाकार ने 'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः" ॥—इस २१ वीं कारिका में दिया है। इसका भाव यह है कि प्रकृति के दर्शन द्वारा पुरुष की कैवल्य-सिद्धि के लिए प्रकृति और पुरुष का 'संयोग' होता है, जिससे सृष्टि होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पुरुषार्थ-सिद्धके लिए प्रकृति और पुरुष का परस्पर संयोग होता है, और संयोग से प्रकृति के गुणों में क्षोभ होने से वैषम्य उत्पन्न होने पर विविध सृष्टि होती है। विज्ञानभिक्षु का 'क्षोभ से संयोग और उससे सृष्टि' का सिद्धान्त ठीक नहीं लगता।[1] यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि भोग एवं अपवर्ग के लिए अपेक्षित संयोग भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। भोग के लिए अपेक्षित संयोग का कारण अनादि

१. द्रष्टव्य सां० सूत्र ५।१०१ का विज्ञानभिक्षु-कृत भाष्य।

अविद्या है, जैसा कि 'तस्य हेतुरविद्या' इस योग-सूत्र से स्पष्ट है। यह संयोग तब तक बना रहेगा जब तक इसमें केवल भोग सम्पन्न होता रहेगा। इस अनादि संयोग के अन्त के लिए कैवल्य अपेक्षित है, जिसका कारण है प्रकृति और पुरुष का विवेक अर्थात् पुरुष का प्रकृति के स्वरूप को देखकर अपने को उससे विविक्त, अन्य या भिन्न समझ लेना। भोग के लिए अनादि संयोग होने पर भी कैवल्यानुभूति के लिए पुनः संयोग होता है। जैसा कि २० वीं कारिका के व्याख्यान में कौमुदीकार ने स्वयं भी कहा है—'अनादित्वाच्च संयोगपरम्पराया भोगाय संयुक्तोऽपि कैवल्याय पुनः संयुज्यते इति युक्तम्।' इसका तात्पर्य यह है कि भोग और अपवर्ग के लिए होने वाले संयोग एक नहीं, भिन्न हैं। संयोग की तो अनादि परम्परा है क्योंकि उसकी कारण-भूत अविद्या अनादि है। उसमें कोई संयोग-परम्परा भोग में हेतु है तो कोई दूसरी कैवल्य में।

यह सृष्टि, जैसा पहले संकेत किया जा चुका है, प्रकृति से महत्, उससे अहंकार, अहंकार से एक ओर तो एकादश इन्द्रियां और दूसरी ओर पाँच तन्मात्र तथा तन्मात्रों से पृथिवी, जल इत्यादि पाँच महाभूत—इस क्रम से होती है। यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि एक ही अहंकार से प्रकाशक इन्द्रियाँ तथा प्रकाश्य रूप, स्पर्श, शब्द इत्यादि तन्मात्र कैसे उत्पन्न होते हैं? एक ही कारण से दो पृथक् स्वभाव वाले कार्य कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? इसका उत्तर आगे के इन्द्रियोत्पत्ति-प्रकरण के अंतिम भाग में आयेगा। अतः वहीं द्रष्टव्य है।

सांख्य में इन्द्रियों की उत्पत्ति

विभिन्न भारतीय दर्शनों में इन्द्रियों की उत्पत्ति विभिन्न प्रकार से बताई गई है। इस सम्बन्ध में सांख्यशास्त्र की अपनी विशिष्ट प्रणाली है। पहली बात जो इसके सम्बन्ध में बताने की है वह यह है कि जहाँ न्याय तथा वेदान्त में इन्द्रियाँ भौतिक हैं, वहाँ सांख्य में वे आहङ्कारिक—अहंकार से उत्पन्न—मानी गई हैं। ईश्वरकृष्ण ने 'सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्' इत्यादि पच्चीसवीं कारिका में इन्द्रियों की उत्पत्ति सात्त्विक अहंकार से बताई है। 'सात्त्विकमेकादशकम्...' इत्यादि (सां सू० २।१८) में भी इन्द्रियों की उत्पत्ति सात्त्विक अहंकार से कही गई है। पुराणों में इन्द्रियाँ कहीं तो आहंकारिक और कहीं भौतिक कही गई हैं। "वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चे-त्यहं त्रिधा। अहन्तत्त्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूत्॥ वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः। तैजसादिन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च॥ तामसो भूत-

सूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः ॥'' इत्यादि पौराणिक वचनों में सात्त्विक अहंकार से इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव और मन, राजस अहंकार से दश इन्द्रियाँ, तथा तामस अहंकार से पञ्च तन्मात्रों की उत्पत्ति की प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। इसी का अनुसरण करते हुए सांख्य-सूत्रों के भाष्यकार विज्ञान भिक्षु ने अपने सांख्य-प्रवचन-भाष्य में ऊपर उद्धृत 'सात्त्विकमेकादशकम्' इत्यादि सूत्र का तदनुकूल अर्थ किया है। एवं सांख्य-कारिकाओं के अपने व्याख्यान में भी २५वीं कारिका पर व्याख्यान लिखते हुए "सात्त्विक एकादशकः इत्यनेन मनो ग्राह्यं, तैजासादुभयमित्यु भयपदेन च द्विविधमिन्द्रियं ग्राह्यम्[1]।" ऐसा लिखा है। इससे स्पष्ट है कि विज्ञान भिक्षु के मतानुसार केवल ग्यारहवीं इन्द्रिय मन ही सात्त्विक है, अन्य दसों इन्द्रियाँ आहंकारिक होनी हुई भी राजस हैं, सात्त्विक नहीं। सांख्य-सिद्धान्त की दृष्टि से विज्ञानभिक्षु का यह मत उचित नहीं प्रतीत होता। इसके विपरीत आचार्य वाचस्पति मिश्र की 'प्रकाशलाघवाभ्यामेकादशक इन्द्रियगणः सात्त्विको वैकृतात् सात्त्विकाहंकारात् प्रवर्तते, भूतादेस्त्वहंकारात् तामसात् तान्मात्रो गणः प्रवर्तते।...... तैजसात् राजसादुभयं गणद्वयं भवति। यद्यपि रजसो कार्यान्तिरमस्ति, तथापि सत्त्वतमसी स्वयमक्रिये समर्थे अपि न स्वस्वकार्यं कुरुतः, रजस्तु चलतया ते यदा चालयति तदा स्वकार्यं कुरुत इति।" इत्यादि पंक्तियाँ, जो उन्होंने २५ वीं कारिका पर व्याख्यान रूप में लिखी हैं, उचित एवं संगत प्रतीत होती हैं। २६ वीं कारिका पर भी व्याख्यान आरम्भ करते हुए उन्होंने इन्द्रियों को सात्त्विक अहंकार से ही उत्पन्न माना है— 'सात्त्विकाहंकारोपादानकत्वमिन्द्रियत्वम्'।

जैसा अभी ऊपर प्रदर्शित किया गया है, वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रतिपादित मत ही सांख्य-शास्त्र का सर्वमान्य मत प्रतीत होता है। यदि इस मत के विरुद्ध कोई यह शङ्का करे कि सभी इन्द्रियों के सात्त्विक होने पर कर्मेंद्रियाँ भी विषयों को क्यों नहीं प्रकाशित करतीं: उन्हें भी मन और ज्ञानेन्द्रियों की ही भाँति विषयों को प्रकाशित करना चाहिए, तो ऐसी ही शंका तो विज्ञानभिक्षु के भी मत के सम्बन्ध में होगी; क्योंकि सभी इन्द्रियाँ सात्त्विक नहीं है? पूर्व मत के विरुद्ध उठी हुई शङ्का का तो समाधान भी है और वह यह कि चूँकि उत्कृष्ट-सत्त्व-प्रधान अहंकार से मन, मध्यम-सत्त्व-प्रधान अहंकार से बुद्धीन्द्रियाँ

---

१. श्री बालराम उदासीन द्वारा का० २५ की विद्वत्तोषिणी में उद्धृत।

तमोगुणी—अप्रकाशक अर्थात् दूसरों का प्रकाश न करने वाले, अपितु प्रकाश्य अर्थात् दूसरे (इन्द्रियादि) से स्वयं प्रकाशित होने वाले—होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि सत्त्व, रजस् तथा तमस् के न्यूनाधिक-भाव से विविधता को प्राप्त हुए अहङ्कार से विविध तत्त्वों—मन, पांच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच तन्मात्रों—की सृष्टि होती है।

५. बाह्यार्थवाद

मूलतः प्रकृति के ही परिणाम या वास्तविक कार्य होने के कारण ये तन्मात्र, महाभूत इत्यादि, तथा इन महाभूतों के भी विकार-भूत ये सारे जागतिक पदार्थ भी प्रकृति की ही भाँति सत्य हैं, वास्तविक हैं। दूसरे शब्दों में इसी बात को इस प्रकार कह सकते हैं कि योग की ही भाँति सांख्य को भी बाह्य पदार्थों की सत्ता मानसिक व्यापार या चित्त-वृत्ति से पृथक् स्वतन्त्र रूप से मान्य है। कारिकाकार ने ११ वीं कारिका में 'विषयः' और 'सामान्यम्' शब्दों द्वारा तथा सूत्रकार ने 'न विज्ञानमात्रं, बाह्यप्रतीतेः' [सां० सू० १।४२] के द्वारा यही अभिप्राय प्रकट किया है। अतः विज्ञानवादी बौद्धों से सांख्य का स्पष्ट मतभेद है। सांख्य विज्ञानवादी नहीं, वस्तुवादी या विषयवादी है। जैसे सूक्ष्म अन्तःकरण अर्थात् बुद्धि, अहङ्कार तथा मन प्रकृति के परिणाम हैं, वैसे ही स्थूल आकाश इत्यादि पंच भूत, तथा उनका भी विशिष्ट परिणाम यह पाञ्चभौतिक जगत् भी प्रकृति के परिणाम हैं। अतः जैसे अन्तःकरण का परिणाम 'ज्ञान' सत् है, वैसे ही ज्ञान के विषय बनने वाले जगत् के स्थूल पदार्थ भी सत् हैं।

बाह्यार्थवाद का उपर्युक्त प्रतिपादन सांख्य के प्रसिद्ध सत्कार्यवाद पर आधारित या आश्रित है। अर्थात् बाह्यार्थवाद सत्कार्यवाद का ही न्यायोचित निष्कर्ष है, इन दोनों सिद्धान्तों में परस्पर सामञ्जस्य है, विरोध नहीं। जिन्हें सांख्य का सत्कार्य-वाद मान्य होगा, उन्हें उसका बाह्यार्थवाद भी मान्य होगा। जिन्हें उसका सत्कार्यवाद सिद्धान्ततः मान्य नहीं है, अथवा मान्य होने पर भी जो उसे बाह्यार्थवाद के लिये पर्याप्त हेतु नहीं मानते, उनके लिए सांख्यकारिकाकार ने ग्यारहवीं कारिका के 'विषय' एवं 'सामान्य' शब्दों द्वारा तर्क उपस्थित किया है। 'विषय' का अर्थ है—ग्राह्य अर्थात् विज्ञान से पृथक् स्वतन्त्र रूप से ग्रहण करने योग्य, एवं 'सामान्य' का अर्थ है—एक ही समय में अनेक पुरुषों द्वारा ग्राह्य। इसका तात्पर्य यह है कि यदि जगत्

के पदार्थ (शब्द, घट, पट इत्यादि) विज्ञान के ही रूप होते तो जैसे 'विज्ञान मानसिक व्यापार होने के कारण व्यक्तिगत होते हैं, वैसे ही ये पदार्थ भी व्यक्तिगत होते; अर्थात् जैसे दूसरे की बुद्धि के प्रत्यक्ष न होने के कारण एक का विज्ञान दूसरे को अज्ञात या अप्रत्यक्ष रहता है, वैसे ही शब्दादि पदार्थ भी जिस व्यक्ति के विज्ञान के रूप होते, उसी को प्रत्यक्ष होते। परन्तु चूँकि इनका प्रत्यक्ष सर्वसामान्य को होता है, अत: ये विज्ञान के रूप नहीं अपितु उससे पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ हैं। ऐसा मानने पर ही नर्तकी के एक ही कटाक्ष (जो शब्द इत्यादि की तरह हो व्यक्त पदार्थ है) का एक साथ ही अनेक पुरुषों को प्रतिसन्धान (प्रत्यभिज्ञान) होना सङ्गत है, अन्यथा ऐसा नहीं होना चाहिये।

सांख्यों के इस तर्क के विपरीत विज्ञान-वादी बौद्धों का कथन है कि स्वप्न में बाह्य पदार्थों के अभाव में भी स्वप्न-द्रष्टा पुरुष का विज्ञान (बुद्धि) ही घट पट, सर्प इत्यादि अनेक ग्राह्य विषयों का रूप धारण करके स्वयं ही उसका ग्राहक या ज्ञाता बनता है। अथवा जैसे जागरण-काल में भी बाह्य (वास्तविक) स्थिति के अभाव में सूर्य-मरीचियों में जल, शुक्ति में रजत (चांदी) अथवा रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है, उसी प्रकार जागरण-काल में भी प्रतीत होने वाले घट, पट, हस्ती आदि अन्य पदार्थ भी विज्ञान के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं, उसके बाहर उनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। यदि कोई यह शंका करे कि जब सभी पदार्थ एकमात्र विज्ञान के ही रूप हैं तो विज्ञान के एक होने पर भी नील, पीत इत्यादि रूप से पदार्थ-वैचित्र्य का आभास क्यों होता है, तो इसके उत्तर में विज्ञानवादियों का यह कहना है कि विज्ञान-गत यह वैचित्र्य व्यक्ति के वासना-गत वैचित्र्य के कारण है। स्वप्न में भी तो स्वप्न-द्रष्टा का ही विज्ञान घट, पट, हस्ती आदि विचित्र रूपों में प्रतीत होता है, वहाँ तो कोई बाह्य पदार्थ नहीं रहता। इसलिये जैसे स्वप्न-कालीन विज्ञान-वैचित्र्य पदार्थ-वैचित्र्य पर नहीं अपितु वासना-वैचित्र्य पर आश्रित होता है, उसी प्रकार जागरणकालीन पदार्थ-वैचित्र्य भी विज्ञान-वैचित्र्य के कारण होता है। यदि पूँछा जाय कि विज्ञान-वैचित्र्य ही क्यों होता है तो उसका कारण विज्ञानवादी व्यक्तिगत वासना-वैचित्र्य बताते हैं। यह वासना-वैचित्र्य भी अनादि अविद्या के कारण है।

ज्ञान और बाह्य वस्तुओं का अभेद-साधक एक हेतु विज्ञानवादी यह भी देते हैं कि जिस वस्तु की जिसके साथ नियत रूप से प्राप्ति होती है, वह उससे भिन्न नहीं होती; जैसे एक चन्द्र के साथ नियत रूप से प्राप्त होने वाला द्वितीय चन्द्र

उससे भिन्न नहीं होता है। इसी प्रकार ज्ञान के साथ नियत रूप से प्राप्त होने के कारण वस्तु उस ज्ञान से भिन्न नहीं है। "सर्वदर्शनसंग्रह" की "सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः। भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये॥" कारिका में यही बात कही गई है। इसका तात्पर्य यह है कि नील वस्तु, और तद्विषयक 'यह नीला है' यह ज्ञान—दोनों एक ही हैं, भिन्न नहीं। क्योंकि दोनों एक साथ ही प्राप्त होते हैं। चूंकि कोई भी वस्तु स्व-विषयक ज्ञान से पृथक् नहीं देखी जाती, इसलिये वह उस ज्ञान से भिन्न नहीं अपितु तद्रूप ही है; यदि दोनों भिन्न होते तो पृथक्-पृथक् प्राप्त होते, एक साथ न प्राप्त होते। यदि कोई कहे कि यदि वस्तु और स्व-विषयक ज्ञान में भेद नहीं है, वस्तु वस्तुतः स्व-ज्ञान रूप ही है तो दोनों में 'वस्तु' एवं 'वस्तु का ज्ञान' इस प्रकार का भेद क्यों और कैसे दिखाई पड़ता है, तो इसका उत्तर विज्ञानवादी बौद्ध यह देता है कि यह भेद मिथ्या या भ्रान्तिमूलक है, ठीक वैसे ही जैसे चन्द्र के एक ही होने पर भी उसमें दो चन्द्रों का दिखाई पड़ना।

बाह्यार्थवाद के विरुद्ध विज्ञानवाद का समर्थन करने वाले ये दोनों ही तर्क विचार करने पर असत् प्रतीत होते है, और बालू की भीत की भाँति ढहते दिखाई पड़ते है। 'जैसे स्वप्न-कालीन घट, पट, मठ, हस्ती इत्यादि पदार्थ जागरण-काल में न तो प्रतीत होते है एवं न रहते ही हैं, केवल स्वप्न-काल का तत्तद्विषयक ज्ञान ही रहता है [क्योंकि उसके (सत्य) न होने पर तो जागरण-काल में होने वाला उसका स्मरण भी न होता], उसी प्रकार जागरण-काल के पदार्थ भी वस्तुतः नहीं हैं अर्थात् अपने-अपने ज्ञान से पृथक् प्रसिद्ध नही हैं,' विज्ञानवादियों का यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि इसका आधार स्वप्न और जागरण का पारस्परिक सादृश्य है जो सर्वथा असिद्ध है। उल्टे दोनों का वैषम्य या वैधर्म्य ही प्रत्यक्ष-सिद्ध है। स्वप्न-काल के बोध का बाध या प्रत्याख्यान अवान्तर (जागरण) काल में प्रत्यक्ष से सिद्ध है, परन्तु जागरण काल के बोध का बाध प्रत्यक्ष या किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध नही है। कृष्ण द्वैपायन व्यास ने 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' (ब्रह्मसूत्र २।२।२) के द्वारा यही भाव प्रकट किया है। जब दृष्टान्त (स्वप्न) और दार्ष्टान्तिक (जागरण) में साधर्म्य के स्थान मे वैधर्म्य है, तब दृष्टान्त-गत धर्म अर्थात् स्वाप्निक पदार्थों की अवास्तविकता का दार्ष्टान्तिक अर्थात् जागरण-काल के पदार्थों में अनुमान कैसे हो सकता है? दृष्टान्त असिद्ध होने पर भी भला कहीं अनुमान सिद्ध होता है?

विज्ञानवादियों का दूसरा तर्क भी विचार करने पर इसी प्रकार असत् या

दूषित सिद्ध होता है। निःसन्देह पदार्थ और उसके ज्ञान के विषय में तथाकथित सहोपलब्धि का नियम, जिससे वे दोनों को एक सिद्ध करते हैं, सूक्ष्म विचार की कसौटी पर कसे जाने पर खरा नहीं उतरता। यह सहोपलम्भ का नियम आखिर है क्या? यदि इसका अर्थ 'साहित्येनोपलम्भः' अर्थात् पदार्थ और उसके ज्ञान का साथ-साथ पाया जाना है, तब तो इसके बल पर दोनों की एकता क्या ही सिद्ध होगी? हाँ, इसके उल्टे दोनों की भिन्नता तो अवश्य ही सिद्ध होगी; क्योंकि अभेद-विरुद्ध भेद से व्याप्त होने के कारण यह 'सहोपलम्भ' हेतु विरुद्ध हेतु है, अतः 'विरुद्ध' हेत्वाभास है, और हेत्वाभास से प्राप्त होने वाला ज्ञान 'प्रमा' नहीं, 'प्रमाभास' होगा। यही बात इस प्रकार से कही जा सकती है कि 'सहोपलम्भ' और 'अभेद' वस्तुतः एक-दूसरे के विरोधी हैं, दो भिन्न वस्तुओं का ही सहोपलम्भ हो सकता है, सहोपलम्भ या साहचर्य के लिए 'भेद' अर्थात् कम से कम दो वस्तुओं का होना अनिवार्य है, अभेद में अर्थात् वस्तु के एक ही होने पर किसका किससे साहचर्य होगा, अपना अपने ही से तो साहचर्य होता नही। यदि 'सहोपलम्भ' हेतु का विरुद्धत्व दोष मिटाने के लिए उसका अर्थ 'एकोपलम्भ' किया जाय तो यह भी असंगत ही है; क्योंकि 'सह' का अर्थ 'एक' तो होता ही नहीं। अच्छा यदि इसका अर्थ 'एक' मान भी लें तो भी पूर्व असंगति ज्यों की त्यों बनी रहती है, क्योंकि ज्ञान के विषय बनने वाले पदार्थ या वस्तु के बाह्य होने, तथा उस ज्ञान के आन्तरिक होने के कारण दोनों की एक रूप से उपलब्धि असम्भव है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सांख्य शास्त्र न्याय, वैशेषिक, योग इत्यादि की भाँति ही बाह्यार्थवादी है। वैसे तो वेदान्त भी विज्ञानवादी नहीं, बाह्यार्थवादी ही है, जैसा कि ऊपर 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' इत्यादि ब्रह्मसूत्र के उद्धरण से स्पष्ट है, पर शाङ्कर वेदान्त बाह्य अर्थों या विषयों को न्याय, सांख्य, योग इत्यादि की भाँति 'वस्तुतः' सत् नहीं मानता, परमार्थतः सत्य नहीं कहता, अपितु 'व्यवहारतः' ही सत्य मानता है। उसकी यह मान्यता उसकी परमार्थ-विषयक मान्यता "अद्वैत" के सर्वथा अनुसार ही है।

६. स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर

पूर्व जिन तन्मात्रों की चर्चा कर आये हैं, उनकी सांख्य शास्त्र में दूसरी संज्ञा 'अविशेष' है। एवं उनसे उत्पन्न होने वाले महाभूतों की संज्ञा 'विशेष' है[1]।

---

१. द्रष्टव्य कारिका ३८ :—तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः। एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥

किस वैशिष्ट्य के कारण ये महाभूत 'विशेष' कहलाते हैं, जिसके अभाव के कारण तन्मात्र 'अविशेष' कहे जाते हैं ? इसका उत्तर ईश्वरकृष्ण ने का० ३८ के अन्तिम शब्दों में दिया है जिसका भाव यह है कि चूँकि आकाश, वायु इत्यादि स्थूल विषयों में कुछ सत्त्व-प्रधान होने के कारण शान्त सुखात्मक, प्रकाश-रूप और लघु, कुछ रजः-प्रधान होने के कारण घोर, दुःखात्मक और चंचल, तथा कुछ तमः-प्रधान होने के कारण मोहात्मक, विषाद-रूप और गुरु (भारी) होते हैं, इसलिए ये परस्पर पृथक्-पृथक् रूप से अनुभव किये जाने के कारण 'विशेष' और 'स्थूल' कहलाते हैं। इसके विपरीत तन्मात्र हम लोगों (प्राकृत जनों) के द्वारा पृथक्-पृथक् अनुभूत न होने के कारण 'अविशेष' और 'सूक्ष्म' कहलाते हैं।

विशेष या स्थूल विषयों के तीन प्रकार या अवान्तर भेद होते हैं। ये सूक्ष्म शरीर, माता-पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर, तथा पञ्च महाभूत हैं। इनमें स्थूल शरीर, जिसके चर्म (त्वक्) रक्त तथा मांस माता से तथा स्नायु (नसें), अस्थि एवं मज्जा पिता से उत्पन्न होते हैं, अनित्य या नश्वर होते हैं, क्योंकि गाड़े जाने पर वे पृथ्वी-भाव को प्राप्त हो जाते हैं, जलाये जाने पर भस्म बन जाते हैं, एवं व्याघ्र इत्यादि से खा लिये जाने पर पच कर मल बन जाते हैं। इनके विपरीत सूक्ष्म शरीर नियत अर्थात् नष्ट न होने वाले होते हैं[1]।

सूक्ष्म शरीर की दूसरी संज्ञा 'लिङ्ग' शरीर भी है। साधना की दृष्टि से इसका बड़ा महत्त्व सांख्य शास्त्र में ही नहीं, अन्यत्र भी है। अतः इसके स्वरूप पर थोड़ा विस्तार के साथ विचार कर लेना उचित होगा। सांख्य-कारिका में इसे महत् (बुद्धि), अहङ्कार, ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच तन्मात्र—इन अठारह तत्त्वों का बना हुआ, सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न, नियत, भोग-रहित, धर्माधर्म भावों के संस्कारों से युक्त एवं संसरण करने वाला बताया है।[2] वेदान्त में भी सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर की कल्पना है, पर सांख्यशास्त्र-गत सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर से वेदान्तीय सूक्ष्म शरीर थोड़ा भिन्न है। जहाँ सांख्य में सूक्ष्म शरीर अठारह तत्त्वों से बना माना जाता है, वहाँ वेदान्त में उसे सत्रह तत्त्वों से ही बना माना जाता है। वेदान्त अहङ्कार का अन्तर्भाव मन इन्द्रिय में कर लेता

---

१. द्रष्टव्य का० ३९ :—सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः। सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥

२. द्रष्टव्य सां० का० ४० :—पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्। संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥

है। इसके अतिरिक्त एक भेद और है, वह यह है कि सांख्य के पाँच तन्मात्रों के स्थान में वेदान्त पाँच प्राण मानता है। पर सांख्य और वेदान्त, दोनों ही सूक्ष्म शरीर से प्राय: एक-से प्रयोजन की सिद्धि मानते हैं। यह प्रयोजन पुरुष का संसरण है। इसी सूक्ष्म शरीर के द्वारा पुरुष (आत्मा) जगत् में विभिन्न योनियो में संसरण करता रहता है। यह कभी मनुष्य बनता है तो कभी पशु, और कभी वनस्पति इत्यादि। इस प्रकार परशुराम, युधिष्ठिर, उदयन आदि अनेक पुरुषों का रूप धारण करने वाले नट[1] की भाँति यह सूक्ष्म शरीर अनेक योनियों में उत्पन्न होकर अनेक शरीर धारण करता है।

वस्तुत: तो यह सूक्ष्म शरीर ही विभिन्न योनियों में संसरण करता है किन्तु अनादि अविद्या के कारण पुरुष या आत्मा उसके साथ अपना तादात्म्य या अभेद ग्रहण करने के कारण उस संसरण अर्थात् जन्म-मरण को, एवं उससे होने वाले दु:ख को अपना ही समझता है।[2] यही उसका बन्धन है और इसी से छुटकारा पाने के लिये सारी आध्यात्मिक साधना बताई गई है। यह छुटकारा अज्ञान के मिटने पर ही मिल सकता है, अथवा इसे और अच्छे ढंग से इस प्रकार कह सकते हैं कि अज्ञान से मुक्ति ही जन्म-मरण से मुक्ति है, दु:खों से मुक्ति है। अज्ञान से मुक्ति दिलाने वाला ज्ञान ही हो सकता है। अत: सारी आध्यात्मिक साधना वस्तुत: ज्ञान ही के लिये की गई साधना है। यह ज्ञान वस्तुत क्या है? और इसकी साधना क्या है? ज्ञान है—'नास्ति, न मैं, नाऽहम्' की अनुभूति और इसकी साधना है—'गुरु की सहायता से अध्यात्म-शास्त्रों से तत्त्व अर्थात् स्वरूप या आत्मा के विषय में 'नास्ति, न मे, नाऽहम्' (अर्थात् मैं अकर्त्ता, अभोक्ता एवं अपरिणामी आत्मा हूँ—इस सत्य) को जानकर श्रद्धा-पूर्वक दीर्घ काल तक निरन्तर भावना करते जाना, जब तक पूर्वोक्त अनुभूति न हो जाय, जब तक इस सत्य का साक्षात्कार न हो जाय।[3] चूँकि सत्य या तत्त्व के विषय में किया गया अभ्यास उसी का साक्षात्कार उत्पन्न करता है, इसी लिये यह ज्ञान 'विशुद्ध'

---

१. द्रष्टव्य सां० का० ४२ :—पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन। प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्॥

२. द्रष्टव्य सां० का ६२ :—तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥

३. द्रष्टव्य सा० का० ६४ :—एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥

अर्थात् संशय एवं विपर्यय से अमिश्रित होता है और विपर्यय या मिथ्या ज्ञान से अमिश्रित होने के कारण ही 'केवल' कहा जाता है। इसीलिये ज्ञानी को 'केवली' और ज्ञान से प्राप्त होने वाले जन्म-जरा-व्याधि-मृत्यु इत्यादि दुःखों के विनाश को 'कैवल्य' (मोक्ष) कहते हैं। एक शंका यहाँ अवश्य उठती है, वह यह है कि अविद्या तो अनादि है, अतः उससे सतत उत्पन्न होते रहने वाले मिथ्या-ज्ञान से जन्म-मरण सदा ही होते रहेंगे, उनसे कभी छुटकारा होगा ही नहीं। इसका समाधान यह है कि अविद्या-संस्कार अनादि होने पर भी सान्त है—नष्ट होने वाला है, और उसका यह अन्त या विनाश उसकी अपेक्षा अभिनव ज्ञान-संसार से भी हो जायगा। क्योंकि तत्त्वोन्मुखता बुद्धि का स्वभाव ही है, जैसा कि वेद बाह्यों (बौद्धों) ने भी कहा है :—"मिथ्या ज्ञान (के संस्कारों) से वस्तु-स्वरूप के निर्दोष (विशुद्ध) ज्ञान का कभी भी बाध नहीं हो सकता क्योंकि बुद्धि स्वभावतः (अप्रयास) ही तत्त्वज्ञानोन्मुखी होती है।"[१] इस अवस्था में जीव को बाँधने वाला अज्ञान लेश-मात्र भी नहीं अवशिष्ट रहता, इसी से ज्ञान को 'अपरिशेष'—'अविद्यमानः परिशेषः किञ्चिदवशिष्टं ज्ञातव्यं यस्मिन् तत्'—कहा गया है।[२]

७. कैवल्य या अपवर्ग

पूर्वोक्त ज्ञान ज्यों ही हुआ अर्थात् साधक ने ज्यों ही यह अनुभव कर लिया कि कर्त्री, भोक्ती एवं परिणामिनी प्रकृति से अकर्ता, अभोक्ता एवं अपरिणामी पुरुष 'मैं' सर्वथा विविक्त—पृथक हूँ त्यों ही पुरुष प्रकृति से उदासीन हो जाता है और प्रकृति भी पुरुष की ओर से उपरत हो जाती है अर्थात् उस पुरुष के प्रति अपना भोगादि व्यापार बन्द कर देती है। इस प्रकार दोनो का संयोग रहने पर भी सृष्टि—प्रकृति-व्यापार—का उस पुरुष के प्रति कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है। सत्य बात यह है कि जब तक प्रकृति पुरुष में विवेक-ख्याति नहीं

---

१. "निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययै। न बाधोऽयत्नवत्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः" ॥ —सां का० ६४ की तत्त्वकौमुदी मे उद्धृत

२. द्रष्टव्य पूर्व उद्धृत सां० का० ६४।

३. द्रष्टव्य का० ६७ :—दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या। सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥

उत्पन्न कर पाती, तभी तक वह शब्द इत्यादि विषयों का बार-बार भोग कराती है। परन्तु एक बार विवेक-ख्याति उत्पन्न कर चुकने पर वह फिर भोग नहीं उत्पन्न करती, क्योंकि भोग तो अविवेक के कारण होता है, उसके अभाव में नहीं; जैसे बीज के अभाव में उसका कार्य अंकुर नहीं होता। प्रकृति से अपने को विविक्त या भिन्न न समझने के कारण पुरुष सुख, दुःख और मोह उत्पन्न करने वाले शब्द, स्पर्श इत्यादि प्रकृति-परिणामों को 'ये मेरे हैं'—ऐसा अभिमान करता हुआ उन्हें भोगता है। इसी प्रकार प्रकृति-जन्य विवेक-ज्ञान को भी वह समझता है कि 'यह मेरे लिये है'। परन्तु विवेक-विज्ञान उत्पन्न हो चुकने पर अविवेक-रहित हो जाने के कारण वह न तो शब्द इत्यादि का भोग ही करता है, न प्रकृति-जन्य विवेक-ज्ञान को ही अपने लिये समझता है; और भोग एवं विवेक-ज्ञान तभी तक प्रकृति-कृत सर्ग में कारण बनते हैं, जब तक ये 'पुरुषार्थ' अर्थात् पुरुष के लिए अर्थनीय अर्थात् प्राप्तव्य विषय रहते है। ज्यों ही ये 'पुरुषार्थ' (अर्थात् प्राप्त हो जाने के कारण 'पुरुष के लिये प्रातव्य') नहीं रहे त्यों ही ये प्रकृति-कृत सर्ग के प्रयोजक भी नहीं रह जाते।

इस प्रकार इस सम्पूर्ण विशुद्ध ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर सञ्चित धर्मा-धर्म—शुभाशुभ कर्मों—का बीज-भाव या फलोत्पादकत्व नष्ट हो जाता है परन्तु 'प्रारब्ध' कर्मों—जिनसे विशिष्ट योनि वाला वर्तमान जन्म तथा इस जन्म के सुख-दुख भोग प्राप्त हुये हैं—के अवशिष्ट संस्कार भोग से ही क्षीण होंगे, ज्ञान से नहीं। अतः उनके सामर्थ्य से साधक, जो अब सिद्ध हो चुका है, वैसे ही शरीर धारण किये रहता है, जैसे दण्ड से चलाई गई कुम्हार की चाक पूर्व उत्पन्न वेग से चलती रहती है। जैसे वेग के समाप्त हो जाने पर चाक चलना बन्द कर देती है, वैसे ही अवशिष्ट प्रारब्ध-संस्कार के क्षीण हो जाने पर शरीर भी व्यापार करना बन्द कर देता है, नष्ट हो जाता है। इस विषय में ईश्वरकृष्ण की यह उक्ति सर्वथा संगत है:—"सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ। तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः॥ प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ। ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति॥" [सां० का० ६७, ६८]

अनुभवात्मक या साक्षात्कारात्मक ज्ञान होने से लेकर शरीर नष्ट होने तक के बीच की स्थिति 'जीवन्मुक्ति कहलाती है, एवं शरीर नष्ट होने के बाद की अनवधि एवं अनन्त स्थिति 'विदेहमुक्ति'। यही कैवल्य या अपवर्ग भी है।

इसी अपवर्ग—जन्मादि एवं उसमें होने वाले दुःख-त्रय के आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक विनाश—को सिद्धि के लिये सांख्य शास्त्र प्रवृत्त हुआ था। इस लक्ष्य को सिद्धि तक का सारा मार्ग तै कर चुकने के अनन्तर यह शास्त्र 'चरितार्थ—चरितः अनुष्ठितः अर्थ स्वप्रवृत्तिप्रयोजनं येन तत्—हो जाता है, 'समाप्त—'साम्यक् आप्तः अर्थः स्वप्रयोजनं येन तत्—हो जाता है। प्रत्येक कार्य की समाप्ति उस प्रयोजन की सिद्धि में होती है जिसे लेकर वह आरम्भ होता है, इस नियम के अनुसार दुःख-त्रय-प्रशम रूप अपवर्ग की सिद्धि के प्रयोजन से आरम्भ किये गये शास्त्र की, उस प्रयोजन की निष्पत्ति में ही 'समाप्ति'—पर्यवसान—सर्वथा स्वाभाविक है।



साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां नमामः ॥
अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते
जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान् ॥१॥

अर्थ—स्वयं अनुत्पन्न होकर भी महत् इत्यादि कार्यों को उत्पन्न करने वाली, एक होकर भी रजस्सत्त्वतमोरूप त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति को हम नमस्कार करते हैं। अपने सुखादि भोगों द्वारा सेवा करती हुई उस प्रकृति का जो अनुसरण करते हैं (उसके धर्मों या गुण, क्रियादि का अपने मे आरोप करते हैं,) उन बद्ध तथा जो समस्त भोग सम्पादित कर देने पर उसे अनात्म वस्तु समझ कर सदा के लिये छोड़ देते हैं, उन वस्तुतः कभी भी जन्म न लेने वाले मुक्त पुरुषों को भी नमस्कार है ॥१॥

विशेष—शिष्टानुमत श्रुत्युक्त मङ्गलाचरण की कर्त्तव्यता का पालन करते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने श्वेताश्वतर श्रुति में प्रकृति तथा मुक्तामुक्त उभयविध पुरुष के विषय में कहे गए "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।" इस मंत्र को प्रयोजनानुसार अंशतः परिवर्तित करके प्रस्तुत रूप मे रक्खा है। 'प्रकर्षेण व्यक्तरूपेण जायन्ते आविर्भवन्ति इति प्रजाः महदादयो विकाराः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मूल का 'प्रजा' शब्द महदादि कार्यों के लिये प्रयुक्त हुआ है। मूल के लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण शब्द अभिधा के द्वारा तद्रूपविशेष के वाचक होते हुए भी इस स्थल में लक्षणा के द्वारा रजस् सत्त्व तथा तमस् के बोधक हैं। लाक्षणिक अर्थ लेने का आधार यह है कि यद्यपि ये वर्ण इन गुणों में वस्तुतः विद्यमान नहीं हैं, तथापि जैसे लोहित या रक्त वर्ण वस्त्र को रंग देता है, उसी प्रकार रजस् भी प्रवृत्ति के द्वारा मन को रंग देता है। इसी प्रकार जैसे स्वच्छ जल मल को धो देता है, उसी प्रकार सत्त्व भी ज्ञानादि द्वारा मन को विमल कर देता है, एवं जैसे कृष्ण मेघ पटल आकाशादि को ढंक देता है, उसी प्रकार तमस् भी अज्ञान या मोह के द्वारा ज्ञानादि को

ढँक देता है। यद्यपि सुख-स्वरूप होने के कारण सत्त्व की प्रधानता होने से उसी का सर्व प्रथम ग्रहण होना उचित था, तथापि रजस् के सृष्टि-प्रवर्तक होने के कारण उसका ग्रहण सर्व प्रथम एवम् तदनन्तर स्थिति-दशा में ही उत्पन्न कार्यों का प्रकाशक होने के कारण सत्त्व का ग्रहण उसके बाद, तथा प्रकाशित वस्तुओं के ही स्वरूपावरण-रूप विनाश (सांख्य-मत में वस्तु का विनाश उसका स्वरूपतः अभाव नहीं अपितु उसके स्वरूप का आवरण या तिरोधान-मात्र होता है) को उपस्थित करने के कारण तमस् का ग्रहण सब के अन्त में हुआ है।

उपर्युक्त श्लोक से सांख्य शास्त्र का यह अभिधेय या प्रतिपाद्य विषय ध्वनित होता है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही कर्त्री है, भोगापवर्ग-रूप पुरुषार्थ ही उसकी प्रवृत्ति का हेतु है, पुरुष वस्तुतः उदासीन होकर भी प्रकृति के धर्म या क्रियादि को अपने में आरोपित करने के कारण कर्तृत्व, भोतृत्व इत्यादि बन्धनों में पड़ता है, और भोग-समाप्ति एवम् शास्त्रज्ञानाभ्यास से उत्पन्न (मैं प्रकृति से पृथक्, एवम् उसके कर्तृत्व, भोक्तृत्व इत्यादि गुणों से निर्लिप्त हूँ—एवंविध) विवेकख्याति या तत्त्वज्ञान के द्वारा अपने असंगत्व का अनुभव करके बन्धन-विहीन 'केवली' हो जाता है।

श्वेताश्वतरश्रुत्युक्त—"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥" इस मन्त्र के अनुसार देव-वन्दना की भाँति गुरु-वन्दना की भी कर्त्तव्यता समझते हुए आचार्य साङ्ख्य-शास्त्र की गुरु-परम्परा की भी वन्दना कर रहें—

कपिलाय महामुनये मुनये शिष्याय तस्य चासुरये।
पञ्चशिखाय तथेश्वरकृष्णायैते नमस्यामः ॥२॥

अर्थ—महातपस्वी कपिल, उनके शिष्य आसुरि मुनि, (उनके भी शिष्य) पञ्चशिख, तथा ईश्वरकृष्ण को प्रसन्न करने के लिये (शास्त्र ज्ञान के लिये अपेक्षित उनका अनुग्रह प्राप्त करने के लिये) नमस्कार करते हैं।

विशेष—(i) आचार्य माठर ने साङ्ख्य-कारिकाओं की स्वरचित वृत्ति के आरम्भ में ही 'स (आसुरिः) एवम् गृहस्थधर्ममपहाय पुत्रदारादिकं च प्रव्रजितो भगवतः किल कपिलाचार्यस्य योगिनः प्राणाः शिष्यो बभूव (द्रष्टव्य माठरवृत्ति, चौखम्भा संस्कृतसिरीज नं० २६६ प्रकाशन, पे० २)—ऐसा लिख कर आसुरि मुनि की कपिलाचार्य-शिष्यता प्रतिपादित की है। भागवत के पंचमे कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्। प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वाग्रामविनिर्णयम् ॥"

(द्रष्टव्य भागवत, प्रथमस्कंध, अ० ३, श्लोक १०)—श्लोक से भी यही बात स्पष्ट होती है। इस ग्रन्थ की ७० वीं कारिका से भी यही बात सिद्ध होती है कि कपिलाचार्य ने सर्वप्रथम यह ज्ञान आसुरि को तथा आसुरि ने पञ्चशिख को दिया था। आचार्य पञ्चशिख ने भी लिखा है—'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच'। आचार्य आसुरि के शिष्य आचार्य पंचशिख थे, यह बात महाभारत से ज्ञात होती है—आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम्। पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः। पंचज्ञः पंचकृत् पंचगुणः पञ्चशिखः स्मृतः॥ (महा० पर्व १२, अ० २१८, श्लो० १२)

(ii) श्लोक के 'नमस्यामः' क्रिया-पद का कर्म होने के कारण 'कपिल' इत्यादि शब्दों मे 'कर्मणि द्वितीया' सूत्र से द्वितीया होनी चाहिये परन्तु 'कपिलं प्रीणयितुम्' इस विशिष्ट अर्थ में 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' सूत्र के अनुसार चतुर्थी हुई है। इसलिये 'प्रसन्न करने के लिये' (शास्त्रज्ञान के लिये अपेक्षित उनका अनुग्रह प्राप्त करने के लिये)—ऐसा अनुवाद किया गया है।

[अब प्रस्तुत 'सांख्यकारिका' नामक शास्त्र की रचना का विशिष्ट प्रयोजन प्रकट करने की दृष्टि से भूमिका बाँधते हुये कहते हैं :—]

इह खलु प्रतिपित्सितमर्थं प्रतिपादयिताऽवधेयवचनो भवति प्रेक्षावताम्। अप्रतिपित्सितमर्थं प्रतिपादयन् नायं लौकिको नापि परीक्षकः इति प्रेक्षावद्भिरुन्मत्तवदुपेक्ष्येत। स चैषां प्रतिपित्सितोऽर्थो यो ज्ञातः सन् परमपुरुषार्थाय कल्पते इति प्रारिप्सितशास्त्रविषयज्ञानस्य परमपुरुषार्थसाधनहेतुत्वात् तद्विषयजिज्ञासामवतारयति।

अर्थ—जगत् में उसी वक्ता या उपदेष्टा के वचन में बुद्धिमानों को श्रद्धा होती है जो उनके जिज्ञासित विषय का प्रतिपादन एवं बोध कराता है। इसके विपरीत अजिज्ञासित विषय के प्रतिपादक पुरुष को बुद्धिमान् जन—'यह व्यक्ति न व्यवहारज्ञ[1] ही है और न शास्त्रज्ञ[2] हो—ऐसा कहकर

१. लोके भवः सत्तावान् न विद्वद्गोष्ठ्यामुपवेष्टुमर्हतीति लौकिकः, व्यवहारज्ञः शास्त्रीयसंस्कारविधुरः नरः।—बालरामोदासीनः।

२. परि परितः सर्वतः प्रमाणैस्तर्केण च ईक्षते वस्तुतत्त्वं निश्चिनोतीति परीक्षकः शास्त्रज्ञ इति। यथोक्तं न्यायभाष्यकारेण वात्स्यायनमुनिना—लोकसाम्यमनतीता लौकिकाः नैसर्गिकं वैनयिकं बुद्ध्यतिशयमप्राप्ताः, तद्विपरीताः परीक्षकास्तर्केण प्रमाणैरर्थं परीक्षितुमर्हन्तीति।

उन्मत्त की भाँति उसकी उपेक्षा करते हैं; और जिसका ज्ञान मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ होता है, वही बुद्धिमानों का ज्ञातव्य विषय होता है। चूंकि प्रारम्भ किये जाने वाले शास्त्र के विषय-भूत २५ तत्त्वों का निर्णयात्मक ज्ञान ही मोक्षरूप परम पुरुषार्थ के साधन-भूत विवेक-ज्ञान का कारण या उत्पादक है, इसलिये कारिकाकार इस प्रकार के शास्त्र के विषय में जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुये कहते हैं :—

दुःखत्रयाभिघाताज्[1] जिज्ञासा तदपघातके[2] हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्तोऽभावात् ॥१॥

अर्थ—आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—इस त्रिविध दुःख के प्रहार से उसको दूर करने वाले शास्त्रीय साधन या उपाय के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। यदि कोई यह कहे कि दुःख-विनाश का लौकिक उपाय विद्यमान होने के कारण वह शास्त्र-जिज्ञासा व्यर्थ है, तो (उसका उत्तर यह है कि) ऐसी बात नहीं है क्यों उससे दुःख-त्रय की अनिवार्य-रूप से सार्वकालिक निवृत्ति नहीं होती।

विशेष—ग्रन्थ का आरम्भ 'दुःख' शब्द से नहीं होना चाहिए क्योंकि यह अमङ्गलसूचक है और मङ्गल से आरम्भ होने वाला ग्रन्थ या शास्त्र प्रसिद्धि प्राप्त करता है तथा उसके अध्येता अभीष्ट अर्थ प्राप्त करते हैं। कहा भी गया है :—"मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि च भवन्ति अध्येतारश्च मङ्गलेनाभिहितसंस्काराः शास्त्रार्थानाशु प्रतिपद्यन्ते।" इस प्रकार 'दुःख' पद से ग्रन्थ का आरम्भ अनुचित है। इस शङ्का का समाधान यह है कि यद्यपि 'दुःख' पद अमङ्गल-वाचक है, तथापि समस्त वाक्य तो दुःख प्रहाण रूप मङ्गलार्थ का ही वाचक है और समूचे वाक्यार्थ से पृथक् 'दुःख' पद के अर्थ की कोई सत्ता नहीं है। क्योंकि वस्तुतः विशिष्ट अर्थ के अवाचक पृथक्-पृथक्

---

१. न्यायमते अभिघातो नाम शब्दजनकसंयोगः, सांख्यमते तु अभिघातो नाम बन्धजनकसंयोगः। दुःखं बुद्धितत्त्वे वर्तते, आत्मापि प्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन बुद्धितत्त्वे वर्तते; तत्रात्मप्रतिबिम्बे दुःखं संक्रामति, तद्दुःखमात्मनः प्रतिकूलवेदनीयं भवति, अतः प्रतिकूलवेदनीयत्वापराभिधानः बन्धजनकसंयोगः दुःखत्रयेण सह आत्मनः सम्बन्धः।— किरणावली पृ० १६२

२. तदभिघातके—गौड०, माठर; तदवघातके—जय०

पद निरर्थक होते हैं, समस्त पदों के परस्पर सहयोग से निकलने वाला विशिष्ट अर्थ रूप वाक्यार्थ ही सार्थक होता है—'पृथङ् निविष्टतत्त्वानां पृथगर्थाभिपातिनाम्। इन्द्रियाणां यथा कार्यमृते देहान्न लभ्यते ॥ तथैव सर्वशब्दानां पृथगर्थाभिधायिनाम्। वाक्येभ्यः प्रविभक्तानामर्थवत्ता न लभ्यते' ॥ इस प्रकार 'दुःख' पद का समूचे वाक्य से पृथक् कोई अर्थ न होने तथा समूचे वाक्य के मङ्गलार्थ-परक होने से पूर्व शंका निर्मूल सिद्ध होती है।

एवं हि शास्त्रविषयो न जिज्ञास्येत यदि दुःखं नाम जगति न स्यात् सद् वा न जिहासितम्, जिहासितं वा अशक्यसमुच्छेदम्। अशक्यसमुच्छेदता च द्वेधा—दुःखस्य नित्यत्वात्, तदुच्छेदोपायापरिज्ञानाद् वा। शक्यसमुच्छेदत्वेऽपि च शास्त्रविषयस्य ज्ञानस्यानुपायत्वाद्वा, सुकरस्योपायान्तरस्य सद्भावाद्वा।

तत्र न तावद् दुखं नास्ति, नाप्यजिहासितमित्युक्तम्—'दुःखत्रयाभिघातात्" इति।

अर्थ—यदि जगत् में दुःख न हो, अथवा होने पर भी उसको छोड़ने की इच्छा न हो, अथवा छोड़ने की इच्छा होने पर भी उसके नित्य होने के कारण या विनाश के उपाय के अज्ञान के कारण उसकी निवृत्ति सम्भव न हो, अथवा निवृत्ति सम्भव होने पर भी प्रस्तुत शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय—प्रकृति तथा पुरुष का विवेक-ज्ञान—उस दुःख की निवृत्ति का उपाय न हो, अथवा वैसा होने पर भी इस विवेक-ज्ञान की अपेक्षा कोई सुलभ एवं सरलतर उपाय हो तो इसके विषय में जिज्ञासा कदापि न होगी। परन्तु जगत् में दुःख है नहीं अथवा होने पर भी उसकी निवृत्ति किसी को अभीष्ट नहीं है - ऐसी बात नहीं है। इसीलिये शास्त्रकार ने कहा—'दुःखत्रयाभिघातात्।'

दुःखानां त्रयं दुःखत्रयम्। तत् खलु आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम् आधिदैविकञ्च। तत्राध्यात्मिकं द्विविधम्—शरीरं मानसं च। शरीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम्। मानसं कामक्रोधलोभमोहभयेर्ष्याविषादविषयविशेषादर्शननिबन्धनम्। सर्वञ्चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम्।

अर्थ—दुःख तीन प्रकार के हैं:—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधि-

दैविक। इनमें से आध्यात्मिक[१] दुःख शारीरिक और मानसिक रूप से दो प्रकार का होता है। बात, पित्त और कफ नामक त्रिदोष की विषमता से उत्पन्न दुःख को 'शारीरिक', तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह (अज्ञान) 'भय, ईर्ष्या (परोत्कर्षा-सहिष्णुता) विषाद (प्रिय पदार्थ के विनाश से उत्पन्न व्याकुलता) तथा सुन्दर शब्द, स्पर्श आदि श्रेष्ठ विषयों की अप्राप्ति[२] से उत्पन्न दुःख को 'मानसिक' कहते हैं। ये सभी दुःख आन्तरिक[३] उपायों से साध्य[४] या निवर्तनीय होने के कारण आध्यात्मिक कहलाते हैं।

विशेष—(i) वस्तुतः शारीरिक दुःख भी दो प्रकार का होता है—एक नैसर्गिक, जैसे अशनाया (भूख), पिपासा इत्यादि से उत्पन्न, दूसरा त्रिदोष-जन्य, जैसे ज्वर, अतिसार इत्यादि। प्रस्तुत स्थल में प्रथम का व्यक्त रूप से ग्रहण न होने पर भी दूसरे को उसका भी उपलक्षण जाना चाहिए।

(ii) यद्यपि सभी दुःख मन का धर्म होने के कारण मानसिक ही होता है, अतएव आध्यात्मिक (शारीरिक, मानसिक) अधिभौतिक और आधिदैविक रूप से उसका विभाजन सम्भव नहीं है, तथापि यहाँ ऐसा इस दृष्टि से किया गया है कि जिसमें केवल मन की अपेक्षा हो, वह तो मानसिक और जिसमें

१. आत्मनि देहे मनसि वेति आध्यत्मम् । तत्र जायमानमाध्यात्मिकं शारीरं मानसं च।

२. विषयविशेषादर्शनम् विषयणां विशेषाः शब्दस्पर्शादिश्रेष्ठविषयाः, तेषामदर्शनम् अननुभवः अलाभः इति यावत्।—किरणावली। सारबोधिनीकाराः शिवनारायणशास्त्रिणः बालरामोदासीनाश्च पुनः विषयविशेषादर्शनेतिशब्दस्य न्यायमतेन 'अनवधारणात्मकमनेककोटिकं ज्ञानं संशय' इत्यर्थं कृतवन्तः।

३. आन्तराः अन्तरे शरीराभ्यन्तरे वा अन्तःकरणे वा भवाः सत्तावन्तः अन्नाम्बुभेषजदमदयादानविवेचनादयः साधनविशेषाः, तैः साध्यत्वाद् दुःखम-प्युपचारादन्तरं सदाध्यात्मिकमित्युच्यते—बालरामोदासीनः।

४. वस्तुतस्तु आन्तरोपायसाध्यत्वादित्यत्र अध्यशब्दो जन्यपर्यायः, तथा शरीराभ्यन्तरे मनसि च भवा ये धातुवैषम्यादयः कामादयो वा निमित्तविशेषास्तैः साध्यत्वज्जन्यत्वात् शारीरं मानसं चान्तरमित्युच्यते, शरीरमनोबहिर्भूतसिंह-व्याघ्रवर्षातपादिनिमित्तविशेषजन्यत्वाच्चाधिभौदिकादि बाह्यमित्युच्यते, इत्यत्र बोध्यः इति बालरामोदासीनः। आन्तरः अहङ्कारास्पदनिष्ठो या उपायः काम-क्रोधादिः तेन साध्यत्वात् जन्यत्वादित्यर्थः इति सुषमाकारः। किरणावल्यामपि तत्साध्यत्वात् तज्जन्यत्वात् तन्निष्पाद्यत्वादित्यर्थः कृतः।

उसके अतिरिक्त बाह्य निमित्तों की भी अपेक्षा हो, वह उससे भिन्न अर्थात् शारीरिक, आधिभौतिक या आधिदैविक है। 'तत्त्व-विभाकर' में पं० वंशीधर मिश्र ने भी इसी बात को इस प्रकार स्पष्ट किया है—'ननु सर्वस्यापि दुःखस्य मनोधर्मत्वेन मानसत्वात् कथं मानसत्वामानसत्वव्यवहार इति चेत् न; मनोमात्रजन्यत्वाजन्यत्वाभ्यां मानसत्वामानसत्वव्यवहारात् ।'

(iii) अन्न से बुभुक्षा, जल से पिपासा, भेषज या औषध से ज्वर, अतिसार आदि रोग, दम या इन्द्रिय-निग्रह से काम, दया से क्रोध, दान से लोभ, विवेचन से मोह, तत्त्वज्ञान से भय, उदारता से ईर्ष्या तथा असंग से विषाद की निवृत्ति होती है। ये सारे साधन शरीर या मन के भीतर प्रयुक्त होने से आध्यात्मिक हुए, अतएव इनके द्वारा साध्य या निवर्तनीय दुःख भी गौणरूप से आध्यात्मिक हुये आध्यात्मिक कहलाते है।

उपर्युक्त अर्थ 'साध्य' पद का 'निवर्तनीय' या 'दूर होने योग्य' अर्थ लेकर किया गया है। बालराम ने अपनी टीका 'विद्वत्तोषिणी' में इसकी ओर संकेत किया है। परन्तु आगे उन्होंने 'वस्तुतस्तु आन्तरोपायसाध्यत्वादित्यत्र साध्यशब्दो जन्यपर्यायः' इत्यादि लिखकर इस अर्थ की उपेक्षा की है। सुषमा, किरणावली तत्त्वविभाकर आदि टीकाओं में भी 'साध्य' का 'जन्य' ही अर्थ लिया गया है। सारबोधिनीकार ने तो पहले 'साध्य' का 'निवर्तनीय' अर्थ लेकर 'अन्नमन्तर्गतं सत् बुभुक्षां वारयति, जलमन्तर्गतं सत् पिपासां दूरीकरोति, औषधं चान्तरं सत् ज्वरादिकमपनयति' इत्यादि प्रकार से अपने भाव को स्पष्ट किया है; परन्तु आगे उन्होंने भी 'जन्य' अर्थ लेकर 'उपायैः' का 'धातुवैषम्यादिभिः कामादिभिर्वा निमित्तविशेषैः' अर्थ किया है। परन्तु हमें तो पूर्व अर्थ ही युक्त लगता है क्योंकि कामादि 'उपाय' नहीं हैं, इसी से तो उसका 'निमित्त' अर्थ करना पड़ा। फिर 'उपाय' करने मे जो इच्छा की अपेक्षा होती है, उसकी दुःख के साथ संगति नहीं बैठती। दुःख की प्राप्ति के लिए भला कौन उपाय करेगा? 'जन्य' अर्थ लेने पर 'उपाय' शब्द का 'कारण' या 'निमित्त' अर्थ लेना होगा।

बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेधा—आधिभौतिकम्, आधिदैविकञ्च। तत्राधिभौतिकं मानुषपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम्। आधिदैविकं तु यक्षराक्षसविनायकग्रहाद्यावेशनिबन्धनम्। तदनेन प्रत्यात्मवेदनीयं दुःखं रजःपरिणामभेदो न शक्यते प्रत्याख्यातुम्। तदनेन दुःखत्रयेणान्तःकरणवर्तिना चेतनाशक्तेः प्रतिकूलवेदनीय-

तयाभिसम्बन्धोऽभिघात इति। एतावता प्रतिकूलवेदनीयत्वं जिहासाहेतुरुक्तः ।

अर्थ—बाह्य उपायों से साध्य दुःख दो प्रकार का होता है—आधिभौतिक[1] और आधिदैविक[2]। उनमें से मनुष्य, पशु, मृग, पक्षी, सर्प तथा वृक्षादि स्थावरों से उत्पन्न होने वाला दुःख आधिभौतिक; तथा यक्ष, राक्षस, विनायक, ग्रह इत्यादि के दुष्ट प्रभाव से होने वाला दुःख आधिदैविक कहलाता है। तो फिर (बुद्धितत्त्वान्तर्वर्ती) रजोगुण के विशिष्ट परिणाम-भूत एवं प्रत्येक के द्वारा अनुभव किये जाने वाले इस दुःख को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। [इस प्रकार 'जगत् में दुःख है ही नहीं'—इस शंका का निराकरण हो गया। अब 'दुःख होने पर भी स्यात् उसकी निवृत्ति अभीष्ट न हो, इस दूसरी शंका का निराकरण करते हुए कहते हैं :—] अन्तःकरण में वर्तमान और अनिष्ट-रूप में अनुभूयमान इस त्रिविध दुःख के साथ चेतन पुरुष के असह्य सम्बन्ध को 'अभिघात' कहते हैं। इतने से यह स्पष्ट हो गया कि दुःख का अनिष्ट-रूप में अनुभव ही उसके परिहार की इच्छा का कारण है।

विशेष—यद्यपि दुःख वस्तुतः बुद्धि का ही धर्म है, पुरुष का नहीं, जैसा कि **'अन्तःकरणवर्तिना'**—इस पद से कौमुदीकार ने स्पष्ट कर दिया है और इस प्रकार जिहासा का प्रश्न उठाना असम्भव है क्योंकि जिस अन्तःकरण का वह धर्म है, वह जड़ है और जिस पुरुष—चेतन—को जिहासा हो सकती है उसका तो वह धर्म है ही नहीं, तथापि बुद्धि-वृत्ति में प्रतिबिम्बित चेतन पुरुष, जिसे व्यवहार में जीव कहते हैं, बुद्धि-गत धर्मों का अपने में आरोप करके (मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ—इत्यादि रूप में) उसका अभिमान करता है।

['जिहासा होने पर भी नित्य होने कारण दुःख का परिहार ही शायद सम्भव न हो'—अब इस तृतीय शंका का निराकरण करते हैं :—]

---

१. भूतानि जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जरूपाणि चराचरजातीयानि अधिकृत्य निमित्तीकृत्य जायमानं दुःखमाधिभौतिकम् ।

२. (i) आधिदैविकं शीतोष्णवातवर्षाशन्यवश्यायावेशनिमित्तम्—युक्तिदीपिका। (ii) देवान् यक्षादीन् दिवःप्रभवान् वातवर्षातपशीतोष्णादीन् वा निमित्तीकृत्य जायमानं दुःखमाधिदैविकम्—बालरामः। (iii) केचित्तु देवपदेन दिवःप्रभवाणां वातवर्षादीनामपि ग्रहणं वदन्ति; भूतपदेनैव तेषां लाभसम्भवात् देवपदेन ग्रहणं व्यर्थमेवेति प्रतिभाति—सुषमा।

यद्यपि न सन्निरुध्यते दुःखम् तथापि तदभिभवः शक्यः कर्तुमित्युपरिष्टादुपपादयिष्यते। तस्मादुपपन्नं 'तदपघातके हेतौ' इति। तस्य दुःखत्रयस्य अपघातकः तदपघातकः। उपसर्जनस्यापि बुद्ध्या सन्निकृष्टस्य 'तदा' परामर्शः।

अर्थ—यद्यपि सत् होने के कारण दुःख का पूर्ण निरोध या विनाश सम्भव नहीं है, तथापि उसका अभिभव या उसकी शान्ति की जा सकती है—इसे आगे (६५वीं कारिका—तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम्। प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदुपस्थितः स्वच्छः॥—में) स्पष्ट करेंगे। इस प्रकार 'तदपघातके हेतौ', यह कथन युक्त है। 'तदपघातक' समास में 'तद्' का अर्थ है—'दुःखत्रय'। यद्यपि 'दुःखत्रय' पद 'दुःखत्रयाभिघातात्'—इस समास का गौण अंग है [अतः 'तद्' के द्वारा दुःखत्रय' का नहीं अपितु 'अभिघात' का ही परामर्श (अध्याहार) होना चाहिये], तथापि बुद्धि में उपस्थित या आरूढ़ होने के कारण 'तद्' के द्वारा (समास के द्वितीय और मुख्य अंग 'अभिघात' की अपेक्षा) 'दुःखत्रय' का ही परामर्श या आध्याहार हुआ है।

विशेष—आरम्भवादी नैयायिक उत्पत्ति के पूर्व कार्य-वस्तु का कारण-वस्तु में अभाव मानते हैं। वे कारण में अविद्यमान वस्तु की ही उत्पत्ति मानते हैं। इसी प्रकार उनके मत में उत्पन्न कार्य का नाशक सामग्री द्वारा होने वाला विनाश भी आत्यन्तिक होता है, कार्य कारण के रूप में नहीं परिणत होता है। परन्तु इसके विपरीत सांख्य-योग मतों को मानने वाले सत्कार्यवादी हैं। वे कारण-वस्तु में पूर्व से ही सूक्ष्म-रूप से विद्यमान कार्य-वस्तु की उत्पत्ति बताते हैं। उनके अनुसार असत् वस्तु की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार कार्य या उत्पन्न वस्तु के फिर कारण-रूप में परिणत हो जाने को ही वे उसका विनाश मानते हैं, उसका आत्यन्तिक प्रध्वंस वे नहीं मानते। इसके अनुसार दुःख, जो प्रकृति के रजस् गुण का ही परिणाम-विशेष है, का भी पूर्णतः विनाश नहीं हो सकता। इसीलिए सांख्य और योग मत वाले दुःख की अतीतावस्था या शान्तावस्था को उसका विनाश मानते हैं; और यह अतीतावस्था

---

१. (i) अभिभवः विनाशसामग्रीसम्पादनकृतः प्रतिरोधः शान्तावस्थापादनेन तदनाविर्भावः। —सारबोधिनी

(ii) अभिभवः शान्तावस्थापादनेन स्थूलस्वरूपप्राप्तियोग्यताविरहरूपोऽनाविर्भावः। —बालरामः

नाशक सामग्री (विवेकज्ञान) से उत्पन्न हुई कारणावस्था (अर्थात् रजस् रूप में स्थिति) के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यदि कोई शंका करे कि जिस प्रकार उत्पत्ति के पूर्व कारण में सूक्ष्म रूप से विद्यमान कार्य कारण-व्यापार द्वारा वर्तमान या स्थूल अवस्था में आ जाता है, उसी प्रकार नाशक सामग्री द्वारा वर्तमान या स्थूल अवस्था से सूक्ष्म अवस्था (कारण-रूपता) को प्राप्त हुआ दुःख फिर कभी न कभी स्थूल या वर्तमान हो सकता है, तो सांख्य इसका उत्तर यह देता है कि कारण-सामग्री के अभाव के कारण ऐसा कभी नहीं हो सकता। यदि अतीत कार्य कभी वर्तमान हो, तो 'यह वही कार्य है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान अवश्य होगा। पर ऐसा न होने से अतीत दुःख की पुनरावृत्ति नहीं मानी जा सकती। इस प्रकार दुःख का सार्वकालिक प्रशम ही मोक्ष है।

चौथी तथा पाँचवीं शंकाओं के उत्तर में कहते है—

'अपघातकश्च[1] हेतुः शास्त्रप्रतिपाद्यो नान्य इत्याशयः।

अर्थ—प्रस्तुत शास्त्र का प्रतिपाद्य (प्रकृति और पुरुष का) विवेक-ज्ञान ही उक्त दुःख-त्रय की निवृत्ति का एक-मात्र उपाय है, अन्य कोई नहीं; [अत एव इसके विषय में जिज्ञासा का होना सर्वथा स्वाभाविक है।]

अब तत्त्वकौमुदीकार अपनी पूर्वोक्त पाँचवीं शंका को फिर से कारिकाकार के शब्दों द्वारा उठा कर विस्तार-पूर्वक रख रहे है—]

अत्र शङ्कते—"दृष्टे सापार्था चेत्" इति। अयमर्थः—अस्तु तर्हि दुःखत्रयम्, जिहासितं च तद् भवतु, भवतु च तच्छक्यहानम्, सहतां च शास्त्रगम्य उपायस्तदुच्छेत्तुम्, तथाप्यत्र प्रेक्षावतां न जिज्ञासा न युक्ता, दृष्टस्यैवोपायस्य तदुच्छेदकस्य सुकरस्य विद्यमानत्वात्; तत्त्वज्ञानस्य तु अनेकजन्माभ्यासपरम्परायाससाध्यतयादुष्करत्वात्। तथा च लौकिकानामाभाणकः—

अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत् ॥इति॥

सन्ति चोपायाः शतशः शारीरदुःखप्रतीकारायेषत्करा भिषजां वरैरुपदिष्टाः। मानसस्यापि सन्तापस्य प्रतीकाराय मनोज्ञस्त्री-पान-भोजन-विलेपन-वस्त्रालङ्कारादिविषयसम्प्राप्तिरुपायः सुकरः। एवमाधिभौतिकस्यापि दुःखस्य नीतिशास्त्राभ्यासकुशलतानिरत्ययय-

---

१ चोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च। शास्त्रप्रतिपाद्य (तत्त्वविवेकः) एव अपघातको हेतुरित्यन्वयः।

स्थानाध्यासनादिः प्रतीकारहेतुरीषत्करः । तथाधिदैविकस्यापि दुःखस्य मणिमन्त्रौषधाद्युपयोगः सुकरः प्रतीकारोपाय इति ।

अर्थ—अब फिर एक दूसरी शङ्का होती है कि "दुःखत्रय के विनाश का सुकर लौकिक उपाय होने के कारण यदि वह (शास्त्र-जिज्ञासा) व्यर्थ हो।" इसका आशय यह है:—माना कि त्रिविध दुःख जगत् में है, उसकी निवृत्ति भी अभीष्ट और सम्भव है, तथा शास्त्रोक्त उपाय उसकी निवृत्ति करने में समर्थ भी है; तथापि उसके विषय में विद्वानों को जिज्ञासा नहीं होगी क्योंकि जहाँ एक ओर उस निवृत्ति का सुकर लौकिक उपाय सुलभ है, वहाँ दूसरी ओर तत्त्वज्ञान जो दुःख की निवृत्ति का शास्त्रोक्त उपाय है, अनेक जन्मों के सतत अभ्यास से होने वाले श्रम के द्वारा साध्य होने के कारण दुष्कर है। लोकोक्ति भी ऐसी है कि, "यदि (मार्ग के) मंदार वृक्ष में ही मधु मिल जाय तो पर्वत पर किस लिये आया जाय ? अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति हो जाने पर भला कौन विद्वान् तदर्थ प्रयत्न करेगा।" शारीरिक दुःख की निवृत्ति के लिए सैकड़ों सुकर उपाय वैद्यों के द्वारा बताये हुए है। मानसिक दुःख के भी निवारण का उपाय, जैसे सुन्दर स्त्री, पान, भोजन, लेप, वस्त्र, अलङ्कार इत्यादि वस्तुओं की प्राप्ति सुकर ही है। इसी प्रकार आधिभौतिक दुःख के भी निवारण का उपाय, जैसे नीति-शास्त्रों के सतत अध्ययन से उत्पन्न चातुर्य तथा निर्बाध या निरुपद्रव स्थानों में वास इत्यादि भी सुकर है। इसी प्रकार आधिदैविक दुःख के भी निवारण के मणि-धारण, मन्त्रानुष्ठान तथा औषध-सेवन इत्यादि उपाय भी सरल हैं।

विशेष—मूल के 'अर्के' पद के स्थान में राजेश्वर शास्त्री द्राविण तथा पं० वंशीधर मिश्र वाले संस्करणों में 'अक्के' पाठ मिलता है। तब इसका अर्थ यह होगा कि 'यदि घर के कोने में ही मधु मिल जाय तो ......।' डा० झा ने 'अत्के' पाठ अच्छा मानकर उसे गत्यर्थक 'अत्' धातु से निष्पन्न हुआ माना है और उसका अर्थ किया है—सुगम स्थान जहाँ सर्व-सामान्य जाया करते हों। शबर स्वामी ने जैमिनीय सूत्र-भाष्य में 'पथि जातेऽर्के मधूत्सृज्य तेनैव पथा यथा मध्वर्थिनः पर्वतं न गच्छेयुः' ऐसा लिखकर 'अर्के चेन्मधु विन्देत' ऐसा उद्धरण दिया है। अतः 'अर्के' ही पाठ अधिक प्राचीन एवं सम्यक् प्रतीत होता है। डा० रामशङ्कर भट्टाचार्य ने अपनी व्याख्या ज्योतिष्मती के पृ० १६३ पर "हमारी दृष्टि में 'अक्के' पाठ प्राचीन है" ऐसा लिखा है, परन्तु अपनी उक्त दृष्टि का कोई कारण नहीं दिया। जितने प्राचीन उद्धरण दिए, सभी 'अर्के' 'अङ्के' या 'अत्के' पाठों के पक्ष में, 'अक्के' के पक्ष में एक भी नहीं। फिर भी

वे 'अक्के' को प्राचीन मानने के पक्ष में हैं, शायद इसलिए कि 'अक्के' गृहकोण-वाची होने से समीपार्थ-ज्ञापक होकर दूरस्थ-पर्वत-व्रजन के प्रकरण में अधिक संगत होगा (क्योंकि आगे ऐसा ही लिखा है)। परन्तु इस प्रकार 'अर्के' (मदार का पेड़) भी प्रायः घर के आगे-पीछे उगने से समीपार्थ ज्ञापक हो ही जायगा। एतदतिरिक्त माठर वृत्ति, शबर-भाष्यादि इस पाठ की प्राचीनता के ज्ञापक भी हैं, जैसा कि स्वयं डा० रामशंकर ने भी अन्ततः स्वीकार किया है।

निराकरोति—"न" इति। कुतः? "एकान्तात्यन्ततोऽभावात्"। एकान्तो—दुःखनिवृत्तेरवश्यम्भावः, अत्यन्तो—निवृत्तस्य दुःखस्य पुनरनुत्पादः, तयोः एकान्तात्यन्तयोरभावः। षष्ठीस्थाने सार्व-विभक्तिकस्तसिः।

एतदुक्तं भवति—यथाविधि रसायनादिकामिनीनीतिशास्त्रा-भ्यासमन्त्राद्युपयोगेऽपि तस्य तस्याध्यात्मिकादेर्दुःखस्य निवृत्तेर-दर्शनात् अनैकान्तिकत्वम्, निवृत्तस्यापि पुनरुत्पत्तिदर्शनात् अनात्यन्तिकत्वम् इति सुकरोऽऽपि ऐकान्तिकात्यन्तिकदुःखनिवृत्तेर्न दृष्ट उपाय इति नापार्था जिज्ञासेत्यर्थः।

अर्थ—इसका निराकरण करते हुए कारिकाकार कहते हैं कि "ऐसा नहीं है।" क्यों? "एकान्त और अत्यन्त के अभाव के कारण।" 'एकान्त' का अर्थ है—दुःख का नियत रूप से निवृत्त हो जाना, तथा 'अत्यन्त' का अर्थ है—निवृत्त दुःख का फिर न उत्पन्न होना। 'एकान्तात्यन्ततोऽभाव' का अर्थ है—'एकान्त' और 'अत्यन्त' का अभाव। सभी विभक्तियों में प्रयुक्त होने वाले 'तसि' प्रत्यय का प्रयोग इस स्थल में षष्ठी के अर्थ में हुआ है। इसका अभिप्राय यह कि यथाविधि रसायन[1], कामिनी, नीतिशास्त्र और मन्त्रादि के प्रयोग से भी विविध दुःख की प्राय निवृत्ति न दीख पड़ने के कारण वह (निवृत्ति) 'ऐकान्तिक' नहीं हुई। निवृत्त हुए दुःख की भी पुनः उत्पत्ति दीख पड़ने के कारण वह 'आत्यन्तिक' नहीं हुई। इस प्रकार लौकिक उपाय सरल होते हुए भी दुःख की ऐकान्तिक (नियत रूप से) और आत्यन्तिक (सार्वकालिक) निवृत्ति नहीं कर पाते। इसलिये शास्त्रोपाय-विषयिणी जिज्ञासा व्यर्थ नहीं कही जा सकती।

यद्यपि दुःखममंगलम्, तथापि तत्परिहारार्थत्वेन तदपघातो-मङ्गलमेवेति युक्तं शास्त्रादौ तत्कीर्तनमिति ॥१॥

---

१. यज्जराव्याधिविध्वंसि भेषजं तद्रसायनम्—वैद्यकशास्त्रम्।

अर्थ—यद्यपि (आदि में ही) 'दुख' शब्द का ग्रहण अमङ्गलकारी है तथापि उसकी निवृत्ति का बोधक होने से 'तदपघात' पद मङ्गल-सूचक ही है। इसलिये शास्त्रारम्भ में उसका कथन या ग्रहण उचित ही है ॥१॥

स्यादेतत्। मा भूद् दृष्ट उपायः, वैदिकस्तु ज्योतिष्टोमादिः संवत्सरपर्यन्तः कर्मकलापस्तापत्रयमेकान्तमत्यन्तञ्चापनेष्यति। श्रुतिश्च "स्वर्गकामो यजेत" इति। स्वर्गश्च—

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्[1]।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥

दुःखविरोधी सुखविशेषश्च स्वर्गः स च स्वसत्तया समूलघातमपहन्ति दुखम्। न चैप क्षयी। तथा हि श्रूयते-अपाम सोममृता अभूम इति। तत्क्षये कुतोऽस्यामृतत्वसम्भवः? तस्माद्वैदिकस्योपायस्य तापत्रयप्रतीकारहेतोर्मुहूर्तयामाहोरात्रमाससंवत्सरनिर्वर्तनीयस्यानेकजन्मपरम्पराऽऽयाससम्पादनीयात् विवेकज्ञानदीषत्करत्वात् पुनरपि व्यर्था जिज्ञासा इत्याशङ्क्याह—

अर्थ—(दुःखकी ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति का) लौकिक उपाय न हो तो नहीं सही, किन्तु केवल वर्ष भर चलने वाले ज्योतिष्टोम इत्यादि वेदोक्त यज्ञ-कर्म त्रिविध दुःख की अवश्य ही सार्वकालिक निवृत्ति कर देंगे और श्रुतिका वचन भी है कि 'स्वर्ग की इच्छा करने वाले को यज्ञ करना चाहिये' और स्वर्ग—'जो न दुःख से मिश्रित हो, न भविष्य में क्षयोन्मुख हो (अथवा यह भी अर्थ हो सकता है कि जो न क्षयोन्मुख हो और न विच्छिन्न या अवरुद्ध ही हो') और सङ्कल्प-मात्र से प्राप्त हो अर्थात् परिश्रम-साध्य न हो, वही सुख 'स्वः' अर्थात् स्वर्ग पद-वाच्य है', इस वचन[2] के अनुसार स्वर्ग दुःखहीन सुःख-विशेष है, और यह (स्वर्ग) अपनी सत्ता द्वारा दुःख को उसके मूल कारण (अपुंण्य या अधर्म) के सहित नष्ट कर देता है। यह क्षयोन्मुख भी नहीं है, जैसा

---

१. अनन्तरम् उत्तरकाले, नास्ति अन्तरो व्यवधानं यस्मिन् तत् अविच्छिन्नम् अबाधमिति वा उभयथापि युज्यते। प्रथमार्थे ग्रस्तमित्यनेन सहान्वयः, द्वितीये पुनः यदितिपदस्य ग्रस्तमितिवत् स्वतन्त्रं विशेषणम्।

२. 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नम् इति भट्टवार्तिकम् इति केचित्, स्मृतिरियमिति विज्ञानभिक्षुः, परिमलादिषु प्रामाणिकग्रन्थेषु श्रुतित्वेन व्यवहारादर्थवादरूपा श्रुतिरियमिति मादृशाः इति बालरामोदासीनः स्वटिप्पण्याम्।

श्रुति[1] भी कहती है—"हम (देवों) ने सोम-पान किया और अमर हो गए।" यदि यह (स्वर्ग नामक सुख-विशेष) क्षयोन्मुख होता तो इसकी अमरता कैसे सम्भव होती ? इसलिये अनेक जन्मों के सतत परिश्रम से साधनीय विवेकज्ञान की अपेक्षा मुहूर्त, प्रहर, रात-दिन, मास तथा वर्ष इत्यादि भर में साध्य[2] एवं त्रिविध दुःख के निवर्तक वैदिक उपाय के सुकर होने के कारण सांख्यशास्त्रोक्त उपाय की जिज्ञासा का होना फिर भी व्यर्थ ही है। इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं:—

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥२॥

अर्थ—वैदिक (कर्म-कलाप रूप) उपाय भी लौकिक उपायों के सदृश ही (दुःखत्रय की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति में असमर्थ) है क्योंकि वह अशुद्धि (मल), क्षय तथा न्यूनाधिक्य (विषमता) दोष से युक्त या व्याप्त, है। व्यक्त (कार्य) अव्यक्त (कारण-रूप प्रकृति) तथा चिद्रूप पुरुष के विवेक-ज्ञान से उत्पन्न तत्त्व-साक्षात्कार रूप सांख्यशास्त्रोक्त उपाय उससे भिन्न होने के कारण श्रेयस्कर है।

विशेष—हिंसादि अशुद्धियों से विद्ध होने से ज्योतिष्टोमादि वैदिक कर्म-कलाप 'धर्म' के अतिरिक्त 'अधर्म' नामक अपूर्व को भी उत्पन्न करने के कारण स्पष्ट ही दुःख की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं कर सकते। अतएव उसके कारण वैदिक उपाय को लौकिक उपाय के सदृश कहना युक्त ही है। परन्तु चूंकि क्षय और न्यूनाधिक्य दोष से विद्ध उपाय के द्वारा भी क्षयहीन (नित्य) तथा न्यूनाधिक्य-रहित फल की प्राप्ति सम्भव है, इसलिए इन दोनों दोषों के कारण वैदिक-कर्म-कलाप को लौकिक उपाय के सदृश कहना अयुक्त है। इसका परिहार यह है कि क्षय और अतिशय दोष वस्तुतः फल-निष्ठ हैं, केवल गौण रूप से उपाय-गत कहे गए हैं। कारिका की प्रथम पंक्ति का वस्तुतः अर्थ यह होगा—'अशुद्ध होने के कारण, तथा क्षयिष्णु और विषम फल उत्पन्न

१. "अपाम सोमममृता अभूम अगन्म ज्योतिरविदाम देवान्। किन्नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य।" इति हि समग्रा श्रुतिः (ऋग्वेद ८-४८-३) माठरगौडपादाचार्यादिभिः सर्वैरेव प्रायेण उद्धृत्य व्याख्याता।

२. मुहूर्तमात्रनिर्वर्तनीयं सन्ध्योपासनादि, यामनिर्वर्तनीयं पिण्डपितृयज्ञादि, मासनिर्वर्तनीयं मासाग्निहोत्रादि, संवत्सरनिर्वर्तनीयं ज्योतिष्टोमादि इत्यर्थः
—बालरामोदासीनः

करने के कारण वैदिक कर्म-कलाप भी लौकिक उपाय के समान ही (दुःखत्रय) की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति में असमर्थ है।'

"दृष्ट" इति। गुरुपाठादनुश्रूयते इत्यनुश्रवो वेदः। एतदुक्तं भवति—श्रूयत एव परं न केनापि क्रियते इति। तत्र भव आनुश्रविकः, तत्र प्राप्तो ज्ञात इति यावत्। आनुश्रविकोऽपि कर्मकलापो दृष्टेन तुल्यो वर्तते, ऐकान्तिकात्यन्तिकदुःखत्रयप्रतीकारानुपायत्वस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्।

अर्थ—गुरूपदेश के अनन्तर सुने जाने के कारण वेद को 'अनुश्रव' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि वेद सुना ही जाता है, महाभारतादि अन्य सुने जाने वाले ग्रन्थों की भाँति किसी के द्वारा बनाया या किया नहीं जाता। अनुश्रव-मूलक को अर्थात् अनुश्रव से प्राप्त या ज्ञात होने वाले को आनुश्रविक कहते हैं। आनुश्रविक या वैदिक कर्म-कलाप भी लौकिक उपाय के सदृश हैं, क्योंकि दोनों ही त्रिविध दुःख की नियत और सार्वकालिक निवृत्ति में समान रूप से असमर्थ हैं।

विशेष—'श्रुति' होने मे श्रूयमाण होने भर को हेतु मानने पर तो महाभारत आदि ग्रन्थ भी गुरु-मुख से सुने जाने के कारण अनुश्रव या वेद कहे जाएँगे, परन्तु बात ऐसी है नहीं। अतः उनकी 'वेद' संज्ञा रोकने के लिये ही टीकाकार ने 'न केनापि क्रियते' भी जोड़ दिया है। ऐसा करने से महाभारत आदि ग्रन्थ वेद नहीं हो सकते क्योंकि भगवान् वेदव्यास इत्यादि उनके कर्त्ता रूप में प्रसिद्ध हैं। परन्तु वेद का कर्त्ता कोई नहीं हैं, गृत्समद और वसिष्ठ आदि ऋषियों ने तो भगवत्प्रेरणा से अपने हृदय में प्रकाशित वैदिक मन्त्रों का साक्षात्कार-मात्र किया था। इसीलिये "ऋषियो मन्त्रद्रष्टारः" ऐसा ही कहा गया, "मन्त्रकर्तारः" नहीं।

यद्यपि च "आनुश्रविकः" इति सामान्याभिधानम्, तथापि कर्मकलापाभिप्रायं द्रष्टव्यम्, विवेकज्ञानस्याप्यानुश्रविकत्वात्। तथा च श्रूयते "आत्मा वाऽरे ज्ञातव्यः" प्रकृतितो विवेक्तव्यः, "न स पुनरावर्तते" इति॥

अर्थ—यद्यपि कारिका में 'आनुश्रविक' इस सामान्य शब्द का ग्रहण किया गया है, तथापि यहाँ इसे कर्मकाण्ड-परक ही समझना चाहिये। अन्यथा विवेकज्ञान भी आनुश्रविक होने के कारण लौकिक उपाय के समान ही दुःख-निवृत्ति में असमर्थ हो जायगा (जो शास्त्रकार को अभीष्ट नहीं है); और 'अरे, इस आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए' (बृहदा० २।४।५) अर्थात् इसे प्रकृति से

पृथक् देखना चाहिए, तथा 'वह (विवेकज्ञान प्राप्त करने वाला) फिर नहीं लौटता (छा० ८।१५) इत्यादि श्रुतियाँ भी विवेकज्ञान के अमृतत्व - हेतु या दुःखत्रय - निवर्तक होने के विषय में प्राप्त हैं। [इसलिये सामान्य-रूप से ग्रहण होने पर भी 'आनुश्रविक' शब्द का अभिप्राय वैदिक कर्म-कलाप ही समझना चाहिए, विवेक-ज्ञान नहीं।]

अस्यां प्रतिज्ञायां हेतुमाह -"स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः" इति। "अविशुद्धिः" सोमादियागस्य, पशुबीजादिवधसाधनता। यथाह स्म भगवान् पञ्चशिखाचार्यः—"स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः" इति। 'स्वल्पः सङ्करो' ज्योतिष्टोमादिजन्मनः प्रधानापूर्वस्य पशुहिंसादिजन्मनाऽनर्थहेतुनाऽपूर्वेण सङ्करः। 'सपरिहारः' कियतापि प्रायश्चित्तेन परिहर्तुं शक्यः। अथ च प्रमादतः प्रायश्चित्तमपि नाचरितम्, प्रधानकर्मविपाकसमये स पच्यते। तथापि यावदसावनर्थं सूते तावत् प्रत्यवमर्षेण सहिष्णुतया सह वर्तत इति, 'सप्रत्यवमर्षः'। मृष्यन्ते हि पुण्यसम्भारोपनीतस्वर्गसुधामहाह्रदावगाहिनः कुशलाः पापमात्रोपपादितां दुःखवह्निकणिकाम्।

अर्थ—'वैदिक कर्मकाण्ड भी लौकिक उपाय के समान दुःख-निवृत्ति में असमर्थ हैं', इस प्रतिज्ञा के कारण कहते हैं—क्योंकि वह अशुद्धि, क्षय और अतिशय दोष से व्याप्त है। सोमादि यज्ञों का पशु-हिंसा तथा बीज-नाश इत्यादि साधनों से सम्पादित होना ही उसकी अशुद्धि या मलिनता है, जैसा भगवान् पञ्चशिखाचार्य ने कहा है—"ज्योतिष्टोमादि-जन्य पुण्य या धर्म से हिंसादिजन्य पाप या अशुद्धि का अत्यल्प मेल या मिश्रण तो रहता ही है जो प्रतीकार्य और सह्य होता है।" 'अत्यल्प मिश्रण' अभिप्रेत है ज्योतिष्टोमादि जन्य धर्म रूप प्रधान फल, और पशुहिंसादि जन्य तथा अनर्थ-जनक अधर्म रूप गौण फल का। 'सपरिहार' का अर्थ यह है कि अधर्म का मिश्रण या संसर्ग अत्यल्प होने के कारण अत्यल्प प्रायश्चित्त से भी दूर किया जा सकता है। परन्तु यदि प्रमाद-वश प्रायश्चित्त नहीं किया गया तो प्रधान कर्म के फल-काल में वह (अधर्म) भी फल देता है। फिर भी वह अधर्म जो कुछ भी दुष्परिणाम उत्पन्न करता है, वह 'सप्रत्यवमर्ष' अर्थात् सहने योग्य होता है; क्योंकि पुण्य-संचय से प्राप्त स्वर्ग-रूपी अमृत-सरोवर में अवगाहन करने वाले यज्ञादि-पुण्य-कर्मा किंचिन्मात्र पाप से प्राप्त दुःखाग्नि की चिनगारी को निस्सन्देह सह लेते हैं।

विशेष—योग-भाष्य में तीव्र संवेग से सम्पादित कर्म की दृष्टजन्मवेदनीयता (अर्थात् इसी जन्म में फल-भोग) बताकर मध्यम और मृदु संवेग से अनुष्ठित अदृष्टजन्मवेदनीय कर्म के नियत-विपाक तथा अनियत-विपाक रूप से दो भेद कर के द्वितीय की तीन गतियाँ बताई गई हैं (१) 'कृतस्य अविपक्वस्य नाशः' अर्थात् कृत कर्म का बिना फल दिये ही प्रायश्चित्त आदि के द्वारा विनाश, जैसे क्षमा के द्वारा क्रोध का विनाश। (२) 'प्रधानकर्मण्यावापगमनम्' अर्थात्, प्रधान कर्म के साथ ही अप्रधान कर्म का भी फल दे देना, जैसे ज्योतिष्टोमादिजन्य धर्म के साथ ही साथ उनमें अनिवार्य रूप से होने वाली पशु-हिंसा से उत्पन्न अप्रधान अधर्म का भोग प्राप्त हो जाना। (३) 'नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानम्' अर्थात् नियत फल वाले प्रधान कर्म से अभिभूत होकर चिरकाल तक बिना फल दिये ही पड़े रहना। इनमें से द्वितीय को प्रमाणित करने के लिये योग-भाष्यकार व्यासदेव ने भगवान् पंचशिखाचार्य के निम्नलिखित वचन उद्धृत किये हैं :—

"स्यात् स्वल्प सङ्करः, सपरिहारः, सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यतीति" (द्रष्टव्य यो० भा०)। इसी के प्रकृतोपयोगी अंश को आचार्य वाचस्पति मिश्र ने यहाँ उद्धृत किया है। इस वचन का अक्षरशः वही अर्थ उन्होंने सांख्यतत्त्वकौमुदी में किया है जो योग-भाष्य की तत्त्ववैशारदी नामक अपनी टीका में किया है। इस अर्थ को देखने से यही लगता है कि वाचस्पति मिश्र ने 'स्वल्पः सङ्करः' पाठ को ही अधिक उपयुक्त जान कर उसका तदनुसार अर्थ किया है। इसलिये प्रस्तुत संस्करण में भी यही पाठ दिया गया है। सारबोधिनी, किरणावली, तथा सांख्य-तत्त्वविभाकर के रचयिताओं ने भी यही पाठ मानकर अर्थ किया है। 'स्वल्पसङ्करः' पाठ भी मिलता है। ऐसा होने पर पद-योजना बदल जाएगी, यद्यपि अर्थ लगभग वही रहेगा। ऊपर के पाठ से अधर्म का सङ्कर या संसर्ग स्वल्प, सपरिहार तथा सप्रत्यवमर्ष होगा परन्तु इस दूसरे पाठ से अधर्म ही स्वल्पसङ्कर (स्वल्पः सङ्करः संसर्गः यस्य सः, अधर्म इति यावत्), सपरिहार तथा सप्रत्यवमर्ष होगा।

[अब उपर्युक्त आनुश्रविक या वैदिक यज्ञ-कर्म की अशुद्धि के विरोधी मीमांसक-मत का निराकरण करते हैं—]

न च—"न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" इति सामान्यशास्त्रं विशेष-शास्त्रेण "अग्निषोमीयं पशुमालभेत" इत्यनेन बाध्यते इति युक्तम्, विरोधाभावात्। विरोधे हि बलीयसा दुर्बलं बाध्यते। न चेहास्ति कश्चिद्विरोधः भिन्नविषयत्वात्।

अर्थ—और मीमांसकों का यह कथन उचित नहीं है कि 'अग्नि और सोम को समर्पित पशु की हिंसा करनी चाहिये'—इस विशेष नियम से 'किसी भी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिये'—यह सामान्य नियम निषिद्ध हो जाता है, क्योंकि दोनों में कोई विरोध नहीं है। विरोध होने पर ही बलवान् नियम से दुर्बल नियम बाधित होता है और यहाँ पर दोनों नियमों के भिन्न-विषयक होने के कारण उनमें कोई विरोध है ही नहीं।

विशेष—'बहुव्यापकं सामान्यम् अल्पव्यापको विशेषः'—अर्थात् बहुतों के विषय में किया गया विधान 'सामान्य', तथा अपेक्षाकृत कम के विषय में किया गया 'विशेष' कहलाता है। जहाँ सामान्य-शास्त्र विशेष के विषय में सामान्य या मन्द रूप से ही प्रवृत्त होता है, वहाँ विशेष-शास्त्र उसका साक्षात् रूप से ग्रहण करने के कारण उसमें शीघ्र प्रवृत्त होता है। इसीलिये विशेष के विषय में सामान्य-शास्त्र की अपेक्षा विशेष-शास्त्र प्रबल होता है और उसका बाध कर देता है। पर यह तभी होता है, जब कि दोनों में विरोध हो। लोक में भी ऐसा ही देखा जाता है। जगत् में बहुत से लोग अन्य अनेकों की अपेक्षा बलवान् होते हैं परन्तु सभी बलवान् सभी निर्बलों का दमन करते नहीं फिरते। जिस बलवान् का जिस किसी निर्बल के साथ विरोध होगा, वही बलवान् अपने उस निर्बल विरोधी का दमन करेगा। सिंह मशक से कितना अधिक बलवान् होता है—इसका अन्दाज भला कौन कर सकता है? पर क्या वह कभी मशक का दमन करता हुआ देखा जाता है। हाँ, हाथी का दमन वह अवश्य करता है क्योंकि वह उसका सहज विरोधी या शत्रु है। ऐसा ही स्थिति शास्त्र में भी सामान्य तथा विशेष विधानों की होती है। जहाँ दोनों परस्पर विरोधी होंगे, वहाँ विशेष सामान्य का बाध करेगा। उपर्युक्त दोनों वाक्यों में विरोध नहीं है, यह तत्त्व-कौमुदी की अगली पंक्तियों से स्पष्ट है। सारबोधिनीकार ने इस पारस्परिक अविरोध को दृष्टान्त द्वारा अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने लिखा है—'यथा आम्रतकं कोष्ठे कफं हन्ति' इति वाक्यस्येष्टसाधनत्वं विषयः, "कण्ठे च तत् तक्रं कफं करोति" इति वाक्यस्यानिष्टसाधनत्वं विषय इति विषय-

भेदादुभयोरविरोधः, तथा "न हिंस्यात्" इति निषेधवाक्यस्य अनर्थहेतुत्वं विषयः, "अग्निषोमीयम्" इति पश्वालम्भनवाक्यस्य च क्रतूपकारकत्वं विषय इति विषय-भेदादुभयोरविरोधः (पृष्ठ ५७)।

[उपर्युक्त दोनों वाक्यों की भिन्न-विषयता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—]

तथा हि—"न हिंस्यात्" इति निषेधेन हिंसाया अनर्थहेतुभावो ज्ञाप्यते, न त्वक्रत्वर्थत्वमपि; "अग्निषोमीयं पशुमालभेत" इत्यनेन तु पशुहिंसायाः क्रत्वर्थत्वमुच्यते, नानार्थहेतुत्वाभावः, तथा सति वाक्य-भेदप्रसङ्गात् । न चानर्थहेतुत्वक्रतूपकारकत्वयोः कश्चिद्विरोधोऽस्ति । हिंसा हि पुरुषस्य दोषमावक्ष्यति क्रतोश्चोपकरिष्यति ।

अर्थ—वह इस प्रकार है :—'किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए'—यह निषेध-वाक्य इतनी ही बात सूचित करता है कि हिंसा अनर्थ-कारिणी है, न कि यह बात भी कि वह यज्ञ के लिए अनुपयोगी या अनावश्यक है। इसी प्रकार 'अग्नि और सोम के लिये पशु की हिंसा करनी चाहिए'—यह वाक्य इतनी ही बात बताता है कि पशु-हिंसा यज्ञ के लिए उपयोगी या आव-है, न कि यह बात भी कि वह अनर्थकारिणी नहीं है, क्योंकि वैसा (अर्थात् दो-दो अर्थ) होने पर वाक्यभेद[1] दोष आ जायगा। [अर्थात् 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' तथा 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' वाक्यों के दो-दो अर्थ हो जायेंगे। प्रथम के दो अर्थ होंगे (१) हिंसा अनर्थकारिणी है; (२) हिंसा यज्ञ में उपयोगी या आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार द्वितीय के भी (१) हिंसा यज्ञ में उपयोगी या आवश्यक है; (२) हिंसा अनर्थकारिणी नहीं है—ये दो अर्थ होंगे। मीमांसक स्वयं भी इसे दोष मानते हैं] और हिंसा के अनर्थकारिणी तथा यज्ञावश्यक होने में कोई विरोध नहीं है। हिंसा पुरुष के पाप का कारण भी होगी और साथ ही साथ यज्ञ का आवश्यक अङ्ग भी होगी। [इस प्रकार दोनों वाक्यों के अर्थों में कोई विरोध नहीं है, यह सिद्ध हो जाने पर यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है

---

१ (i) विधेयद्वयापत्तेः । हिंसा यागसाधिका अनर्थशून्या चेति वाक्य-भेदः।—डा० गङ्गानाथ झा ।

(ii) यदि च न हिंस्यादित्यस्य 'हिंसा अनर्थहेतुः अक्रत्वर्था च' इति अर्थ-द्वयम् तथा 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' इत्यस्यापि "पश्वालम्भनं क्रत्वर्थं, नानर्थ-हेतुः' इति अर्थद्वयं कल्प्येत, तदा वाक्यभेदः स्यात् स चानिष्टः ॥

—राजेश्वरशास्त्री द्राविड़ः ।

कि यज्ञादि आनुश्रविक उपायों में हिंसा के आवश्यक अंग होने के कारण अविशुद्धि या पाप अवश्य रहेगा। हिंसा का पापकारित्व शास्त्र, पुराण, स्मृति आदि समस्त साहित्य में बहुशः कथित है—"यथा पंकेन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम्। ब्रह्महत्यां तथैवेमां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति ॥", "न हि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुद्ध्यतः", "तद्यथास्मिन् लोके मनुष्याः पशूनश्नन्ति तथाभिभुञ्जते, एवमुष्मिन् लोके पशवो मनुष्यानश्नन्ति" इत्यादि।]

क्षयातिशयौ च फलगतावप्युपाय उपचरितौ। क्षयित्वं च स्वर्गादेः 'सत्त्वे सति कार्यत्वात्' अनुमितम्। ज्योतिष्टोमादयः स्वर्गमात्रस्य साधनम्, वाजपेयादयस्तु स्वाराज्यस्येत्यतिशयुक्तत्वम्। परसम्पदुत्कर्षो हि हीनसम्पदं पुरुषं दुःखाकरोति।

अर्थ—'क्षयित्व' तथा 'न्यूनाधिक्य' वस्तुतः (यज्ञादि कर्मों के) स्वर्गादि फलों में विद्यमान होने पर भी गौण रूप से (उन यज्ञादि) वैदिक उपायों के दोष कहे गए हैं। स्वर्गादि 'भाव' पदार्थ होते हुए दूसरे के कार्य (फल) हैं, इसी से उनका क्षयित्व या अनित्यत्व सिद्ध है।[1] ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ केवल स्वर्ग के साधन हैं, परन्तु वाजपेय आदि स्वाराज्य अर्थात् स्वर्गाधिपति (इन्द्र) होने के। यही एक की अपेक्षा दूसरे का अतिशय या आधिक्य है, और दूसरे की सम्पत्ति का अतिशय या उत्कर्ष न्यून सम्पत्ति वाले पुरुष को अवश्य ही दुःख देता है।

विशेष—यद्यपि सामान्य नियम तो यही है कि 'यत्कार्यं तदनित्यम्' अर्थात् जो भी कार्य या उत्पाद्य है, वह अनित्य होगा, तथापि 'अभाव' पदार्थ इसका अपवाद है; जैसे 'सादिरनन्तः प्रध्वंसाभावः' के अनुसार यद्यपि प्रध्वंस नामक अभाव की आदि या उत्पत्ति होती है, तथापि वह अनन्त या नित्य होता है। इसी कारण 'कार्यत्व' इस हेतु के बल पर किये जाने वाले 'क्षयित्व' के अनुमान के ठीक होने के लिए 'सत्त्व' अर्थात् भाव-पदार्थ होना—यह उपाधि जोड़ दी गई है, ताकि प्रध्वंस नामक अभाव की ही भाँति स्वर्ग भी नित्य न हो जाय।

---

१. एकाहादीनां सत्राणां दिनपरिमाणवतां कारणानां परिमाणवदेव स्वर्गादिकार्यं दृष्टं, कारणानुगमत्वात् कार्यस्य। परिमाणवन्मृत्पिण्डात् परिमाणवानेव घटः स्यात्। एवमानुश्रविकाणां फलपरिमाणत्वात् पुनः क्षयः।

—माठरवृत्तिः, पृ० ८

इस प्रकार अनुमान-वाक्य का यह स्वरूप होगा—'स्वर्गादिकं क्षयित्ववत् (अर्थात् अनित्यं) भावत्वे सति कार्यत्वात् घटवत्'।

[परन्तु "अपाम सोमममृता अभूम" इस श्रुति के अनुसार स्वर्ग-सुख का अमृतत्व या नित्यत्व पहले ही सिद्ध हो चुका है और यहाँ अनुमान के बल पर उसका अनित्यत्व सिद्ध हुआ। अतः दोनों में विरोध उपस्थित होने पर श्रुति के बलवत्तर होने के कारण उससे अनुमान बाधित हो जायगा। इस शंका का निराकरण करते हुए कहते है :—]

"अपाम सोमममृता अभूम"[1] इति चामृतत्वाभिधानं चिरस्थेमानमुपलक्षयति। यदाहुः—

"आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते" इति। अतएव च श्रुतिः—

"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः।

परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति॥" इति,

तथा "कर्मणा मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमीहमानाः तथा परे ऋषयो ये मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः॥" इति च।

अर्थ—हम सोम पीकर अमर हो गये'[1]—इस वाक्य मे 'अमर' का अर्थ लक्षणा से 'चिरस्थायी' है, जैसा कि अन्यत्र कहा गया है:—भूतों के प्रलय-काल आने तक रहने वाला स्थान ही अमृतत्व कहा जाता है (विष्णु पु० अंश २, अ० ५ श्लो० ९६); और (चूंकि यज्ञ इत्यादि वास्तविक अमृतत्व के उपाय नहीं हैं) इसलिए (महानारायण श्रुति भी कहती है) कि 'उनके पूर्व महात्माओं[2] ने कर्म, संतानोत्पत्ति या धन से नहीं अपितु संन्यास अर्थात् संन्यास-साध्य तत्त्व-ज्ञान से) अमृतत्व (मोक्ष) की प्राप्ति की। स्वर्ग[3] से भी उत्कृष्ट एवम् बुद्धि रूपी गुहा में स्थित[4] अमृत तत्त्व स्वतः प्रकाशित हो रहा है, जिसमें योगी जन

१. अथर्वशिरश्श्रुतिः।

२. एके विरक्ता महात्मानः। त्यागेनैकेनेति पाठे तु त्यागमात्रेणेत्यर्थः।

३. (i) नाकमित्यविद्यामुपलक्षयति—अविद्यातः इति परमित्यर्थ इति तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्राः (ii) स्वर्गस्योपरि अथवा परं नाकमानन्दात्मानमित्यथ इति दीपिकायां शङ्करानन्दः।

४. निहितं गुहायामिति लौकिकप्रमाणागोचरत्वं दर्शयति इति तात्पर्यटीका।

लीन हो जाते हैं।[1] और भी—सन्तति उत्पन्न करने वाले ऋषि[1] धन की इच्छा करते हुए कर्म द्वारा मृत्यु[2] अर्थात् स्वर्गादि अनित्य फल को प्राप्त हुए। दूसरे ज्ञानी ऋषि कर्म द्वारा अप्राप्य[3] अमृत्व (मोक्ष) को प्राप्त हुए।

तदेतत् सर्वमभिप्रेत्याह—"तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्" इति। तस्मात् आनुश्राविकात् दुःखापघातकोपायात् सोमापानादेरविशुद्धात् अनित्यसातिशयफलात् विपरीतः विशुद्धः हिंसादिसंकराभावात्, नित्यानतिशयफलः असकृत् अपुनरावृत्ति-श्रुतेः। न च कार्यत्वेनानित्यता फलस्य युक्ता, भावकार्यस्य तथात्वात्, दुःखप्रध्वंसस्य तु कार्यस्यापि तद्वैपरीत्यात्।

अर्थ—इसी सब अभिप्राय से कारिकाकार ने कहा कि उससे विपरीत उपाय ही श्रेयस्कर है।' 'तद्विपरीत' का अर्थ है हिंसादि से दूषित, अनित्य तथा विषम फल वाले एवम् दुःख-नाशक समझे जाने वाले उस सोम-पान इत्यादि वैदिक उपाय से भिन्न अर्थात् हिंसा आदि पाप के संसर्ग के अभाव के कारण विशुद्ध, और श्रुति में बार-बार अपुनर्जन्म-कथन से नित्य एवं सर्वोत्कृष्ट मोक्ष फल वाला। और यह कहना ठीक न होगा कि (जो कुछ कार्य है, वह सभी अनित्य है—इस नियम के अनुसार) मोक्ष रूप फल (विवेकख्याति या तत्त्व-ज्ञान का) कार्य होने के कारण अनित्य होगा, क्योंकि भाव-कार्यों के विषय में ही यह बात सत्य है। मोक्ष तो कार्य होने पर भी दुःख का प्रध्वंसाभाव (सादिरनन्तः प्रध्वंसाभावः अर्थात् जिसका आरम्भ है, पर अन्त नहीं) होने के कारण उससे भिन्न अर्थात् नित्य है।

---

१. 'प्रजावन्तः पुत्रिणो गृहस्थाः'......................ऋषयः वानप्रस्थाश्च' इत्यर्थं कृतवन्तो विद्वत्तोषिणीकाराः बालरामोदासीनमहाशयाः।

२. मृत्युं प्रेत्यभावाख्यं पुनर्जन्मैव इत्यर्थः।—विद्वत्तोषिणीकाराः किरणावलीकाराश्च।

३. यथा तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्राः—'परम् कर्मभ्य इति कर्मपरित्यागमपवर्गसाधनं सूचयति। अमृतत्वमिति चापवर्गो दर्शितः।' कर्मकलापजन्यस्वर्गादिभ्य उत्कृष्टम् इति विद्वत्तोषिणीकाराः, कर्मभ्यः कर्मलभ्यप्रेत्यभावाख्यपुनर्जन्मतः परं भिन्नम्, अथवा कर्मकलापलभ्यस्वर्गादिस्थानात् उत्कृष्टम् इति च किरणावलीकाराः।

विशेष—यद्यपि सांख्य के सत्कार्यवादी (अर्थात् असत् का भाव नहीं और सत् का विनाश नहीं है—इस मत के अनुयायी) होने के कारण दुःख के प्रध्वंस का कथन 'वदतो व्याघात' दोष है, क्योंकि दुःख सत् और भाव-रूप रजस् का परिणाम होने के कारण सत् है और साङ्ख्य मत में सत् का विनाश होता ही नहीं, तथापि 'प्रध्वंस' शब्द का तात्पर्य इस स्थल में दुःख की अतीतावस्था है, और अतीतावस्था को प्राप्त वस्तु जिस प्रकार फिर स्थूल या वर्तमान अवस्था को नहीं प्राप्त होती, यह तथ्य पहले 'यद्यपि न सन्निरुध्यते दुःखम्' के व्याख्यान में स्पष्ट कर चुके हैं। अतीत दुःख का फिर कभी भी उदित होकर अनुभव-गोचर या वेद्य न होना ही मोक्ष का नित्यत्व है। विद्वत्तोषिणीकार ने कहा है—'यद्यपि सांख्यनये सत्कार्यवादाङ्गीकारेण दुःखप्रध्वंसस्य मोक्षत्वाभिधानं व्याहतं तथापि दुःखप्रध्वंसपदेनात्र दुःखातीतावस्थाया एवं तात्पर्यविषयत्वेनाभिधानात् व्याहत्यभावोऽवसेयः।'

[माना कि अतीत दुःख फिर उदित होकर अनुभव-गोचर या वेद्य नहीं होगा, पर उससे भिन्न कोई अन्य दुःख उदित होकर वेद्य बन सकता है। इस शङ्का का निराकरण करते हुए कहते हैं :—]

न च दुःखान्तरोत्पादः, कारणाप्रवृत्तौ कार्यस्यानुत्पादात्, विवेकज्ञानोपजननपर्यन्तत्वाच्च कारणप्रवृत्तेः। एतच्चोपरिष्टादुपपादयिष्यते।

अर्थ—चूँकि कारण-व्यापार के बिना कार्य उत्पन्न ही नहीं होता, और विवेक-ज्ञान होने तक ही कारण (प्रकृति) का व्यापार होता है, इसलिए विवेक-ज्ञान के अनन्तर (कोई प्रयोजन शेष न रहने से) कारण रूप प्रकृति का व्यापार रुक जाने से कार्य रूप किसी भी दुःख की उत्पत्ति नहीं होती। इसे आगे की ६८ वीं कारिका की टीका में स्पष्ट करेंगे।

विशेष—सारे सुख/दुःख तथा मोह प्रकृति के ही विकार या कार्य हैं।

अक्षरार्थस्तु—तस्मात् आनुश्रविकात् दुःखापघातकात् हेतोः विपरीतः सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययः (साक्षात्कारो) दुःखापघातको हेतुः, अतएव श्रेयान्। आनुश्रविको हि वेदविहितत्वात् मात्रया दुःखापघातकत्वाच्च प्रशस्यः। सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययोऽपि प्रशस्यः। तदनयोः प्रशस्ययोर्मध्ये सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययः श्रेयान्।

अर्थ—'तद्विपरीतः श्रेयान्' का शब्दार्थ इस प्रकार है:—प्रकृति तथा पुरुष का साक्षात्कारात्मक विवेक-ज्ञान जो कि दुःख के (आत्यन्तिक) विनाश का

उपाय है, दुःख के (आंशिक एवं किञ्चित्कालिक) विनाश के वैदिक उपाय से विपरीत है, अतएव वह श्रेयस्कर है। वैदिक कर्मकांड वेद-विहित तथा अंशतः दुःखनाशक होने के कारण अच्छा है, और प्रकृति तथा पुरुष का साक्षात्कारात्मक विवेक-ज्ञान भी अच्छा हैं। परन्तु इन दोनों अच्छे उपायों में प्रकृति तथा पुरुष का विवेक-ज्ञान अधिक अच्छा है।

कुतः पुनरस्योत्पत्ति ? इत्यत आह—"व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्" इति। व्यक्तं च अव्यक्तं च ज्ञश्च व्यक्ताव्यक्तज्ञाः, तेषां विज्ञानं विवेकेन ज्ञानम्, व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानम्। व्यक्तज्ञानपूर्वकमव्यक्तस्य तत्कारणस्य ज्ञानम्। तयोश्च पारार्थ्येनात्मा परो ज्ञायते, इति ज्ञानक्रमेणाभिधानम्।

अर्थ—फिर इस साक्षात्कारात्मक विवेक-ज्ञान की उत्पत्ति किससे होती है, यह बताते हैं :—व्यक्त, अव्यक्त तथा चेतन पुरुष के पृथक्-पृथक् रूप मे ज्ञात होने से। 'व्यक्ताव्यक्तज्ञ' पद का अर्थ है—व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ (पुरुष) : उनका 'विज्ञान' अर्थात् विवेक या भेद के साथ ज्ञान। व्यक्त अर्थात् कार्य का ज्ञान पहले होता है, फिर उसके कारण-भूत अव्यक्त या प्रकृति का ज्ञान होता है। इन दोनों के परार्थ (अर्थात् अपने से भिन्न के लिये) होने के कारण दोनों से भिन्न (पृथक्) आत्मा का ज्ञान होता है। इस प्रकार जिस क्रम से इनका ज्ञान होता है, उसी क्रम से इनका (यहाँ) कथन भी किया गया है।

एतदुक्तं भवति—श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेभ्यो व्यक्तादीन् विवेकेन श्रुत्वा शास्त्रयुक्त्या च व्यवस्थाप्य दीर्घकालादरनैरन्तर्यसत्कारासेवितात् भावनामयात् विज्ञानात्। तथा च वक्ष्यति—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ (का० ६४) **इति।**

अर्थ—तात्पर्य यह है कि श्रुति, स्मृति, इतिहास तथा पुराण ग्रन्थों से 'व्यक्त' इत्यादि को एक दूसरे से भिन्न जानकर तथा शास्त्रीय तर्कों द्वारा विनिश्चित करके दीर्घकाल तक निरन्तर श्रद्धापूर्वक अनुशीलन (अभ्यास) किए गए निदिध्यासन-रूप विज्ञान से (तत्त्वसाक्षात्कारात्मक विवेक-ज्ञान उत्पन्न होता है)। इसे ६४ वीं कारिका में स्पष्ट रूप से कहेंगे :—'इस प्रकार तत्त्वविषयक ज्ञान के सतत अभ्यास से 'न (मैं क्रियावान्) हूँ, न मैं (कर्त्ता) हूँ, और न मेरा (भोक्तृत्व) है'—इस प्रकार का सम्पूर्ण, संशय एवं विपर्यय से रहित होने के कारण विशुद्ध, एवं अमिश्रित विवेक-ज्ञान उत्पन्न होता है।'

विशेष—वस्तुतः ज्ञान दो प्रकार का होता है :—(१) परोक्ष या शाब्दिक ज्ञान (२) अपरोक्ष ज्ञान या साक्षात्कार। दूसरे प्रकार के ज्ञान से ही अज्ञान या मोह के नष्ट होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति के तीन सोपान हैं :—(१) शाब्दिक ज्ञान अर्थात् शास्त्रों के श्रवण (अध्ययन) से परोक्ष रूप से प्राप्त तत्त्व-विषयक ज्ञान। इसे 'श्रवण' कहते हैं। (२) शास्त्रीय तर्कों द्वारा श्रवण-जन्य (शाब्दिक) ज्ञान की असम्भावनाओं का परिहार एवं उसके विषय में अविचल निश्चय। इसे ही 'मनन' कहते हैं। (३) श्रवण-जन्य ज्ञान की सत्यता के विषय में मनन द्वारा पूर्ण निश्चय होने पर भी साधक के मन में अवशिष्ट विपरीत भावनाओं (मैं वृद्ध तथा दुःखी हूँ, एवं कर्त्ता तथा भोक्ता' हूँ' इत्यादि) के परिहार के लिये मनन द्वारा विनिश्चित तत्त्वज्ञान की ही सतत साधना या चिन्तन और तद्विपरीत या विजातीय ज्ञान का सर्वथा बहिष्कार। इसे ही निदिध्यासन' कहते है। योग की भाषा में इसे ही 'ध्यान' कहते हैं, जिसका लक्षण पातञ्जल योगसूत्र में इस प्रकार किया गया है :—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्॥ [३।२] इसी निदिध्यासन या तत्त्व-भावना से तत्त्व-साक्षात्कार होता है। पर इसके लिए निदिध्यासन का दृढ़ होना आवश्यक है। वह निदिध्यासन दृढ़ होगा दीर्घ काल तक, अबाध या अनवरत रूप से, तथा श्रद्धा-पूर्वक अभ्यास किये जाने पर, जैसा कि योगसूत्र में कहा गया है—स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः। [योग० १।१४]

तदेवं प्रेक्षावदपेक्षितार्थत्वेन शास्त्रारम्भं समाधाय शास्त्रमारभमाणः श्रोतृबुद्धिसमवधानाय तदर्थं संक्षेपतः प्रतिजानीते—

अर्थ—इस प्रकार प्रकृत शास्त्र में आये हुये विषय को बुद्धिमानों के लिए उपयोगी बता कर (एवं शास्त्र-जिज्ञासा को सार्थक सिद्ध कर) शास्त्र का आरम्भ करते हुए ग्रन्थकार श्रोता (साधक) के चित्त की एकाग्रता के लिए उसके विषय को संक्षेप में रखते हैं :—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥३॥

अर्थ—मूल प्रकृति किसी का विकार अथवा कार्य नहीं है, महत् इत्यादि (बाद के) सात तत्त्व कारण और कार्य दोनों ही हैं। सोलह तत्त्वों का समुदाय तो केवल कार्य ही है, पुरुष न कारण ही है और न कार्य ही।

संक्षेपतो हि शास्त्रार्थस्य चतस्रो विधाः। कश्चिदर्थः प्रकृतिरेव, कश्चिदर्थो विकृतिरेव, कश्चित्प्रकृतिविकृतिः, कश्चिदनुभयरूपः।

तत्र का प्रकृतिः ? इत्यत उक्तम्—"मूलप्रकृतिरविकृतिः" इति। प्रकरोतीति प्रकृतिः प्रधानं सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था, सा अविकृतिः, प्रकृतिरेवेत्यर्थः। कुतः इत्युक्तम्—"मूलेति"। मूलञ्चासौ प्रकृतिश्चेति मूलप्रकृतिः विश्वस्य कार्यसङ्घातस्य सा मूलम्, न त्वस्या मूलान्तरमस्ति अनवस्थाप्रसङ्गात् न चानवस्थायां प्रमाणमस्तीति भावः।

अर्थ—संक्षेपतः प्रस्तुत सांख्यशास्त्र के अन्तर्गत चार प्रकार के पदार्थ हैं। कोई पदार्थ केवल कारण-रूप है कोई केवल कार्यरूप है कोई कारण और कार्य दोनों है, कोई दोनों में से एक भी नहीं। अब इनमें से केवल कारण-रूप कौन है, यह कहते हैं :—"मूल प्रकृति कार्य से भिन्न अर्थात् केवल कारण है।" जो कार्यों को उत्पन्न करती है, वही 'प्रकृति' है। इसे 'प्रधान' भी कहते हैं, जो कि सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों की साम्यावस्था का नाम है। यह कारण ही है, कार्य नहीं। यह क्यों ? इसके उत्तर में कहते हैं :—क्योंकि यह सकल कार्यों की जड़ है, इसकी कोई जड़ नहीं है। इसकी भी जड़ मानने पर अनवस्था दोष होगा, और प्रस्तुत स्थल में अनवस्था किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती, (इसीलिए वह यहाँ दोष है)।

विशेष—बीजांकुर-न्याय अनवस्था का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है। बीज का कारण क्या है—वह अंकुर या पौधा जिसके फल में वह आया था। उस अंकुर या पौधे का कारण क्या है—वह बीज जिससे यह पौधा उत्पन्न हुआ था। उस बीज का भी कारण उसके पूर्व का पौधा एवं उस पौधे का भी कारण उसके पूर्व का बीज। इस प्रकार बीज और अंकुर दोनों ही एक दूसरे के कारण और कार्य हैं। निश्चित रूप से इनमें से एक कारण और दूसरा उनका कार्य हो, ऐसी बात नहीं है; जैसा कि मिट्टी और उससे बने हुए घड़े में देखा जाता है। बीज और अंकुर के विषय में कारण और कार्य के सम्बन्ध की यह अनन्त परम्परा अनवस्था है। पर यह दोष नहीं है; क्योंकि इसका बाध (निषेध) करके व्यवस्था को प्रतिष्ठित करने वाला कोई प्रमाण नहीं मिलता। अर्थात् प्रकृति-सिद्ध होने के कारण अनवस्था ही यहाँ वास्तविकता है—वस्तु-स्थिति है, व्यवस्था नहीं। परन्तु उपर्युक्त स्थल में प्रकृति का कारण, फिर उसका भी कारण, फिर उस कारण का भी कारण और इसी प्रकार आगे भी कारण मानते जाने पर जो

अनवस्था होगी, वह प्रामाणिक नहीं है; क्योंकि 'अजामेकाम्' इत्यादि श्रुति, तथा 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' इत्यादि स्मृति प्रकृति को अज और अनादि बताकर कारण-परम्परा का उसी में अन्त मानती हैं। इसलिए उक्त स्थल में वस्तु-स्थिति के भिन्न होने के कारण अनवस्था की कल्पना दोष के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकती।

कतमाः पुनः प्रकृतिविकृतयः, कियत्यश्च ? इत्यत उक्तम्—"महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त" इति। प्रकृतयश्च विकृतयश्च ता इति प्रकृतिविकृतयः सप्त।

तथा हि—महत्तत्त्वमहङ्कारस्य प्रकृतिः, विकृतिश्च मूलप्रकृतेः। एवम् अहङ्कारतत्त्वं तन्मात्राणामिन्द्रियाणां च प्रकृतिः, विकृतिश्च महतः। एवं पञ्चतन्मात्राणि तत्त्वानि भूतानामाकाशादीनां प्रकृतयो विकृतयश्चाहङ्कारस्य।

अर्थ—अब कारण-कार्य कौन और कितने हैं, उसके उत्तर में कहते हैं कि महत्, अहङ्कार तथा पञ्च तन्मात्र—ये सात कारण और कार्य दोनों हैं।' 'प्रकृतिविकृतयः' पद का अर्थ है—प्रकृति और विकृति अर्थात् कारण और कार्य, जो सात हैं। ये इस प्रकार हैं—महत् तत्त्व अहङ्कार का कारण और मूल प्रकृति का कार्य है, इस प्रकार अहङ्कार तत्त्व पाँच तन्मात्रों और ग्यारह इन्द्रियों का कारण और महत् तत्त्व का कार्य है। इसी प्रकार पाँच तन्मात्र आकाश इत्यादि पाँच स्थूल भूतों के कारण तथा अहङ्कार के कार्य हैं।

अथ का विकृतरेव कियती च ? इत्यत उक्तम्—'षोडशकस्तु विकारः" इति। षोडशसंख्यापरिमितो गणः षोडशकः। तुशब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च। पञ्चमहाभूतानि एकादश इन्द्रियाणि चेति षोडशको गणो विकार एव, न प्रकृतिरिति। यद्यपि च पृथिव्यादीनां गोघटवृक्षादयो विकाराः, एवं तद्विकारभेदानां पयोबीजादीनां दध्यङ्कुरादयः, तथापि गवादयो बीजादयो वा न पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरम्। तत्त्वान्तरोपादानत्वं च प्रकृतित्वम् इहाभिप्रेतमिति न दोषः। सर्वेषां गोघटादीनां स्थूलतेन्द्रियग्राह्यता च समेति न तत्त्वान्तरत्वम्।

अर्थ—अब कौन केवल कार्य हैं, और वे कितने हैं, इसे कहते हैं—सोलह तत्त्वों का समुदाय केवल कार्य ही है। 'षोडशक' का अर्थ है—सोलह का

समुदाय । 'तु' शब्द निश्चय के अर्थ में भिन्न[1] क्रम से आया हुआ है, (अर्थात इसे 'षोडशकः' पद के आगे न आकर वस्तुतः 'विकारः' के आगे आना चाहिए था) : इस प्रकार आकाश इत्यादि पाँच स्थूल भूत तथा ग्यारह इन्द्रियाँ—इन सोलह तत्त्वों का समुदाय केवल कार्य ही है, कारण नहीं। यद्यपि पृथिवी इत्यादि के भी गो, घट, वृक्ष इत्यादि कार्य है, इसी प्रकार इन गो, वृक्ष आदि के दुग्ध, बीज आदि कार्य हैं एवम् उनके भी दधि अंकुर इत्यादि कार्य हैं, तथापि ये सब पृथिवी इत्यादि से भिन्न तत्त्व नहीं है और अपने से भिन्न तत्त्व का उपादान कारण बनने वाली वस्तु ही यहाँ 'प्रकृति' शब्द से अभिप्रेत है। अतएव पृथिवी इत्यादि को 'प्रकृति' संज्ञा न देकर केवल 'विकृति' कहना दोष नहीं है। गो, घट इत्यादि पृथ्वी से पृथक् तत्त्व नहीं हैं, यह बात इसी से सिद्ध हो जाती है कि ये गो, घट इत्यादि उसी प्रकार स्थूल तथा इन्द्रिय-गोचर हैं, जैसे पृथिवी।

अनुभयरूपमुक्तं, तदाह—"न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" इति। एतच्च सर्वमुपरिष्टादुपपादयिष्यते ॥३॥

अर्थ—जो दोनों में से एक भी नहीं है, उसे कहते है :—पुरुष न कारण ही है और न कार्य ही। इन सब का विवेचन आगे (१९-२ कारिकाओं में) करेंगे।

तमिममर्थं प्रामाणिकं कर्तुमभिमताः प्रमाणभेदा लक्षणीयाः, न च सामान्यलक्षणमन्तरेण शक्यते विशेषलक्षणं कर्तुमिति प्रमाण-सामान्यं तावल्लक्षयति—

अर्थ--अब इस उपर्युक्त शास्त्रार्थ को वास्तविक या सत्य सिद्ध करने के लिए सांख्य शास्त्र को मान्य विभिन्न प्रमाणों के लक्षण किये जाने चाहिए; और चूँकि सामान्य लक्षण के बिना विशेष लक्षण हो ही नहीं सकता, इसलिए पहले प्रमाण का सामान्य लक्षण करते हैं—

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥४॥

---

१. पाठस्थानादन्यः क्रमः निवेशस्थानं यस्यासौ भिन्नक्रमः, विकार इत्यस्याग्रेऽवधारणार्थकस्तुशब्दो निवेशनीय इत्यर्थः। —विद्वत्तोषिणीकाराः

अर्थ—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण में ही सभी प्रमाणों के अन्तर्भूत होने के कारण सांख्य को ये तीन ही प्रमाण मान्य हैं। प्रमाण से ही प्रमेयों का ज्ञान होता है, (अतएव पहले प्रमाण का ही प्रतिपादन किया गया है, प्रमेयों का नहीं) ॥४॥

अत्र च 'प्रमाणम्' इति समाख्या लक्ष्यपदं, तन्निर्वचनं च लक्षणम्। प्रमीयतेऽनेनेति निर्वचनात् प्रमां प्रति करणत्वं गम्यते। तच्च असन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः। बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणमिति। एतेन संशयविपर्ययस्मृतिसाधनेष्वप्रसङ्गः।

अर्थ—यहाँ पर 'प्रमाण' पद लक्ष्य है, जिसका लक्षण करना है; और उसका व्युत्पत्यात्मक अर्थ ही उसका लक्षण (परिभाषा) है। जिसके द्वारा 'प्रमा'—यथार्थ ज्ञान—हो, वही 'प्रमाण' है। इस व्युत्पत्ति से यह ज्ञान होता है कि 'प्रमाण' प्रमा या यथार्थ ज्ञान का मुख्य साधन है। यह (प्रमाण) वह चित्तवृत्ति है जिसका विषय निश्चित रूप से ज्ञात हो रहा हो, बाधित होने वाला न हो, तथा पूर्व से ज्ञात न रहा हो। ऐसी चित्तवृत्ति से उत्पन्न, अतएव उसका फलभूत पुरुषवर्ती[1] बोध[2] प्रमा है। इसी के साधन को 'प्रमाण' कहते हैं। इस कथन से संशय, भ्रम तथा स्मृति के साधनों मे प्रमाण की प्रसक्ति नहीं हो सकती अर्थात् इन सबके साधन प्रमाण नहीं हो सकते।

विशेष—राजेश्वर शास्त्री, बालराम, श्रीकृष्ण वल्लभाचार्य तथा शिवनारायण शास्त्री ने 'तच्च असंदिग्धा....' इत्यादि से 'तच्च' को निकाल कर केवल 'असन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा' इतना ही पाठ रखा है। इन विद्वानों के अनुसार सांख्य शास्त्र में कोई अर्थ

१. पौरुषेयो बोध इत्यनेन न बोधस्य पुरुषनिष्ठत्वमाख्यायते येन प्रमातृत्वादिधर्मेण पुरुषस्य परिणामित्वं स्यादपितु बुद्धौ प्रतिबिम्बितत्वेन तत्तादात्म्यापत्त्या पुरुषस्य ज्ञानादिमत्त्वोपचारात् पौरुषेय इत्यभिधीयते एवं च चितिचित्तयोरभेदग्रहात् पुरुष उपचर्यमाणोऽपि वस्तुतो बुद्धिवृत्त्यात्मक एव बोधो, न पुरुषधर्म इति ॥—विद्वत्तोषिणीकाराः

२. नैयायिकानामनुव्यवसायः—घटज्ञाने 'घटमहं जानामि' इति पुरुषगतः।
—डा० झा

केवल प्रमाण ही होता है, जैसे चक्षुरिन्द्रिय इत्यादि; कोई प्रमा और प्रमाण दोनों ही होता है, जैसे चित्त-वृत्ति; यह सन्निकृष्ट चक्षु इत्यादि इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण प्रमा भी है तथा पौरुषेय बोध का करण—मुख्य कारण—होने से प्रमाण भी है। कोई केवल प्रमा होता है, जैसे पौरुषेय बोध। कोई केवल प्रमाता ही होता है, जैसे बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य जिसे व्यवहार में 'जीव' कहते हैं। इस प्रकार चित्त-वृत्ति तथा उसके द्वारा उत्पन्न पौरुषेय बोध, दोनों ही प्रमा हैं। इनमें से प्रथम का पर्यवसान दूसरे प्रकार की प्रमा में होता है। अतः उसका फल होने के कारण दूसरी ही मुख्य प्रमा है। प्रमा का साधन होने के कारण प्रमाण भी द्विविध होगा।[1] एक प्रमाण तो चित्त-वृत्ति का मुख्य साधन होने के कारण अर्थ-सन्निकृष्ट चक्षु इत्यादि इन्द्रियाँ हैं और दूसरा प्रमाण पौरुषेय बोध का मुख्य साधन होने के कारण यह चित्त-वृत्ति ही है। राजेश्वर-शास्त्री-कृत टिप्पणी, शिवनारायणशास्त्री-कृत सारबोधिनी, बालराम-कृत विद्वत्तोषिणी तथा श्रीकृष्ण वल्लभाचार्य-कृत किरणावली[2]—चारों ही टीकाओं में दिए गए व्याख्यान इसी उपर्युक्त अभिप्राय (द्विविध प्रमा) को दृष्टि में रख कर किए गए हैं। परन्तु यह अर्थ संगत इसलिए नहीं जान पड़ता कि अगली कारिका के व्याख्यान में स्वयं वाचस्पति मिश्र भी एक ही प्रमाण (चित्तवृत्ति रूप) तथा एक ही प्रमा मानते हुए प्रतीत होते हैं। फिर इन्द्रियों को प्रमाण मानने पर न्याय से सांख्य का क्या भेद रह जायगा ? सांख्य तो प्रत्यक्ष प्रमा में इन्द्रियों की उतनी ही आवश्यकता मानता है जितनी जलाशयस्थ जल के खेत

---

१. एवं प्रमां लक्षयित्वा प्रमाणं लक्षयति—तत्साधनं प्रमाणमिति। तस्याः चित्तवृत्तेर्यत्साधनं सन्निकर्षरूपव्यापारवच्चक्षुरादि, यच्च पौरुषेयबोधकरणं चित्त-वृत्ति रूपं तदुभयमपि प्रमाणमित्यर्थः। —विद्वत्तोषिणीकाराः

२. इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यायाः एतादृशचित्तवृत्तेः प्रमात्वे इन्द्रियाणि प्रत्यक्षं प्रमाणमिति बोध्यम्। एवम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यां चित्तवृत्त्यात्मिकाम् अमुख्यां प्रमामभिधाय मुख्यप्रमामाह—बोधश्चेत्यादि। चित्तवृत्तेः फलं यः पौरुषेयः पुरुष-वर्ती बोधः—बुद्धिधर्मोऽपि बोधः स्वाश्रयप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन पुरुषे उपचर्य-माणः—सा मुख्या प्रमेत्यर्थः। एतादृशबोधस्य प्रमात्वे चित्तवृत्तिः प्रमाणमिति बोध्यम्। एवं प्रमां लक्षयित्वा प्रमाणं लक्षयति—तत्साधनं प्रमाणमिति। तस्याश्चित्तवृत्तेः यत् साधनं पदार्थेन सह सन्निकृष्टं चक्षुरादि, एवं तस्य पौरुषेयबोधस्य यत् साधनं चित्तवृत्तिः, तदुभयमपि प्रमाणम्। —किरणावली

तक पहुँचने में प्रणालिका (नाली) की होती है। तब फिर इन्द्रियां प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमा का करण या मुख्य साधन कैसे हो सकती हैं? पाँचवीं कारिका के 'विशेष' में यह बात विशेष रूप से स्पष्ट की गई है। अतः वहीं द्रष्टव्य है। स्वयं बालराम के द्वारा पञ्चम कारिका के अन्तर्गत किया गया विषयोपन्यास उपर्युक्त के साथ विरोध उपस्थित करता है, जैसा कि उल्लिखित 'विशेष' में दिए गए बालराम के उद्धरण से ज्ञात हो जायगा।

ओ० बु० एजेन्सी पूना से डा० गङ्गानाथ झा के अनुवाद के सहित प्रकाशित संस्करण में 'तच्च असन्दिग्धा.......' ही पाठ है और इसी के अनुसार डा० झा का अनुवाद भी है। सांख्यतत्त्वविभाकर में पं० वंशीधर ने भी यही पाठ रक्खा है। पाठ के अनुसार 'तत्' पद के द्वारा पूर्व-प्रयुक्त 'प्रमाण' का परामर्श होता है, जैसा कि वंशीधरी में 'तच्च' के 'प्रमाणं च' अर्थ से स्पष्ट है। प्रस्तुत संस्करण में भी इस पंक्ति का अनुवाद इसके अनुसार ही दिया गया है :—

'और यह प्रमाण वह चित्तवृत्ति है जिसका विषय निश्चित रूप से ज्ञात हो रहा हो, बाधित होने वाला न हो तथा पूर्व से ज्ञात न रहा हो। (इस चित्तवृत्ति से उत्पन्न, अतएव उसका फलभूत) पौरुषेय बोध प्रमा है।' यह कहने की आवश्यकता न होगी कि इस पाठ के अनुसार एक ही प्रमाण तथा एक ही प्रमा सांख्य को इष्ट ज्ञात होती है। यद्यपि 'द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा, तत्साधकतमं यत् तत् त्रिविधं प्रमाणम्'—इस सांख्य-सूत्र से प्रमा और उसके साधन-भूत प्रमाण द्विविध ही ज्ञात होते हैं, तथापि अगली कारिका तथा उसके वाचस्पतिमिश्र-कृत व्याख्यान से तो चित्तवृत्ति ही एकमात्र प्रमाण ज्ञात होती है तथा पुरुष-गत बोध ही एकमात्र प्रमा। मूल के 'चित्तवृत्तिः' पर टीका करते हुए वंशीधर ने लिखा भी है—'सिद्धान्ते चक्षुरादेः करणत्वाभावादाह चित्तवृत्तिरिति। 'तत्साधनं प्रमाणम्' इत्यत्रान्वेति"। इस विचार को व्यास-कृत योगभाष्य का भी समर्थन प्राप्त है। योगसूत्र १।७ के व्याख्यान में व्यासदेव ने इस प्रकार लिखा है:—"इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणं, फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः।.......सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्। आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात् तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः'। इस उद्धरण में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम प्रमाणों में से प्रत्येक का केवल विशिष्ट चित्त-

वृत्ति रूप में कथन होने से व्यासदेव को केवल चित्तवृत्ति ही 'प्रमाण' के रूप में अभीष्ट प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष के निरूपण में इन्द्रिय को 'प्रणालिका' कहने से यह बात स्पष्ट होती है कि प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रिय अथवा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष नहीं अपितु इन दोनों के योग से उत्पन्न हुई चित्तवृत्ति ही है। इसी प्रकार से प्रत्यक्ष प्रमाण कही जाने वाली विशिष्ट चित्तवृत्ति के पुरुषगत बोध को उस प्रत्यक्ष प्रमाण का फल—उससे उत्पन्न प्रमा—कहने से प्रत्यक्ष प्रमा भी एक ही प्रकार की ज्ञात होती हैं। यही बात अनुमान तथा अनुमिति, एवं आगम या शब्द प्रमाण तथा तज्जन्य शाब्द बोध के विषय में भी सत्य है। सम्भवतः इसी कारण से पूर्व उद्धृत सांख्यसूत्र में कथित उभयविध 'प्रमा' तथा 'प्रमाण' का व्याख्यान[1] कर चुकने के अनन्तर विज्ञानभिक्षु ने व्यास-भाष्य में कथित इसी को सांख्यों का भी मुख्य सिद्धान्त कहा है :—
"पातञ्जलभाष्ये तु व्यासदेवैः पुरुषनिष्ठबोधः प्रमेत्युक्तः, पुरुषार्थमेव करणानां प्रवृत्त्या फलस्य पुरुषनिष्ठताया एवौचित्यात्। अतोऽत्रापि स एव मुख्यः सिद्धान्तः"। इसी सब कारण से "चैतन्यप्रतिबिम्बविशिष्टबुद्धिवृत्तिः वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यं वा फलपदार्थः स एव मुख्यप्रमाशब्दवाच्यः। एतादृशप्रमाकरणत्वेन बुद्धिवृत्तेः प्रमाणत्वं व्यपदिश्यते, तत्करणत्वेन च इन्द्रियादीन्यपि प्रमाणशब्दवाच्यानि भवन्ति। तथा च एतन्मते प्रमा प्रमाणं च द्विविधम्। इन्द्रियादीनां प्रमाणत्वे बुद्धिवृत्तेः प्रमात्वं, तस्याः प्रमाणत्वे पौरुषेयबोधस्य प्रमात्वम्। अतः 'अयं घटः इत्याद्यकारिका अन्तःकरणवृत्तिः प्रमाणम्, घटमहं जानामीत्याद्यनुव्यवसायः पुरुषे बुद्धिवृत्तिप्रतिबिम्बरूपः पौरुषेयो बोधः' इति यत् केषाञ्चित् व्याख्यानं, तन्निरस्तम्।" इत्यादि राजेश्वरशास्त्री-कृत व्याख्यान को सर्वथा असंगत एवं अयुक्त ही कहना पड़ता है।

सङ्ख्याविप्रतिपत्तिं निराकरोति—"त्रिविधम्" इति। तिस्रो विधा अस्य प्रमाणसामान्यस्य तत् त्रिविधम्, न न्यूनं नाप्यधिकमित्यर्थः। विशेषलक्षणैरनन्तरञ्चैतदुपपादयिष्यामः।

---

१. द्रष्टव्यं सां० सू० १।८७ का भिक्षु-भाष्य :—अत्र यदि प्रमारूपं फलं पुरुषनिष्ठमात्रमुच्यते तदा बुद्धिवृत्तिरेव प्रमाणम्। यदि च बुद्धिनिष्ठमात्रमुच्यते, तदा क्तेन्द्रियसन्निकर्षादिरेव प्रमाणम्।......यदि च पौरुषेयबोधो बुद्धिवृत्तिश्चोभयमपि प्रमोच्यते, तदा तूक्तमुभयमेव प्रमाभेदेन प्रमाणं भवति। चक्षुरादिषु तु प्रमाणव्यवहारः परम्परयैव सर्वथेति भावः। पातञ्जलभाष्ये तु व्यासदेवैः......।

अर्थ—अब प्रमाणों की संख्या के विषय में प्रचलित मत-भेद का निराकरण करते हुये कहते हैं कि प्रमाण के तीन प्रकार हैं, न कम और न अधिक, प्रमाणों के विशेष लक्षण के बाद ही इसका प्रतिपादन करेंगे।

कतमाः पुनस्ता विधाः ? इत्यत आह—"दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च" इति। एतच्च लौकिकप्रमाणाभिप्रायेण लोकव्युत्पादनार्थत्वाच्छास्त्रस्य, तस्यैवात्राधिकारात्। आर्षं तु विज्ञानं योगिनामूर्ध्वस्रोतसां न लोकव्युत्पादनायालमिति सदपि नाभिहितम्, अनधिकारात्।

अर्थ—ये तीन प्रकार कौन हैं, यह कहते है—'प्रत्यक्ष' 'अनुमान' तथा 'शब्द' या 'आगम'। यह त्रिविधत्व-कथन लौकिक प्रमाणों के ही अभिप्राय से कहा गया है, (अर्थात् साधारण जनों के ज्ञानोत्पादन में उपयोगी प्रमाण तीन ही हैं) क्योंकि शास्त्र साधारण जनों के ही ज्ञानार्थ होता है और इस कारण से लौकिक प्रमाण ही यहां निरूपण के विषय हैं। ऊर्ध्वरेता[1] योगियों का आर्ष प्रमाण तो साधारण जनों को ज्ञान कराने में उपयोगी नहीं है। इसलिए विद्यमान होने पर भी उसका यहाँ प्रकरण या विषय न होने के कारण कथन नहीं किया गया है।

स्यादेतत्-मा भून्न्यूनम्, अधिकं तु कस्मान्न भवति ? सङ्गिरन्ते हि प्रतिवादिनः उपमानादीन्यपि प्रमाणानि, इत्यत आह—"सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्" इति। एष्वेव दृष्टानुमानाप्तवचनेषु सर्वेषां प्रमाणानां सिद्धत्वात् अन्तर्भावादित्यर्थः। एतच्चोपपादयिष्यत इत्युक्तम्।

अर्थ—तीन से कम प्रमाण न हों तो न सही, पर अधिक क्यों नहीं होते ? गौतम इत्यादि प्रतिवादी उपमान इत्यादि को भी प्रमाण मानते हैं। इसका उत्तर कारिकाकार यह देते हैं कि इन्हीं प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम प्रमाणों में अन्य सभी प्रमाणों के अन्तर्भूत हो जाने के कारण लौकिक प्रमाण तीन ही हैं। इसका प्रतिपादन आगे करेंगे—यह पूर्व ही कह चुके हैं।

विशेष—सांख्यचन्द्रिकाकार नारायण तीर्थ ने 'सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्' का 'अन्य सारे प्रमाणों के इन्हीं तीन में अन्तर्भूत होने के कारण'—यह अर्थ न करके, सभी प्रमाणभूत पतञ्जलि इत्यादि महर्षियों को प्रत्यक्ष, अनुमान तथा

---

१. ऊर्ध्वं विषयेभ्यो बहिः परे तत्त्वे स्रोतः वृत्तिप्रवाहो तेषां, तेषां योगिनाम्।
—विद्वत्तोषिणीकारः।

आगम ही स्वीकृत या मान्य होने के कारण 'उपमान' आदि प्रमाण नहीं है[1]— यह अर्थ किया है।

अथ प्रमेयव्युत्पादनाय प्रवृत्तं शास्त्रं कस्मात् प्रमाणं सामान्यतो विशेषतश्च लक्षयति ? इत्यत आह—'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि" इति। सिद्धिः—प्रतीतिः। सेयमार्याऽर्थक्रमानुरोधेन पाठक्रममनादृत्यैव व्याख्याता ॥४॥

अर्थ—प्रमेयों का ज्ञान कराने के लिये आरम्भ किया गया शास्त्र 'प्रमा०' का सामान्य एवं विशेष लक्षण क्यों करने लगा? इसका उत्तर देते हैं :— क्योंकि प्रमेयों की प्रतीति (ज्ञान) प्रमाणाधीन होती है (अतः प्रधान रूप से प्रमेयों के प्रतिपादन को ही लेकर चलने वाला यह शास्त्र उनके प्रतिपादन में उपयोगी प्रमाणों को भी सूक्ष्म रूप से प्रतिपादित कर दे रहा है)। 'सिद्धि' का अर्थ है—प्रतीति अर्थात् ज्ञान। इस आर्या का अर्थानुकूल[2] व्याख्यान पाठ-क्रम का अनादर करके किया गया है।

सम्प्रति प्रमाणविशेषलक्षणावसरे प्रत्यक्षस्य सर्वप्रमाणेषु ज्येष्ठत्वात् तदधीनत्वाच्चानुमानादीनां सर्ववादिनामविप्रतिपत्तेश्च तदेव तावल्लक्षयति—

अर्थ—अब प्रत्यक्षादि पृथक्-पृथक् प्रमाणो के लक्षण कहने के समय सर्वप्रथम प्रत्यक्ष का ही लक्षण कहते है। क्योंकि वह समस्त प्रमाणों में श्रेष्ठ (पूर्ववर्ती) है, अनुमान इत्यादि उसी पर आश्रित रहते हैं, और सभी वादियों का उसके विषय में मतैक्य (अविरोध) है :—

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु[3] ॥५॥

---

१. सर्वैः प्रमाणैः प्रमातृभिः पतञ्जलिप्रभृतिभिः सिद्धत्वात् प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानीति स्वीकृतत्वात् उपमानादिकं तु न सर्वप्रमाणसिद्धम्।

—सांख्यचन्द्रिका

२. यथा च पाठ्यक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वं, तथा 'अर्थाच्च' इति सूत्रे जैमिनीये (५।१।२) व्यक्तमिति ततोऽवसेयम्। —विद्वत्तोषिणीकारा;

३, च—जय०।

अर्थ—विषय से सम्बद्ध (सन्निकृष्ट) इन्द्रिय पर आश्रित बुद्धि-व्यापार या ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। अनुमान पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट रूप से तीन प्रकार का कहा गया है और वह 'व्याप्य' तथा 'व्यापक' के ज्ञान से उत्पन्न होता है। 'आप्तवचन' अर्थात् आगम प्रमाण युक्त श्रुति (अर्थात् युक्त वाक्य से उत्पन्न उसके अर्थ-ज्ञान को कहते हैं।

"प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्" इति। अत्र "दृष्टम्" इति लक्ष्यनिर्देशः, परिशिष्टं तु लक्षणम्। समानासमानजातीयव्यवच्छेदो लक्षणार्थः।

अवयवार्थस्तु—विषिण्वन्ति विषयिणमनुबध्नन्ति, स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्तीति यावत्। "विषयाः" पृथिव्यादयः सुखादयश्च। अस्मदादीनामविषयाः तन्मात्रलक्षणाः योगिनामूर्ध्वस्रोतसाञ्च विषयाः। विषयं विषयं प्रति वर्तते इति प्रतिविषयम्। वृत्तिश्च सन्निकर्षः—अर्थसन्निकृष्टमिन्द्रियमित्यर्थः। तस्मिन् अध्यवसायः तदाश्रित इत्यर्थः। अध्यवसायश्च बुद्धिव्यापारो ज्ञानम्। उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति, वृत्तिरिति, ज्ञानमिति चाख्यायते। इदं तत्प्रमाणम्। अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलं प्रमा बोधः।

अर्थ—यहाँ 'दृष्ट' पद से लक्ष्य का कथन किया गया है, शेष लक्षण है। लक्षण का प्रयोजन है—सजातीय और विजातीय पदार्थों से लक्ष्य को पृथक् करना। प्रत्यक्ष के लक्षण में आये हुये शब्दों का अर्थ यह है:—जो विषयी अर्थात् बुद्धि को बाँधते हैं—अपने आकार से रंग कर उसे भी तद्रूप[1] बना देते हैं, वे विषय कहलाते हैं। पृथिवी आदि तथा सुख इत्यादि हमारे विषय हैं। हमारे ज्ञान के विषय न बनने वाले तन्मात्र इत्यादि सूक्ष्म भूत भी योगियों तथा ज्ञानियों के विषय हैं। जो विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में प्रवृत्त (व्यापृत) होता है, उसे 'प्रतिविषय' कहते हैं। 'वृत्ति' अर्थात् व्यापार केवल सन्निकर्ष या सम्बन्ध है (अपने स्थान को छोड़कर विषय-स्थान में गमन नहीं, अन्यथा श्रोत्र या चक्षुरिन्द्रिय के विषय-देश में चले जाने पर बधिरत्व या अन्धत्व का प्रसङ्ग

१. घटादयो विषया हीन्द्रियसन्निकर्षादिना विषयिणं चित्तं स्वाकारेणोपरञ्जयन्ति। यदिदमुपरंजनं, विषयिणि चित्ते विषयाणां स्वाकारार्पणमेतदेव स्वेन रूपेण निरूपणीयत्वमिति तत्त्वम्।

होगा)। इस प्रकार 'प्रतिविषय' पद का अर्थ है—विषय से सम्बद्ध इन्द्रिय। 'प्रतिविषयाध्यवसाय' का अर्थ है—विषय से संयुक्त इन्द्रिय पर आश्रित निश्चयात्मक ज्ञान। 'अध्यवसाय' ज्ञान को कहते हैं जो बुद्धि[1] का व्यापार या परिणाम है, (इन्द्रियों का व्यापार नहीं, यद्यपि इन्द्रियों के व्यापार से ही बुद्धि का व्यापार संभव है)। वस्तुतः सन्निहित विषयों वाली इन्द्रियों का (उन विषयों के साथ) सन्निकर्ष होने पर बुद्धि-गत तमोगुण के अभिभूत या न्यून होने के साथ-साथ सत्त्व गुण की जो प्रबलता या अधिकता होती है, उसी को अध्यवसाय, वृत्ति या ज्ञान कहते हैं। यही वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसी (विषयाकार रूप में परिणत) प्रमाण-भूत बुद्धि-तत्त्व के द्वारा स्व-प्रतिबिम्बित चेतन पुरुष पर होने वाला (स्वगृहीत विषयों का समर्पण-रूप[2]) अनुग्रह प्रत्यक्ष प्रमाण का फल, प्रत्यक्ष प्रमा या (पुरुषगत) ज्ञान कहलाता है।

विशेष—(i) जैसे न्याय में इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष या निर्विकल्पक ज्ञान—ये त्रिविध प्रत्यक्ष प्रमाण हैं और इनके फल क्रमशः निर्विकल्पक ज्ञान, सविकल्पक ज्ञान तथा हानोपादान-बुद्धि रूप से त्रिविध होते हैं जिससे प्रत्यक्ष या साक्षात्कारिणी प्रमा त्रिविध कही जाती है, वैसा सांख्यशास्त्र में नहीं है। इन्द्रिय-सन्निकर्ष रूप सहकारी के कारण उत्पन्न 'यह घट है'—ऐसा विषयाकार बुद्धि-परिणाम या बुद्धि-निष्ठ ज्ञान ही एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण है एवं उसके पीछे उत्पन्न हुआ 'मैं घट को जानता हूँ या घट-ज्ञान-युक्त हूँ—ऐसा पुरुष-निष्ठ ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमा (प्रत्यक्ष प्रमाण का फल) है। न्याय में इसे अनुव्यवसाय कहते हैं। विद्वत्तोषिणीकार ने 'इन्द्रियसन्निकर्षादिना जायमानोऽयं घटः इत्यादि बौद्धो बोधः प्रमाणम् तदनुरूपजायमानो घटमहं जानामीत्यादिपौरुषेयो बोधश्च प्रमेति भावः' ऐसा लिखकर इसे सुस्पष्ट किया है। इससे स्पष्ट है कि सांख्य के अनुसार प्रमाण केवल बोध-रूप या ज्ञान-रूप है और यह विषयाकार परिणाम के स्वरूप का होने के कारण एकमात्र बुद्धि का ही धर्म है, इन्द्रिय इत्यादि का नहीं। विशेषता इतनी ही होती है कि इन्द्रिय-सन्निकर्ष द्वारा बुद्धि-गत तमोगुण का

---

१. अध्यवसायपदाभिधेयं ज्ञानं च बुद्धेरेव व्यापारो नेन्द्रियधर्मः इत्यर्थः —विद्वत्तो

२. अन्तःकरणस्यायं स्वभावो यदिन्द्रियैरुपनीतान्विषयान् स्वस्वामिन आत्मने समर्पयति, यथाहु:—गृहीतानिन्द्रियैरर्थानात्मने यः प्रयच्छति। अन्तःकरण रूपाय तस्मै विश्वात्मने नमः॥ (वि० पु०, अंश १, अ० १४ श्लोक ३५) इति विद्वत्तो०

अभिभव होने के साथ ही सत्त्व-प्राबल्य होने पर बुद्धि का विषयाकार परिणाम 'प्रत्यक्ष', व्याप्ति इत्यादि के ज्ञान से उत्पन्न हुआ बुद्धि का (ततोऽयं पर्वतो वह्निमान्—एतादृश) विषयाकार परिणाम 'अनुमान' तथा वाक्य के श्रवण से उत्पन्न हुआ बुद्धि का विषयाकार परिणाम 'आगम' प्रमाण कहलाता है। प्रत्यक्ष में आया हुआ इन्द्रिय-सन्निकर्ष भी न्याय का संयोगादि सन्निकर्ष नहीं, अपितु इन्द्रियों की सहकारिता-मात्र है। दूसरे शब्द में यह कह सकते हैं कि बुद्धि के विषयाकार रूप में परिणत होने में इन्द्रियों का जो साहाय्य-विशेष आवश्यक होता है, वही सन्निकर्ष है। यह सहायता उतनी और वैसी ही है, जितनी और जैसी अनेक छिद्रों से युक्त घट में स्थित दीप के प्रकाश को बाहर निकल कर फैलने तथा उपस्थित पदार्थों को प्रकाशित करने में छिद्रों द्वारा प्राप्त होती है[1] अथवा जलाशयस्थ सलिल को खेत तक पहुँचने में जो सहायता प्रणाली से प्राप्त होती है। जैसे घटस्थ दीप का प्रकाश छिद्र-जन्य न होने के कारण उसका धर्म या कार्य नहीं कहा जा सकता किन्तु दीप-जन्य होने के कारण उनका कार्य या धर्म होता है, उसी प्रकार तमोगुण से आवृत बुद्धि द्वारा विषय का प्रकाशन छिद्रस्थानीय इन्द्रियों का कार्य न होने के कारण उनका धर्म नहीं अपितु बुद्धि का ही धर्म है। परन्तु जैसे छिद्रों के अभाव में दीप का प्रकाश बाहर निकल कर वस्तु का प्रकाशन नहीं कर सकता, तदर्थ छिद्रों की सहायता आवश्यक है, उसी प्रकार इन्द्रियों के अभाव में समस्त अर्थों का ग्रहण करने में समर्थ भी बुद्धि तमोगुण से प्रतिबद्ध होने के कारण बाहर निकल कर तथा विषय तक पहुँच कर उसका प्रकाशन नहीं कर सकती, उसमें इन्द्रियाँ आवश्यक हैं।[2] इन्हीं

---

१. न चैतादृशेन्द्रियेण अध्यवसायः इत्यर्थकप्रतिविषयेणाध्यवसाय इति तृतीयासमासः कुतो नाश्रितः इति वाच्यम्, एतन्मते नानाछिद्रघटान्तरवर्तिप्रदीपप्रकाशस्य छिद्रजन्यत्वाभाववत् बुद्धिवृत्तिरूपाध्यवसायस्य इन्द्रियजन्यत्वाभावेनैतादृशसमासासम्भवात्।—सुषमाकारः।

२. यथा स्वभावतश्चलनशीलमपि जलाशयस्थं सलिलं निर्गममार्गासत्त्वरूपप्रतिबन्धकबलात् स्वयं क्षेत्रमनुपसर्पदपि छिद्रे सति तद्द्वारा निर्गत्य कुल्यात्मना क्षेत्रमुपसृत्य केदाराकारेण परिणमते, तथा स्वभावतः सर्वार्थग्रहणसमर्थमपि बुद्धिसत्त्वं तमसा प्रतिबद्धं सत्स्वयं विषयमनुपसर्पदपीन्द्रियार्थसन्निकर्षादिना तमोनिरासे इन्द्रियप्रणालिकया विषयमुपसृत्य तदाकारेण परिणमते। योऽयं बुद्धितत्त्वस्य विषयाकारपरिणामः, स एव अध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति प्रमाणमिति चाभिधीयते—विद्वत्तोषिणीकारः।

इन्द्रियों की सहायता से बुद्धि को आवृत करने वाला उसका घटस्थानीय तमोगुण अति न्यून हो जाता है और फिर बुद्धि उस तमोगुण से मानो बाहर निकल कर, वस्तु तक प्राप्त होकर एवं तदाकार रूप में परिणत होकर उसे प्रकाशित कर देती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि न्याय की तरह सांख्य में ज्ञानोत्पत्ति में इन्द्रियों का प्रधान या सक्रिय नहीं अपितु गौण ही योग रहता है, प्रधान भाग तो बुद्धि का होता है। अतः वह बोध जिसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया, बुद्धि का धर्म है, इन्द्रियों का नहीं। यही बात अनुमान कहे जाने वाले लिङ्ग-लिङ्गि-ज्ञान तथा आगम प्रमाण कहे जाने वाले वाक्य-जन्य ज्ञान के विषय में भी सत्य है।

(ii) नारायण तीर्थ ने अपनी सांख्यचन्द्रिका में 'प्रतिविषयाध्यवसाय' इस समस्त पद का अर्थ 'इन्द्रिय' किया है :—प्रतिविषयो नियतविषयोऽध्यवसीयत निश्चीयतेऽनेनेति प्रतिविषयाध्यवसाय इन्द्रियम्। चक्षुरादीनां रूपादिविषयकत्वनियमान्नियतविषयकत्वम्।' गौडपाद ने इस पद का अर्थ इस प्रकार से किया है—'प्रतिविषयेषु श्रोत्रादीनां शब्दादिविषयेषु अध्यवसायो दृष्टम् प्रत्यक्षमित्यर्थः।' गौडपाद का अर्थ वाचस्पति मिश्र के अर्थ के सदृश ही है क्योंकि दोनों के अनुसार इन्द्रिय-कृत अध्यवसाय या ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, न कि इन्द्रिय। चन्द्रिकाकार की उपर्युक्त पंक्तियों से तो उन्हें इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमाण अभिमत प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार आप्तश्रुति का भी अर्थ उन्होंने 'आप्तोक्त 'वाक्य' किया है, वाचस्पति मिश्र की भाँति 'वाक्य-जन्य वाक्यार्थ-ज्ञान' नहीं। परन्तु प्रस्तुत कारिका की टीका के अन्तिम भाग में "कारिकार्थस्तु प्रतिविषयोऽध्यवसीयते निश्चीयते विषयीक्रियतेऽनेनेतीन्द्रियजन्यवृत्तिरूपं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, लिङ्गलिलिङ्गिपूर्वकं स्वज्ञानद्वारा हेतुकजन्यसाध्यज्ञानमनुमानम्, आप्तश्रुतिः आप्तशब्देन शाब्दो बोध इति" लिखकर वे स्वयं उसका विरोध करते हुए प्रतीत होते हैं।

अब पूर्वोक्त 'अनुग्रह' पद का अर्थ स्पष्ट करते हैं :—

बुद्धितत्त्वं हि प्राकृतत्वादचेतनमिति तदीयोऽध्यवसायोऽप्यचेतनः, घटादिवत्। एवं बुद्धितत्त्वस्य सुखादयोऽपि परिणामभेदा अचेतनाः। पुरुषस्तु सुखाद्यननुषङ्गी चेतनः। सोऽयं बुद्धितत्त्ववर्तिना ज्ञानसुखादिना तत्प्रतिबिम्बितस्तच्छायापत्त्या ज्ञानसुखादिमानिव भवतीति चेतनोऽनुगृह्यते। चितिच्छायापत्त्याऽचेतनापि बुद्धिस्तदध्यवसायोऽप्यचेतनश्चेतनवद्भवतीति, तथा च वक्ष्यति।

अर्थ—चूँकि बुद्धि-तत्त्व प्रकृति का परिणाम (कार्य) होने के कारण अचेतन है, इसलिये उसका ज्ञान-रूप परिणाम या कार्य भी घट इत्यादि के सदृश अचेतन ही है। इसी प्रकार बुद्धि के सुख, दुःख इत्यादि विभिन्न परिणाम या कार्य भी अचेतन हैं। इसके विपरीत पुरुष सुख-दुःख इत्यादि से सम्बन्ध न रखने वाला चेतन है। इस प्रकार का यह पुरुष बुद्धि मे प्रतिबिम्बित होता हुआ उसके साथ तादात्म्य (ऐक्य या अभेद) ग्रहण करके उसमें स्थित ज्ञान, सुख इत्यादि धर्मों के द्वारा स्वयं भी उनसे युक्त सा प्रतीत होता है। इस प्रकार चेतन पुरुष बुद्धि के द्वारा अनुगृहीत होता है और चेतन पुरुष के साथ तादात्म्य या अभेद को प्राप्त होने के कारण अचेतन बुद्धि तथा उसका अचेतन ज्ञान भी चेतन सा प्रतीत होता है, ऐसा आगे (२० वीं कारिका में) कहेंगे।

विशेष—तत्त्वकौमुदी की उपर्युक्त पंक्तियों मे सांख्य दर्शन की एक विशिष्ट मान्यता (सिद्धान्त) का कथन किया गया है। वह यह है कि बुद्धि प्रकृति (सर्जन शक्ति, Energy) का कार्य होने के कारण उसी की भाँति अचेतन तत्त्व है, एवं बुद्धि के 'ज्ञान' इत्यादि काय भी उसी प्रकार से अचेतन है। आगे की ४४-४५ कारिकाओं में बुद्धि के इन कार्यों या परिणामों को 'भाव' कहा गया है और इनकी संख्या आठ बताई गई है। ये 'भाव' ज्ञान, अज्ञान, धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, एवं अनैश्वर्य हैं। ये सब भाव बुद्धि के साक्षात् परिणाम हैं, किन्तु घट, पट आदि अन्य अचेतन वस्तुयें उसके परम्परागत [बुद्धि का अहंकार, अहङ्कार (के तामस रूप) के पञ्चतन्मात्र, पञ्च तन्मात्रों के पृथ्वी आदि पंच महाभूत, एवं इन पञ्च भूतों के घट, पट आदि समस्त जागतिक पदार्थ] परिणाम हैं। घट, पट आदि का अचेतन होना सभी को प्रत्यक्ष ज्ञात है। अतएव सांख्य शास्त्र का बुद्धि के साक्षात् परिणाम-भूत ज्ञान इत्यादि 'भावों' (thoghts) को अचेतन कहना सर्वथा संगत एवं समीचीन है। जहाँ तक बुद्धि के चेतन प्रतीत होने की बात हैं, सांख्य दर्शन उसे चेतन 'पुरुष' के साथ होते रहने वाले उसके संयोग [तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्—का० २०] के कारण मानता है। इस प्रकार सांख्य में ज्ञान आदि भावों के सहित बुद्धितत्त्व अचेतन प्रकृति तत्त्व (Creative Energy) का ही विशेष प्रकार या रूप होने के कारण अचेतन हो है, चेतन नहीं। किन्तु इसके विपरीत पाश्चात्त्य दर्शन मे भाव (Thought) 'चिति' तत्त्व (Consciousness) के ही रूप माने जाते हैं, प्रकृति (Energy) के नहीं। सांख्य-मत 'आत्म-साक्षात्कार' को लक्ष्य बनाने वाले पुरुष की लक्ष्य-

सिद्धि में बड़ा सहायक होता है, क्योंकि यह उसे अपनी आत्मा या स्वरूप से स्व-भावों के सहित बुद्धि (जो उसे भ्रमाती है, उसका संसरण कराती है) को अलग करने या निकाल सकने में सहायता देता है, जिससे वह (साधक) अपने 'कैवल्य'—केवली स्वरूप—का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है।

ऊपर जिस संयोग की बात कही गई है, वह दो स्थूल वस्तुओं के संयोग सा नहीं है। इसी संयोग से बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसकी छाया पड़ती है। इस 'छायापत्ति' का अर्थ है 'तादात्म्य-प्राप्ति' अर्थात् चिति और चित्त का अभेद-ग्रहण। इसी को अस्मिता नामक अविवेक या मोह भी कहा है, जैसा योगसूत्र पा० २, सू० ६ में कहा गया है :—'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता'। यही बात आचार्य पञ्चशिख ने भी इस प्रकार कही है—'बुद्धितः परम् पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन्कुर्यात्तत्रात्मबुद्धिं मोहेन।' इस प्रकार वस्तुतः प्रमाख्य फल बुद्धि-निष्ठ ही होता है, पुरुष-निष्ठ नहीं क्योंकि वह असङ्ग होने के कारण प्रमा का आधार हो ही नहीं सकता। वस्तुतः होता यह है कि इन्द्रियसन्निकर्ष द्वारा अर्थ (वस्तु) ग्रहण करते समय जब चित्त तदाकार हो जाता है, तब उसमें प्रतिबिम्बित या सङ्क्रान्त हुआ चेतन पुरुष मोह-वश उसके साथ अपना ऐक्य या तादात्म्य समझता हुआ स्वयं भी अर्थ-ग्रहण करता हुआ सा प्रतीत होता है। इस प्रकार केवल मोह या अविवेक से चित् और चित्त—पुरुष और बुद्धि के अभेद ग्रहण के कारण प्रमा या अर्थ-बोध का पुरुष में उपचार होता है। यही बात योग-सूत्रों में इस प्रकार कही गई है :—द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः। [यो० २ २०] विज्ञानभिक्षु के "न बुद्धौ प्रमाख्यं फलं जायते, तथा सति 'पौषेरुय' शब्दस्य यथाश्रुतार्थत्यागापत्तेः···" इत्यादि कथन को इसी कारण असत् कहना पड़ता है।

अत्राध्यवसायग्रहणेन संशयं व्यवच्छिनत्ति, संशयस्यानवस्थितग्रहणत्वेनानिश्चितरूपत्वात्। निश्चयोऽध्यवसाय इति चानर्थान्तरम्। विषयग्रहणेन चासद्विषयं विपर्ययमपाकरोति। प्रतिग्रहणेन चेन्द्रियार्थसन्निकर्षसूचनादनुमानस्मृत्यादयश्च पराकृता भवन्ति। तदेवं समानासमानजातीयव्यवच्छेदकत्वात् "प्रतिविषयाध्यवसायः" इति दृष्टस्य सम्पूर्णं लक्षणम्। तन्त्रान्तरेषु लक्षणान्तराणि तैर्थिकानां न दूषितानि, विस्तरभयादिति।

अर्थ—यहाँ (प्रत्यक्ष) के लक्षण में 'अध्यवसाय' पद के ग्रहण द्वारा संशय का बहिष्कार किया है क्योंकि जहाँ संशय अनेक-कोटिक ज्ञान होने के कारण अनिश्चित होता है, वहाँ अध्यवसाय तो निश्चय का ही समानार्थक है। 'विषय' पद के ग्रहण से असत्य विषय वाले मिथ्या ज्ञान का बहिष्कार किया है और 'प्रति' पद के ग्रहण से इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष सूचित करके अनुमान, स्मृति इत्यादि का बहिष्कार किया है। इस प्रकार स्वजातीय अनुमान इत्यादि तथा विजातीय मिथ्या ज्ञान इत्यादि से 'दृष्ट' को पृथक् करने के कारण 'प्रतिविषयाध्यवसायः' उसका सम्पूर्ण लक्षण सिद्ध हुआ। अन्य शास्त्रों में दार्शनिकों[1] द्वारा किये गए लक्षणों का विस्तार के भय से खण्डन नहीं किया गया।

अनुमान

[अब अनुमान प्रमाण न मानने वाले चार्वाक इत्यादि भौतिकवादियों के प्रति उसकी अनिवार्यता प्रदर्शित करते हैं :—]

नानुमानं प्रमाणम् इति वदता लौकायतिकेनाप्रतिपन्नः संदिग्धो विपर्यस्तो वा पुरुषः कथं प्रतिपद्येत ? न च पुरुषान्तरगता अज्ञान-सन्देहविपर्ययाः शक्या अर्वाग्दृशा प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तुम्। नापि प्रमाणान्तरेण, अनभ्युपगमात्। अनवधृताज्ञानसंशयविपर्ययस्तु यं कञ्चन पुरुषं प्रति प्रवर्तमानोऽनवधेयवचनतया प्रेक्षावद्भिरुन्मत्तवदुपेक्ष्यते। तदनेनाज्ञानादयः परपुरुषवर्तिनोऽभिप्रायभेदाद्वचनभेदाद्वा लिङ्गादनुमातव्याः इत्यकामेनाप्यनुमानं प्रमाणमभ्युपेयम्।

अर्थ—'अनुमान प्रमाण नहीं है' ऐसा कहने वाले लौकायतिक (भौतिकवादी) के द्वारा अज्ञान, सन्देह अथवा मिथ्या ज्ञान वाला पुरुष कैसे जाना जायगा ? अन्य पुरुष में स्थित अज्ञान, सन्देह और मिथ्या ज्ञान स्थूल एवं बाह्य दृष्टि वाले भौतिकवादी के द्वारा न तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही जाने जा सकते हैं और न किसी अन्य प्रमाण से ही, क्योंकि प्रत्यक्ष से भिन्न कोई प्रमाण वह मानता ही नहीं। इस प्रकार पुरुष-निष्ठ अज्ञान, संशय या मिथ्या ज्ञान का बिना निश्चय किये जिस-किसी पुरुष के बोध के लिए वचन में प्रवृत्त आ भौतिकवादी अपने वचनों के ध्यान देने योग्य न होने के कारण बुद्धिमानों

---

१. 'तीर्थं स्याद्दर्शनेष्वपि' इत्युक्तेस्तीर्थपदं दर्शनपरं, दर्शनं च गौतमादिप्रणीतं शास्त्रं, तदध्येतारो वेत्तारश्च दार्शनिकास्तैर्थिका वेत्यभिधीयन्ते—विद्वत्तो०।

के द्वारा उन्मत्त-सदृश उपेक्षित होगा। इसलिए भौतिकवादी को परपुरुषवर्ती अज्ञान इत्यादि का अनुमान उसके तात्पर्य-विशेष या वचन-विशेष रूप लिङ्ग द्वारा करना होगा। इसलिए अनिच्छा होने पर भी लौकायतिक को अनुमान मानना ही होगा।

तत्र प्रत्यक्षकार्यत्वादनुमानं प्रत्यक्षानन्तरं लक्षणीयम्। तत्राऽपि सामान्यलक्षणपूर्वकत्वाद्विशेषलक्षणस्यानुमानसामान्यं तावल्लक्षयति –"तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्" इति। लिङ्गम्—व्याप्यम्। लिङ्गि—व्यापकम्। शङ्कितसमारोपितोपाधिनिराकरणेन[1] च वस्तुस्वभावप्रतिबद्धं व्याप्यम्, येन प्रतिबद्धं तद् व्यापकम्।

अर्थ—अब अनुमान के प्रत्यक्षाश्रित होने के कारण तदनन्तर उसी का लक्षण द्वारा निरूपण होना चाहिये। फिर सामान्य लक्षण के बाद ही विशेष लक्षण हो सकने के कारण पहले अनुमान-सामान्य का ही लक्षण करते हैं। यह अनुमान लिङ्ग तथा लिङ्गी के ज्ञान से उत्पन्न होता है। 'लिङ्ग' का अर्थ है—व्याप्य' अर्थात् अपेक्षाकृत कम स्थानों में प्राप्त होने वाला तथा 'लिङ्गी' का अर्थ है 'व्यापक' अर्थात् अपेक्षाकृत अधिक स्थानों में प्राप्त होने वाला। सन्दिग्ध तथा निश्चित इन दोनों में से किसी भी प्रकार की उपाधि के कारण नहीं अपितु वस्तु-स्वभाव से जिसका साहचर्य (अविनाभाव) सम्बन्ध हो, उसे व्याप्य कहते हैं। जिसके साथ वह सम्बन्ध हो, उसे व्यापक कहते हैं।

विशेष—जब एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ साहचार्य-सम्बन्ध कार्य-कारण रूप या स्वाभाविक न होकर कल्पित हो, तब जिसके कारण वह सम्बन्ध कल्पित होता है, उसे उपाधि कहते हैं। जैसे 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः' में धूम का वह्नि के साथ साहचार्य-सम्बन्ध स्वाभाविक है क्योंकि वह्नि का कार्य होने

१. स चोपाधिः द्विविधः—सन्दिग्धो निश्चितश्च। यत्र साध्यव्यापकत्व-साधनाव्यापकत्वयोः संशयः, तत्र सन्दिग्धोपाधिः स च व्यभिचारसंशायकः। यथा स श्यामो मित्रातनयत्वादित्यत्र शाकपाकजन्यत्वं सन्दिग्धोपाधिरित्युच्यते। तत्र साध्यव्यापकत्वस्य सन्दिग्धत्वात् श्यामे मित्रातनये शाकपाकजन्यत्वस्य प्रत्यक्षाभावेन संदिग्धत्वादित्यर्थः। एवं यत्र साध्यव्यापकत्वसाधनाव्यपकत्वयोः निश्चयः, स निश्चितोपाधिः, यथा धूमवान् वह्निरित्यत्रार्द्रेन्धनसंयोगः। तत्र साध्यव्यापकत्वस्य साधनाव्यापकत्वस्य च प्रत्यक्षेणैव निश्चयात्।

के कारण जहाँ भी धूम होगा वहाँ वह्नि के साथ होगा, उसके बिना नहीं। इसी को धूम का वह्नि के साथ अविनाभाव सम्बन्ध भी कहेंगे। यही व्याप्ति है। परन्तु "यत्र वह्नि स्तत्र धूमः" में वह्नि का धूम के साथ साहचर्य सर्वत्र न होकर वहीं होगा, जहाँ उसमें 'आर्द्रेन्धन-संयोग' होगा क्योंकि वह्नि धूम का कार्य न होने के कारण उसके बिना भी रह सकता है, जैसे खूब तपाये हुए अयोगोलक (लोहे के गोले) में। इस प्रकार आर्द्रेन्धन-संयोग उपाधि है। यह उपाधि दो प्रकार की होती है—समारोपित या निश्चित और सन्दिग्ध। उपर्युक्त आर्द्रेन्धन-संयोग रूप उपाधि प्रत्यक्ष होने के कारण निश्चित है। "देवदत्तः श्यामो मित्रातनयत्वात्"—इस वाक्य में देवदत्त की श्यामता में मित्रा का पुत्र होना कारण कहा गया है जो ठीक नहीं है, क्योंकि उसके सभी पुत्र श्याम हों, ऐसी बात नहीं है। अतः देवदत्त की श्यामता में कारण उसके द्वारा खाये गये शाक इत्यादि का परिणाम-विशेष सम्भव है। अतः उक्त वाक्य में यह उपाधि है। यह संदिग्धोपाधि है, क्योंकि इसका प्रत्यक्ष से निश्चय नहीं होता।

लिङ्गलिङ्गिग्रहणेन विषयवाचिना विषयिणं प्रत्ययमुपलक्षयति। 'धूमादिर्व्याप्यो वह्न्यादिर्व्यापकः' इति यः प्रत्ययस्तत्पूर्वकम्। लिङ्गि-ग्रहणं चावर्तनीयम्। तेन च लिङ्गमस्याऽस्तीति पक्षधर्मताज्ञानमपि दर्शितं भवति। तत् 'व्याप्यव्यापकभावपक्षधर्मताज्ञानपूर्वकमनुमानम्' इत्यनुमानसामान्यं लक्षितम्।

अर्थ—ज्ञान के विषयभूत धूम वह्नि इत्यादि के वाचक 'लिङ्ग' और 'लिङ्गी' शब्द उन विषयों या वस्तुओं के ज्ञान को सूचित करते हैं। इस प्रकार धूमादि के दर्शन से पर्वतादि में वह्नि आदि का अनुमान 'धूमादि व्याप्य है और वह्नि इत्यादि व्यापक हैं अर्थात् जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ वह्नि है"—इस ज्ञान से होता है। 'लिङ्गी' शब्द (जो पहले 'व्यापक' के अर्थ में लक्षण में आया है) की पुनः आवृत्ति[1] होनी चाहिये। इससे 'लिङ्गी' शब्द की 'लिङ्ग हो वर्तमान जिसमें—इस व्युत्पत्ति से अनुमान के लक्षण में इस ज्ञान की आवश्यकता भी प्रदर्शित हो जाती है कि धूमादि लिङ्ग पर्वतादि पक्ष में उसके धर्म रूप में विद्यमान है। इस प्रकार लिङ्ग और लिङ्गी के व्याप्ति-ज्ञान तथा

१. लिङ्गि लिङ्गि चेति लिङ्गिनी, लिङ्गं च लिङ्गिनी चेति लिङ्गलिङ्गीनि, तानि पूर्वं यस्य तत् लिङ्गलिङ्गपूर्वकम् इति समासाश्रयेण लिङ्गलिङ्गिलिङ्गिजन्य-मित्यायातम् —सुषमाकारः

लिङ्ग के पक्षधर्मता-ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान अनुमान प्रमाण कहलाता है। यह अनुमानसामान्य का लक्षण हुआ।

अनुमानविशेषान् तन्त्रान्तरलक्षितान् अभिमतान् स्मारयति— "त्रिविधमनुमानमाख्यातम्" इति। तत् सामान्यतो लक्षितमनुमानं विशेषतस्त्रिविधं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्चेति। तत्र प्रथमं तावत् द्विविधम्—वीतमवीतं च। अन्वयमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकमवीतम्। तत्रावीतं शेषवत्। शिष्यते इति शेषः। स एव विषयतया यस्यास्त्यनुमानज्ञानस्य तच्छेषवत्, यदाहुः—" प्रसक्त-प्रतिषेधे अन्यत्राप्रसङ्गात् शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेषः" (न्याय-भाष्यम्) इति। अस्य चावीतस्य व्यतिरेकिण उदाहरणमग्रे-ऽभिधास्यते।

अर्थ—अब दूसरे न्याय[२] इत्यादि शास्त्र में कहे गए स्वाभिमत अनुमान के भेदों को बतलाते हैं—वह अनुमान तीन प्रकार का है। अर्थात् जिस अनुमान का सामान्य रूप से अभी लक्षण बनाया गया है, वह पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट रूप से तीन प्रकार का होता है। सर्वप्रथम अनुमान दो प्रकार का होता है—वीत तथा अवीत। अन्वय व्याप्ति (तत्सत्त्वे तत्सत्त्वं यथा यत्र धूमोऽस्ति, तत्र वह्निरस्ति) के द्वारा प्रवृत्त होकर वह्नि आदि 'व्यापक' की पर्वत इत्यादि पक्ष में सत्ता सिद्ध करने वाला अनुमान 'वीत' कहलाता है। व्यतिरेक-व्याप्ति द्वारा प्रवृत्त होकर व्यापक के निषेध द्वारा व्याप्य का पक्ष में निषेध करने वाला अनुमान 'अवीत' कहलाता है। इसमें 'अवीत' 'शेषवत्' कहलाया है। 'शेष' वह है जो बच जाय। वही शेष जिस अनुमान-ज्ञान का विषय हो उसे 'शेषवत्' अनुमान कहते हैं। इसके विषय में (न्या० सू० १।१।५ के भाष्य में) इस प्रकार कहा गया है—परिशेष (शेषवत्) अनुमान उसे कहते हैं जिससे किसी वस्तु की जहाँ-कहीं सम्भावना हो, वहाँ सर्वत्र निषेध करके अन्यत्र सम्भावना न होने के कारण बचे हुए पदार्थ में उसका ज्ञान किया जाय।

---

१. निर्गलितार्थमाह—तत् इति। यस्मादेवं तत्तस्माद् व्याप्तव्यापक-भावज्ञानपुरःसरं यद् व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वज्ञानं तत्पूर्वकं यज्ज्ञानं तदनुमानमित्य-नुमानसामान्यं लक्षितमित्यर्थः—विद्वत्तो०।

२. अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टं च (न्या० सू० १।१।५) तत्पूर्वकं प्रत्यक्षपूर्वकमित्यर्थः। —वात्स्यायनभाष्यम्।]

इस व्यतिरेकी अवीतानुमान का उदाहरण[1] आगे (नवीं कारिका में) दिया जायेगा।

विशेष—जैसे शब्द 'गुण' होने के कारण द्रव्य में आश्रित होगा, द्रव्य-भिन्न गुण आदि में नहीं। वह पृथ्वी इत्यादि आठ द्रव्यों में आश्रित नहीं है, इसलिए वह इनसे भिन्न किसी नवम द्रव्य में आश्रित होगा। नवम् द्रव्य को आकाश कहते हैं, जो शब्द गुण वाला है। इस प्रकार शब्द का आकाश में सम्प्रत्यय अर्थात् शब्द द्वारा आकाश रूप नौवें द्रव्य की सिद्धि इसी शेषवत् या परिशेषानुमान से हुई है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार यह व्यतिरेकी अनुमान है, पर वात्स्यायन ने इसके उदाहरण में जो शब्द के गुणत्व का अनुमान दिया है, वह अन्वय-व्यतिरेकी है। इसीलिए अपनी "तात्पर्यटीका" में उन्होंने इसका प्रत्याख्यान किया है। ऊपर शेषवत् का जो उदाहरण दिया गया है, वह चित्सुखाचार्य के न्यायमकरन्द की व्याख्या में दिए गए उदाहरण के आधार पर है। इच्छादि गुणों के द्वारा आत्म-द्रव्य का अनुमान भी आचार्य वाचस्पति के मतानुसार शेषवत् होगा, पर वात्स्यायन के अनुसार सामान्यतोदृष्ट होगा।

वीतं द्वेधा—पूर्ववत् सामान्यतोदृष्टं च। तत्रैकं दृष्टस्वलक्षण-सामान्यविषयं यत्, तत्पूर्ववत्। पूर्वप्रसिद्धं दृष्टस्वलक्षणसामान्य-मितियावत्; तदस्य विषयत्वेनास्त्यनुमानज्ञानस्येति पूर्ववत्। यथा धूमाद्वह्नित्वसामान्यविशेषः[2] पर्वतेऽनुमीयते, तस्य वह्नित्वसामान्य-विशेषस्य स्वलक्षणं वह्निविशेषो दृष्टो रसवत्याम्।

---

१. यथा 'आत्मा अपरिणामी निर्धर्मकत्वात्' इत्यत्र 'यत्र अपरिणामित्वा-भावः (परिणामित्वं वा) तत्र निर्धर्मकत्वाभावः (सधर्मकत्वं वा) इति व्याप्त्या आत्मपक्षे सधर्मकत्वेतिव्यापकस्य निषेधेन तत्र परिणामित्वेतिव्याप्यस्य निषेधः (अपरिणामित्वकथनं वा) अवीतम्।

२. (i) वह्नित्वसामान्यविशेषः वह्नित्वावच्छिन्नपर्वतीयवह्निव्यक्ति-विशेषः।

—वंशीधरी।

अर्थ—वीतानुमान दो प्रकार का होता है—पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। इनमें से पूर्ववत् अनुमान का विषय ऐसी किसी वस्तु का सामान्य रूप होता है, जिसका विशिष्ट या वैयक्तिक रूप पहले प्रत्यक्ष हो चुका रहता है। 'पूर्व' का अर्थ है—प्रसिद्ध अर्थात् किसी वस्तु का सामान्य रूप, जिसका विशिष्ट रूप पहले प्रत्यक्ष हो चुका है। ऐसा 'सामान्य' जिस अनुमान का विषय हो, उसे 'पूर्ववत्' अनुमान कहते हैं; जैसे धूम के द्वारा 'वह्नित्व' रूप सामान्य धर्म से अवच्छिन्न (युक्त) विशेष रूप अर्थात् पर्वतीय वह्नि का अनुमान होता है, जिसका वैयक्तिक रूप (Individual form) अर्थात् वह्निविशेष रसोई में पहले देखा जा चुका है।

विशेष—पूर्ववत् के उदाहरण में आये हुए 'वह्नित्वसामान्यविशेष' का दो प्रकार से विग्रह करके उसके दो अर्थ टीकाकारों ने किये हैं। विद्वत्तोषिणीकार श्री बलराम उदासीन ने 'वह्नित्वं चासौ सामान्यविशेषश्च (सामान्यं चासौ विशेषश्चेति सामान्यविशेषः) इति वह्नित्वसामान्यविशेषः' ऐसा विग्रह समझते हुए 'नात्र वह्नित्वासामान्यस्य विशेषोऽनुमेय इति विवक्षितं किन्तर्हि वह्नित्व-रूपः सामान्यविशेषोऽनुमीयते इत्यभिप्रेतमिति गृहाण'—यह अर्थ किया है। उनके इस कथन का तात्पर्य यह है कि 'वह्नित्व' रूप सामान्य से अवच्छिन्न वह्नि-व्यक्ति का अनुमान होता है, ऐसी बात नहीं, अपितु वह्नित्व का ही अनुमान

(ii) वह्नित्वसामान्यविशेषः—वह्नित्वात्मकः सामान्यविशेषोऽनुमीयते इत्यर्थः। ननु कथं वह्नित्वस्य सामान्यविशेषोभयात्मकत्वमिति चेत्, इत्थम्:—जातेः द्विधा प्रयोजनम्—एकं स्वाश्रयस्यानुवृत्तिजननं, द्वितीयंस्वाश्रयस्य व्यावृत्ति-जननम्, तत्र सत्ताया इव वह्नित्वस्य यदा सर्वेषां वह्नीनामनुगतप्रतीतिजनकत्वं तदा 'सामान्य' धर्म इत्याख्या, यदा च वह्निः इतरभिन्नः वह्नित्वात् इति स्वार्थानुमानेन इतरभेदजनकत्वं, तदा 'विशेष' धर्म इत्याख्या भवति। "अनुवृत्तेः हेतुत्वात् सामान्यं, व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद् विशेषाख्यां लभते" इति कणादसूत्रभाष्यकारः प्रशस्तपादः।—किरणावली

(iii) अत्र वह्नित्वसामान्यस्य विशेष इति नार्थः, येन व्यक्तिविशेषस्या-नुमेयत्वं स्यात्, किन्तु वह्नित्वरूपः सामान्यविशेषोऽनुमीयते इत्येवाभिप्रेतमिति बोध्यम्। एतेन 'सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्' इति योगभाष्याद् वह्नि-त्वरूपसामान्यस्यैवानुमेयत्वावगतेः 'वह्नित्वसामान्यविशेषोऽनुमीयते' इति व्यक्तिरूपविशेषस्यानुमेयत्वप्रतिपादनमयुक्तमित्यपास्तम्। —सारबोधिनी

होता है जो सामान्य रूप होता हुआ भी विशेष होता है। फिर वह्नित्व की उभयरूपता सिद्ध करने के लिए उन्होने पदार्थ-धर्म-संग्रह (वैशेषिक भाष्य) के कर्ता प्रशस्तपाद की 'सामान्यं द्विविधं परमपरं चानुवृत्तिप्रत्ययकारणम्। तत्र परं सत्ता महाविषयत्वात् सा चानुवृत्तेरेव हेतुत्वात्सामान्यमेव। द्रव्यत्वाद्य-परमल्पविषयत्वात्, तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात्सामान्यं सद्विशेषाख्यामपि लभते इति'—इन पंक्तियों को उद्धृत करके इनका अर्थ करते हुए 'अत्यन्त-व्यावृत्तानां तत्वानां यतः कारणादन्योन्यस्वरूपानुगमः प्रतीयते तत्सामान्यम-भिधीयते, तच्च द्विविधमेकं द्रव्यादित्रिकवृत्ति सत्ताख्यं परम्; एतच्च स्वाश्रय-स्यानुवृत्तेरेव हेतुत्वात्सामान्यमित्येव कीर्त्यते; अपरं च द्रव्यत्वपृथिवीत्वगोत्वा-दिरूपमपरसामान्यम्; एतच्च स्वाश्रस्य विजातीयेभ्योऽपि व्यावृत्तेरपि हेतुत्वा-द्विशेष इत्यपि व्यवह्रियते तथा च सिद्धं वह्नित्वादेः सामान्यविशेषरूपत्वमिति' ऐसा लिखा है। 'अनुमान का विषय वह्नित्व इत्यादि सामान्य ही होता है, विशेष अर्थात् व्यक्ति-रूप वह्नि नहीं'—विद्वत्तोषिणीकार ने अपना यह मत योगभाष्य की 'सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्' (अर्थात् अनुमान वह वृत्ति या ज्ञान है जिसमें वह्नित्व इत्यादि सामान्य का ही निश्चय होता है—) इस पंक्ति के आधार पर स्थापित किया है। किरणावलीकार तथा सारबो-धिनीकार ने बालराम के ही मत का सर्वथा अनुसरण किया है। इस मत का खंडन करते हुए पं० हरिराम शुक्ल ने अपनी सुषमा नामक टीका में "केचित्तु 'सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्' इति योगभाष्यानुसारेण वह्नित्व-स्यैवानुमेयत्वं वदन्तः वह्नित्वसामान्यविशेषः इत्यस्य वह्नित्वरूपसामान्य-धर्मावच्छिन्नो विशेष इति नार्थः, अपितु वह्नित्वरूपो यः सामान्यविशेषः इत्यर्थः, न च वह्नित्वस्य कथं सामान्यविशेषत्वमिति चेत्, तस्य जातिरूपतया सामान्यत्वं घटादिभ्यो व्यावर्तकतया विशेषत्वमपि सम्भवतीति वदन्ति। तदेतत् 'पर्वते वह्निमनुमिनोमि इति सर्वजनप्रतीत्या वह्नेरेव अनुमितिविधेय-त्वरूपानुमेयत्वावगत्या वह्नित्वस्यानुमेयत्वानङ्गीकारेण उपेक्षितम्"—ऐसा लिखा है। खण्डन का अभिप्राय इतना ही है कि चूँकि सर्व-साधारण को 'मैं पर्वत में वह्नि का अनुमान करता हूँ'—ऐसी ही प्रतीत होती है, "मैं पर्वत में वह्नित्व का अनुमान करता हूँ'—ऐसी नहीं, इसलिए अनुमान का विषय वह्नि ही होगा, वह्नित्व नहीं। सुषमाकार ने अपना यह मत सर्व-साधारण की अनुभूति के आधार पर स्थापित किया है। रही ऊपर उद्धृत

योग-भाष्यकार के मत के साथ इस मत के विरोध की बात, इसका परिहार सुषमाकार ने आगे की पंक्तियों में इस प्रकार किया है:—'न च भवन्मते पूर्वोक्तसामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानमिति योगभाष्यविरोध इति वाच्यम्, सामान्यावधारणप्रधाना इत्यस्य सामान्यरूपेण वह्नित्वादिना यदवधारणं वह्नेः निश्चयः स एव प्रधानं फलं यस्य तथाभूतं यत्तदनुमानमनुमितिकरणमित्यर्थकत्वात्; एतच्च "गृहीतव्याप्तिकेन हेतुना साध्यवति पक्षे ज्ञायमानेन साध्यस्य सामान्यात्मनाऽध्यवसायोऽनुमानम्" इति योगसूत्रटीकायां नारायणतीर्थकृतायां स्पष्टम्'। उनका अभिप्राय यह है कि योगभाष्य की 'सामान्यावधारणप्रधाना' पंक्ति का 'सामान्य रूप से वह्नि आदि का निश्चय'—ऐसा ही अर्थ है, 'वह्नित्व इत्यादि सामान्य का निश्चय'—ऐसा अर्थ नहीं है। अपने मत का समर्थन उन्हें नारायण तीर्थ की 'साध्यस्य सामान्यात्मना अध्यवसायोऽनुमानम्' इस पंक्ति में स्पष्ट मिला है। अब रहा इस अनुमान के प्रत्यक्ष से भिन्न होने का प्रश्न, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष से इसी रूप में भिन्न माना जाता है कि जहाँ प्रत्यक्ष के द्वारा विशेष का ज्ञान होता है वहाँ अनुमान के द्वारा सामान्य का हो, इसका समाधान सुषमाकार ने इस प्रकार किया है:—"तथा च प्रत्यक्षे यथा परिमाणरूपादिना घटादेः ज्ञानं भवति न तथा अनुमितौ अशेषविशेषाकारेण ज्ञान भवतीत्येव सामान्यावधारणेत्यादेः तात्पर्यं बोध्यम्" अर्थात् प्रत्यक्ष के विषय बनने वाले घटादि का उनके परिमाण, रूप इत्यादि विशेषों के सहित ही ज्ञान होता है परन्तु अनुमान का विषय बनने वाले पर्वतस्थ वह्नि आदि का केवल वह्नि रूप में ही ज्ञान होता है, रसोई में प्रत्यक्ष हुए वह्नि के समान विशिष्ट स्वरूप से युक्त रूप में नहीं। इतने व्याख्यान से ही सुषमाकार के मत की उपयुक्तता स्पष्ट है। पं० वंशीधर ने यही पक्ष बहुत ही संक्षेप में, तथापि निश्चयात्मक शब्दों में ग्रहण किया है—'वह्नित्वसामान्यविशेषवह्नित्वावच्छिन्नपर्वतीयवह्निव्यक्तिविशेषः।' इसी के अनुसार 'वह्नित्वसामान्यविशेषः पर्वतेऽनुमीयते' इत्यादि पंक्ति का अनुवाद यहाँ प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः 'अनुमान का विषय वस्तु का सामान्य रूप ही होता है, विशिष्ट रूप नहीं'—इसमें एक मत होने पर भी उस सामान्यरूपता के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद रहा है। इसीलिए इतनी बड़ी टिप्पणी लिखने की आवश्यकता पड़ी।

अपरं च वीतं सामान्यतोदृष्टं अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयम्। यथेन्द्रियविषयानुमानम्। अत्र हि रूपादिविज्ञानानां क्रियात्वेन करणवत्त्वमनुमीयते। यद्यपि करणत्वसामान्यस्य छिदादौ वास्यादिस्व-

लक्षण मुपलब्धं, तथाऽपि यज्जातीयं रूपादिज्ञाने करणवत्त्वमनुमीयते, तज्जातीयस्य करणस्य न दृष्टं स्वलक्षणं प्रत्यक्षेण। इन्द्रियजातीयं हि तत्करणम्। न चेन्द्रियत्वसामान्यस्य स्वलक्षणमिन्द्रियविशेषः प्रत्यक्षगोचरोऽर्वाग्दृशाम्, यथा वह्नित्वसामान्यस्य स्वलक्षणं वह्निः। सोऽयं पूर्ववतः सामान्योदृष्टात् सत्यपि वीतत्वेन तुल्यत्वे विशेष। अत्र च दृष्टं दर्शनम्, सामान्यत इति सामान्यस्य, सार्व-विभक्तिकस्तसिः। अदृष्टस्वलक्षणस्य सामान्यविशेषस्य दर्शनं सामान्यतोदृष्टमनुमानमित्यर्थः। सर्वं चैतदस्माभिर्न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीकायां व्युत्पादितमिति नेहोक्तं विस्तरभयात्।

अर्थ—सामान्यतोदृष्ट नामक दूसरे प्रकार के वीतानुमान का विषय ऐसी सामान्य वस्तु होता है जिसका अपना असाधारण या विशिष्ट रूप पहले न देखा गया हो। जैसे इन्द्रिय-विषयक अनुमान। इसमें "रूपरसादि-विषयक प्रत्यक्ष-ज्ञान क्रिया होने के कारण अवश्य ही 'करण' के द्वारा उत्पन्न होंगे" (क्योंकि जो क्रिया होती है, वह अवश्य ही किसी कारण या साधन-विशेष से उत्पन्न होती है, जैसे छिदा अर्थात् कटाई इत्यादि क्रिया वसूले, कुल्हाड़ी इत्यादि संसम्पन्न होती है)—इतना भर अनुमान होता है यद्यपि कटाई इत्यादि के विषय में 'करणत्व' सामान्य का अपना विशिष्ट प्रकार बसूला आदि पहले प्रत्यक्ष हुआ रहता है, तथापि रूप, रस इत्यादि के ज्ञान के विषय में जिस प्रकार के करण का अनुमान होता है, उस प्रकार के करण का अपना विशिष्ट रूप कभी प्रत्यक्ष नहीं हुआ। क्योंकि वह करण इन्द्रियत्वविशिष्ट है और 'इन्द्रियत्व' सामान्य का अपना विशिष्ट रूप अर्थात् कोई इन्द्रिय-विशेष स्थूल दृष्टि वालों को कभी प्रत्यक्ष नहीं होता। इसके विपरीत 'वन्हित्व' सामान्य के अपने विशिष्ट रूप—रसोई वाले वन्हि—का प्रत्यक्ष होता है। 'वीत' रूप से समानता होने पर भी सामान्य-तोदृष्ट से पूर्ववत् का यही भेद है। यहाँ पर 'दृष्ट' का अर्थ है—दर्शन या ज्ञान। सामान्यतः का अर्थ है—'सामान्य का', क्योंकि 'तसिः' प्रत्यय सभी विभक्तियों का अर्थ प्रकट करता है। इस प्रकार सामान्यतोदृष्ट अनुमान प्रमाण उस ज्ञान को कहते हैं जिसका विषय सामान्य से युक्त वह व्यक्ति होता है जिसका अपना विशिष्ट रूप कभी भी प्रत्यक्ष न हुआ हो। यह सब हमने अपनी 'न्यायवार्तिकता-त्पर्यटीका' में विशेष रूप से प्रतिपादित किया है, इसीलिए यहाँ विस्तार के डर से उसे दोहराया नहीं।

आप्त वचन या आगम प्रमाण

प्रयोजकवृद्धशब्दश्रवणसमनन्तरं प्रयोज्यवृद्धप्रवृत्तिहेतुज्ञानानुमानपूर्वकत्वाच्छब्दार्थसम्बंधग्रहणस्य, स्वार्थसम्बन्धज्ञानसहकारिणश्च शब्दस्यार्थप्रत्यायकत्वादनुमानपूर्वकत्वमित्यनुमानानन्तरं शब्दं लक्षयति—"आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु" इति। अत्र आप्तवचनमिति लक्ष्यनिर्देशः, परिशिष्टं लक्षणम्। आप्ता प्राप्ता युक्तेति यावत्। आप्ता चासौ श्रुतिश्चेति आप्तश्रुतिः। श्रुतिः—वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम्।

अर्थ—जब कोई प्रेरक व्युत्पन्न पुरुष (आचार्य इत्यादि) किसी व्युत्पन्न शिष्यादि को कार्य-विशेष का आदेश करने के लिए शब्दों (जैसे 'गामानय' इत्यादि) का प्रयोग करता है और आज्ञा-पालक व्युत्पन्न शिष्य तदनुकूल प्रवृत्त होता है तो उसे देखने वाला पास में बैठा हुआ अव्युत्पन्न बालक प्रथम गाय को लाने आदि के विषय में होने वाली प्रवृत्ति के कारण-भूत ज्ञान का अनुमान करके फिर शब्द सुनने के अनन्तर उत्पन्न होने के कारण उस ज्ञान की शब्दजन्यता का अनुमान करता है, जिससे उसे शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध-विशेष (अर्थात् अमुक शब्द अमुक अर्थ प्रकट करने में समर्थ है इस शब्द-शक्ति) का ज्ञान होता है और चूंकि शब्द और अर्थ के इस सम्बन्ध-विशेष का ज्ञान होने पर ही शब्द अपने अर्थ की प्रतीति कराता है, इसलिए शब्द-ज्ञान की अनुमान-पूर्वकता सिद्ध है। इसी कारण अनुमान के बाद ही शब्द का लक्षण करते हैं:—'आप्तवचन या आगम-प्रमाण युक्त श्रुति को कहते हैं।' यहां 'आप्तवचन' पद से लक्ष्य (जिसका लक्षण करना है) का कथन किया गया है, शेष लक्षण है। लक्षण के 'आप्त' शब्द का अर्थ है—प्राप्त (प्रकृष्ट या निर्दोष ढङ्ग से होने वाला) या युक्त। 'श्रुति'[1] का अर्थ है—वाक्य से उत्पन्न वाक्यार्थ-ज्ञान।

---

१. श्रुतिः स्त्री वेद 'आम्नय' इत्यभिधानाद्वेदवाक्ये शक्तमपि श्रुतिपदमत्र अनभिप्रेतभागत्यागरूपया जहदजहल्लक्षणया सामान्यवाक्यपरं तन्नीत्वा पुनरुपचाराद् वाक्यजन्यबोधपरत्वेन व्याख्येयमित्यर्थः।

यद्वा श्रूयते इति श्रुतिः श्रोत्रग्राह्यं वाक्यमिति व्युत्पत्त्या श्रुतिपदस्य वाक्यमिति वाच्योऽर्थः तज्जन्यं ज्ञानं च लाक्षणिकोर्थः इति पन्था अत्र आश्रयणीयः। सर्वथापि श्रुतिपदमत्र वाक्यजन्यज्ञानपरम् इति ग्राह्यमिति तत्त्वम्।

—विद्वत्तोषिणीकाराः।

विशेष—उपर्युक्त पंक्तियों में कारिकाओं के टीकाकार ने केवल यह बात स्पष्ट की है कि शब्द-बोध 'शक्ति अर्थात् शब्दार्थ-सम्बन्ध के ज्ञान के बिना असम्भव है, और यह शक्ति-ज्ञान अनुमान के बिना असम्भव है। इस प्रकार अनुमान शब्द प्रमाण में परम्परया कारण है। इसलिये शब्द प्रमाण के पूर्व अनुमान का लक्षण करके ही उसका लक्षण करना सम्भव हो सका। अब जहाँ तक शक्ति-ज्ञान के अभाव में शब्द-बोध की असम्भवता की बात है, वह तो स्पष्ट है; क्योंकि जब तक श्रोता को यह बात ज्ञात नहीं कि अमुक-अमुक शब्द में अमुक-अमुक अर्थ प्रकट करने की शक्ति है, अर्थात् अमुक शब्द का अमुक अर्थ है, तब तक उसे 'गामानय' इत्यादि वाक्य से 'गाय ले आओ' इत्यादि अर्थ का ज्ञान कैसे हो सकता है? रही इस शक्ति-ज्ञान में अनुमान प्रमाण की सहायता, वह इस प्रकार सिद्ध है। शक्ति-ज्ञान की दृष्टि से सारे मनुष्य दो कोटि में बांटे जा सकते हैं। जिन्हें शब्दों की शक्ति का ज्ञान है, वे व्युत्पन्न या वृद्ध कहलाते हैं। जिन्हें शब्दों की शक्ति का ज्ञान नहीं है, वे अव्युत्पन्न या कनीयान् कहलाते हैं। यों तो शब्द असंख्य हैं और सब का अर्थ विरले ही जनों को ज्ञात रहता है। इस दृष्टि से विद्वज्जन भी अन्त तक कुछ न कुछ अंश में अव्युत्पन्न रहते ही हैं, अज्ञ प्राकृत जनों की तो बात ही क्या? पर ये दो कोटियाँ सामान्य लोक-व्यवहार की दृष्टि से की गई हैं। जिन्हें सामान्य व्यवहार में आने वाले प्रायः सभी शब्दों का अर्थ ज्ञान रहता है, वे व्युत्पन्न ही माने जाते हैं। इस दृष्टि से अज्ञ बालक ही मुख्य रूप से अव्युत्पन्न की कोटि में आते हैं। व्युत्पन्न भी दो प्रकार के हैं—एक वे जो वक्ता हैं अर्थात् शब्दों द्वारा अपने से छोटे व्यवहारज्ञ शिष्य, पुत्र इत्यादि को कार्यों में प्रेरित करते हैं। दूसरे श्रोता अर्थात् वे व्यवहारज्ञ

गौडपादाचार्यास्तु आप्ता आचार्या ब्रह्मादयः, श्रुतिर्वेदः, आप्ताश्च श्रुतिश्च आप्तश्रुतिः तदुक्तमाप्तवचनमित्यर्थं कृतवन्तः।

माठराचार्यश्चापि एवमेव 'आप्ता' ब्रह्मादय आचार्याः, श्रुतिर्वेदस्तदेतदुभयमाप्तवचनम्' इत्यर्थं कृतवन्तः। 'आप्तवचनम्' इत्यस्य चायमर्थः कृतः—"आप्तिः साक्षादर्थप्राप्तिर्यथार्थोपलम्भः तया वर्तत इत्याप्तः साक्षात्कृतधर्मा यथार्थाप्त्या श्रुतार्थग्राही, तदुक्तमाप्तवचनम्।....आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद् विदुः। क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद् हेत्वसम्भवात्॥ स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जितः। पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः॥"

शिष्य, पुत्र इत्यादि जो अपने पिता या आचार्य आदि गुरु-जनों के शब्द सुनकर तदनुसार कार्य में प्रवृत्त होते हैं। पहले प्रकार के व्युत्पन्न पुरुष प्रयोजक या प्रेरक वृद्ध तथा दूसरे प्रकार के व्युत्पन्न पुरुष छोटे होते हुए भी बालकादि अव्युत्पन्न की अपेक्षा वयोवृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध होने के कारण प्रयोज्य या आज्ञापालक वृद्ध कहे जाते हैं। जब किसी प्रयोजक वृद्ध ने किसी प्रयोज्य वृद्ध से 'घटमानय' कहा तो प्रयोज्य वृद्ध ने घट लाने की चेष्टा की। इस चेष्टा को देखने वाला समीप-स्थिति अव्युत्पन्न बालक सर्व-प्रथम प्रयोज्य वृद्ध की घट-विषयक प्रवृत्ति का अनुमान करता है क्योंकि किसी वस्तु के विषय में प्रवृत्ति होने पर ही चेष्टा होती है। फिर इस प्रवृत्ति से भी वह उस वस्तु के भूतपूर्व ज्ञान का अनुमान करता है क्योंकि किसी वस्तु का ज्ञान होने पर ही उसके विषय में प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है। फिर वह बालक 'ज्ञान भी उत्पाद्य होता है, अतः उसका भी कोई उत्पादक कारण अवश्य होगा'—ऐसा अनुमान करता है। फिर इस ज्ञान को प्रयोजक वृद्ध द्वारा उच्चारित शब्द-समूह के श्रवण के अनन्तर ही उत्पन्न देखकर यह अनुमान करता है कि 'घटमानय' इन शब्दों से ही एतद्वस्तु (घट)-विषयक वह ज्ञान हुआ है जिससे उसके विषय में प्रवृत्ति और फिर उसे लाने की चेष्टा हुई। इस प्रकार उसे पहले सामूहिक शब्द-शक्ति का ज्ञान होता है—'अयं प्रयोजकवृद्धप्रयुक्तः घटमानयेति शब्दसमूहः घटानयनरूपार्थे शक्तः।' फिर 'घटं नय' 'गामानय' इत्यादि वाक्यों से घट, गो, आनय, नय इत्यादि पदों की क्रमशः अलग-अलग अर्थों को प्रकट करने की शक्ति का ज्ञान होता है। इस प्रकार व्यवहार देखते-देखते अनुमान के द्वारा क्रमशः शक्ति-ज्ञान प्राप्त करके अव्युत्पन्न बालक भी व्युत्पन्न हो जाता है। व्युत्पन्न होने पर ही शब्द-श्रवण से उसे शब्द ज्ञान होता है।

तच्च स्वतः प्रमाणम् अपौरुषेयवेदवाक्यजनित्वेन सकलदोषाशङ्काविनिर्मुक्तेयुक्तं भवति। एवं वेदमूलस्मृतीतिहासपुराणवाक्यजनितमपि ज्ञानं युक्तं भवति।

अर्थ—और यह वाक्यार्थ-ज्ञान, जो अन्य-निरपेक्ष या स्वतन्त्र रूप से प्रमाण होता है, अपौरुषेय[1] वेद वाक्यों से उत्पन्न होने से भ्रम, प्रमाद

---

१. कपिलनये जैमिनीयनये चेश्वरानङ्गीकाराद्वेदस्य पुरुषविशेषेश्वरप्रणीतत्वाभावेनापौरुषेयत्वं ज्ञेयम्। तथा च सूत्रम्—न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्। सां० सू० ५।४६॥—विद्वत्तोषिणी।

आदि समस्त पुरुष-दोषों से रहित होने के कारण 'युक्त' या अबाधित-विषय होता है। इसी प्रकार वेद का आधार लेकर लिखे गये स्मृति, इतिहास और पुराणों के वाक्यों से उत्पन्न हुआ ज्ञान भी 'युक्त' होता है।

विशेष—ऊपर की इन दो पंक्तियों का अर्थ विवादास्पद है। जो अर्थ यहाँ किया गया है, वह श्री स्वामी बालराम उदासीन की विद्वत्तोषिणी के अनुसार है। यही अर्थ उपयुक्त और उचित जान पड़ता है। इसके अनुसार वाक्यार्थ-ज्ञान स्वरूप 'शब्द' प्रमाण दो प्रकार का होता है। एक वेदवाक्य-जन्य-ज्ञान स्वरूप जो प्रामाणिक या युक्त होने के लिये किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता और दूसरा स्मृति-पुराणादि-वाक्य-जन्य स्वरूप जो वेदादि अन्य प्रमाणों की अपेक्षा रखता है। जो लोग इन पंक्तियों को प्रमाण-विशेष ('शब्द') के विषय में स्वतः-प्रामाण्य-परक लेते हैं, वे इसका अर्थ भिन्न रूप से करते हैं। डा० गंगानाथ झा का अंग्रेजी अनुवाद इसी भाव का पोषक है। उनके अनुसार इनका अर्थ यह होगा—"यह वाक्यार्थ-ज्ञान स्वरूप 'शब्द' प्रमाण स्वतः या स्वतन्त्र रूप से प्रमाण है। इसका स्वतः प्रामाण्य या इसकी युक्तता अपौरुषेय वेदवाक्यों से उत्पन्न होने पर समस्त पुरुष-दोषों से रहित होने के कारण है। इसी प्रकार स्मृति, इतिहास और पुराणादि के वाक्यों से उत्पन्न होने पर इसकी युक्तता वेदमूलक होने के कारण है। परन्तु यह अर्थ कई कारणों से कम ठीक लगता है। स्वयं विद्वत्तोषिणीकार ने तीन कारण बताए हैं, वे ये हैं:—(१) यदि इन पंक्तियों में प्रामाण्यवाद का विचार समझते हुए 'तच्च स्वतः प्रमाणम्' को पृथक् वाक्य मानकर अर्थ किया जाय तो दूसरे वाक्य में 'भवति' का कर्त्ता कौन पद होगा? (२) वाक्यार्थ-ज्ञान ही स्वतः प्रमाण हो, ऐसी बात नहीं, अपितु 'स्वत एव प्रमाणानां प्रमाण्य-मिति गम्यताम्' के अनुसार ज्ञानमात्र ही स्वतः प्रमाण होता है ऐसी स्थिति में केवल आगम-ज्ञान के सम्बन्ध में ऐसा कथन कदापि उचित नहीं लगता; इतना ही नहीं बल्कि 'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः' इस उक्ति के अनुसार तो प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः होता है। फिर केवल प्रामाण्य के विषय में स्वतस्त्व-कथन सर्वथा असमीचीन है। (३) और फिर वाक्यार्थ-ज्ञान को 'स्वतः प्रमाण' मान लेने पर बुद्ध इत्यादि के वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान भी स्वतः प्रमाण हो जायगा जिसका अप्रामाण्य सांख्यतत्त्व कौमुदीकार ने ही आगेकी 'आप्तग्रहणेनायुक्ताः शाक्यभिक्षुनिर्ग्रन्थकसंसारमोचकादीनाम् आगमाभासाः परिहृता भवन्ति'—इन पंक्तियों में स्पष्ट कहा है।

आदिविदुषश्च कपिलस्य कल्पादौ कल्पान्तराधीतश्रुतिस्मरण-सम्भवः, सुप्तप्रबुद्धस्येव पूर्वेद्युरवगतानामर्थानामपरेद्युः। तथा च आवट्यजैगीषव्यसंवादे भगवान् जैगीषव्योदशमहाकल्पवर्तिजन्म-स्मरणमात्मन उवाच 'दशसु महाकल्पेषु विपरिवर्तमानेन मया' इत्यादिना ग्रन्थसन्दर्भेण।

अर्थ—प्रथम ज्ञानी कपिल को पूर्वकल्प में अध्ययन किए गए वेद का इस कल्प के आरम्भ में स्मरण होना सम्भव है, जैसे सो कर उठे हुए पुरुष को पहले दिन जाने गये विषयों का दूसरे दिन स्मरण होता है। जैसा कि आवट्य और जैगीषव्य के संवाद में भगवान् जैगीषव्य ने 'दश महाकल्पों में जन्म-परिणाम अनुभव करते हुए मैंने………'[1] इत्यादि वचनों द्वारा दश महाकल्पों में होने वाले अपने जन्मों का स्मरण कहा है।

उपर्युक्त रीति से पौरुषेय वाक्यों को भी प्रमाण अङ्गीकार कर लेने पर 'आप्त' पद का ग्रहण किस लिए किया गया? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं—

आप्तग्रहणेनायुक्ताः शाक्यभिक्षुनिर्ग्रन्थकसंसारमोचकादीना-मागमाभासाः परिहृता भवन्ति। अयुक्तत्वं चैतेषां विगानात्, विच्छिन्नमूलत्वात्, प्रमाणविरुद्धार्थाभिधानाच्च, कैश्चिदेव म्लेच्छादिभिः पुरुषापसदैः पशुप्रायैः परिग्रहाद्वा बोद्धव्यम्।

अर्थ—'आप्त' पद के ग्रहण से बौद्ध भिक्षु,[2] जैन,[3] चार्वाक[4],

१. एवमनुश्रूयते—भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणाद् दशसु महासर्गेषु जन्मपरिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभूत्। अथ भगवानावटयस्तनुधरस्तमुवाच—दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन त्वया नरकतिर्यग्गर्भसम्भवं दुःखं सम्पश्यता देवमनुष्येषु विपरिवर्तमानेन सुखदुःखयोः किमधिकमुपलब्धमिति। भगवन्तमावट्यं जैगीषव्य उवाच—दशसु महाकल्पेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया नरकतिर्यग्भवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु विपरिवर्तमानेन यत्किंचिदनुभूतं, तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि॥—योग० ३।१७ के व्यास-भाष्य में उद्धृत।

२. कृत्तिः कमण्डलुमौण्ड्यं चीरं पूर्वाह्णभोजनम्। संघो रक्ताम्बरत्वं च शिश्रिये बौद्धभिक्षुभिः॥ (सर्वदर्शनसंग्रहः) इत्युक्तवृत्तिमन्तो बौद्धसंन्यासिनस्ते शाक्यभिक्षव इत्यभिधीयन्ते—बालरामोदासीनाः।

३. वेदादिसद्ग्रन्थेभ्यो निष्क्रान्ता त्रयीबाह्या निर्ग्रन्थका जैनविशेषाः।

४. 'संसारमोचकादेवम हिंसापुण्यत्वसभ्यताम् (जैमिनीय सू० ५, श्लोक ५) इत्यभिहिता हिंसादिपरायणा 'घटभङ्गे तदन्तर्वर्तिसलिलविलयवद्देहभङ्गे तदन्तर्गतजीवभङ्ग एव मोक्ष इत्येवं ब्रुवाणाश्चार्वाकविशेषाः। —बलरामः

आदि अनाप्तों के आपाततः आगम-सदृश प्रतीत होने वाले असत् वचनों का परित्याग या बहिष्कार हो जाता है। इन वचनों की असत्यता इनके परस्पर विरोधी होने, वेदादि-मूलक न होने, प्रमाण-विरुद्ध कथन करने तथा अल्प-संख्यक कुछ ही म्लेच्छादि नीच पुरुषों के द्वारा माने जाने से समझ लेनी चाहिये।

विशेष—ऊपर बौद्ध, जैन आदि के वचनों को आगमाभास कहा गया है। आगमाभास का अर्थ है—आगमवत् आभासन्त इति। अर्थात् जो ऊपर से तो आगम-सदृश लगते हों, पर हों वस्तुतः आगम-विरुद्ध। इनका आगम-सादृश्य इस बात में है कि जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान इत्यादि प्रमाणों से ज्ञात न होने वाले स्वर्गादि पदार्थों का ज्ञान वेद-शास्त्रादि आगम 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वचनों से कराते हैं, वैसे ही बौद्धों और जैनों के आगम-ग्रन्थ भी चैत्यवन्दन इत्यादि के द्वारा स्वर्गादि-प्राप्ति की बात कहते हैं परन्तु वेद-शास्त्रादि सत् आगमों में इस प्रकार के कथनों के न प्राप्त होने से इनका आगम-विरोध स्पष्ट है। पर बौद्धों और जैनों आदि के ग्रन्थों को अवेदमूलक तथा वेद-विरुद्ध करने भर से तो इनकी असत्यता या अयुक्तता नहीं सिद्ध हो जाती। इसीलिए पण्डित-प्रकाण्ड सांख्यतत्त्वकौमुदीकार ने दो-तीन अन्य कारण भी दिये हैं। परस्पर विरोधी बात करने वाले के वचन असत्य और अश्रद्धेय ही माने जाएँगे। जैसे बौद्धों में ही जहाँ सौत्रान्तिक और वैभाषिक समस्त पदार्थों की सत्ता ज्ञान से पृथक मानते हैं, वहाँ योगाचार मत वाले उसे ज्ञान-रूप ही मानते हैं (इसी से वे विज्ञानवादी कहे जाते हैं) और माध्यमिक तो ज्ञान-रूप भी नहीं, शून्य-मात्र मानते हैं (इसी लिए शून्यवादी कहे जाते हैं)। एक बुद्ध को मानकर चलने वाले चारों चार विरुद्ध बातें कहते हैं। तब फिर ये बातें अयुक्त नहीं तो और क्या कही जाएँगी। अब कोई यह कह सकता है कि जैसे वेद-शास्त्र इत्यादि में आए विरुद्ध वचनों के विरोध को केवल अवास्तविक बतलाकर उसका परिहार कर दिया जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी विरोध का परिहार हो जायेगा। इसलिए टीकाकार ने इनकी अयुक्तता में इससे प्रबलतर प्रमाण दिया है। यह प्रमाण है—इनका प्रमाण-विरुद्ध बात कहना। जैसे, विज्ञानवादी बौद्ध 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' कहकर घटादि समस्त पदार्थों की क्षणिकता प्रतिपादित करते हैं। परन्तु आज से पूर्व देखे हुए घट को फिर देखने पर प्रत्यभिज्ञा (पूर्वानुभव-जन्य संस्कार) के बल से 'सोऽयं घटः' अर्थात् 'यह वही घट है' ऐसा ज्ञान सब को होता है। इससे

स्पष्ट है कि अनुदिन के अनुभव से घट क्षणिक नहीं सिद्ध होता। फिर क्षणिकत्व-कथन तो प्रमाण-विरुद्ध ही हुआ। फिर वह अयुक्त नहीं तो क्या होगा? अन्त में प्रबलतम प्रमाण यह दिया कि इनके क्षणभङ्गवाद और अनात्मवाद आदि सिद्धान्त बहुत कम लोगों को मान्य हैं। मत अनुभव की कसौटी पर जितना ही ही सत्य उतरेगा, वह अनुदिन उतना ही सर्व-मान्य होता जाएगा। इसके विपरीत यदि कोई मत अल्पसंख्यक लोगों को ही मान्य है, तो निश्चित ही वह मत अयुक्त माना जाएगा और उसके अनुयायी अज्ञ। इस प्रकार इन मतों की अयुक्तता स्पष्ट है।

[कुछ बौद्ध और वैशेषिक 'आगम' प्रमाण नहीं मानते, वे उसका अन्तर्भाव अनुमान में करते हैं; उसका खण्डन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं :—]

तुशब्देनानुमानाद् व्यवच्छिनत्ति। वाक्यार्थो हि प्रमेयः, न तु तद्धर्मो वाक्यम् येन तत्र लिङ्गं भवेत्। न च वाक्यं वाक्यार्थं बोधयत् सम्बन्धग्रहणमपेक्षते, अभिनवकविरचितस्य वाक्यस्यादृष्टपूर्वस्याननुभूतचरवाक्यार्थबोधकत्वादिति।

अर्थ—मूल का 'तु' पद आगम प्रमाण को अनुमान से पृथक् करता है। वाक्यार्थ प्रमेय होता है और वाक्य (उस अर्थ को जानने का साधन होता है) उसका धर्म नहीं होता, जिससे उसका लिङ्ग हो सके। (जैसे अग्नि के अनुमान में लिङ्ग बनने वाला धूम उसका धर्म होता है। धर्म और धर्मी में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध होता है और धर्म या लिङ्ग द्वारा धर्मी का अनुमान होने से पूर्व इस व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध या व्याप्ति का ज्ञान आवश्यक एवं अनिवार्य है) और फिर अपने अर्थ का ज्ञान कराता हुआ वाक्य अपने और अपने अर्थ के बीच के सम्बन्ध के ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता (केवल अमुक-अमुक शब्द अमुक-अमुक अर्थ प्रकट करने में शक्त है'—इसी 'शक्ति' नामक पद-पदार्थ के सम्बन्ध की अपेक्षा रहती है), क्योंकि अभिनव कवि द्वारा रचित पहले कभी न सुना गया वाक्य सर्वथा नूतन अर्थ का ज्ञान कराता हुआ पाया जाता है। (इससे स्पष्ट है कि इन दोनों का सम्बन्ध पहले कभी गृहीत नहीं हुआ जिससे कि वाक्य से होने वाले वाक्यार्थ-ज्ञान को अनुमान प्रमाण से होने वाली अनुमिति कहा जा सके)॥

एवं प्रमाणसामान्यलक्षणेषु तद्विशेषलक्षणेषु च सत्सु यानि प्रमाणान्तराण्युपमानादीनि प्रतिवादिभिरभ्युपेयन्ते तान्युक्तलक्षणेष्वेव प्रमाणेष्वन्तर्भवन्ति।

तथा हि—उपमानं तावत् 'यथा गौस्तथा गवयः' इति वाक्यम्, तज्जनिता धीरागम एव।

अर्थ—इस प्रकार सामान्य प्रमाण और उसके इन विशिष्ट भेदो के लक्षण हो जाने पर अवशिष्ट उपमान इत्यादि जो अन्य प्रमाण मीमांसक इत्यादि को अभिमत है, वे इन्हा में अन्तर्भूत होगे। जैसे 'गाय के सदृश ही गवय होता है'—यह वाक्य उपमान प्रमाण है। इससे उत्पन्न ज्ञान (वाक्य-जन्य होने के कारण) आगम प्रमाण ही है, (क्योकि पूर्व में आप्तवाक्य-जन्य ज्ञान को ही आगम प्रमाण कहा है)।

विशेष—ऊपर उपमान प्रमाण की जो परिभाषा दी गई हैं, वह न्याय-शास्त्र के कर्ता गौतम के "प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्" सूत्र के अनुसार है। इसका अर्थ यह है कि प्रसिद्ध या ज्ञात गो आदि पदार्थ के साथ सादृश्य का कथन करके साध्य अर्थात् अप्रसिद्ध गवय इत्यादि पदाथ का बोध जिस वाक्य के द्वारा कराया जाता है, उसे उपमान प्रमाण कहते हैं। इसके अनुसार 'गोसदृशो गवयः' यह वाक्य ही उपमान प्रमाण है। परन्तु वार्तिककार की "समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः" पंक्ति के अनुयायी नैयायिक उपर्युक्त वाक्य को अतिदेश-वाक्य कहते है, उपमान प्रमाण नहीं। इसका अर्थ यह है कि समाख्या या शब्द के सम्बन्ध का ज्ञान अर्थात् 'यह पदार्थ या पिण्ड इस पद का वाच्य है'—यह ज्ञान उपमान का फल है। जैसे किसी आरण्यक से 'गोसदृशो गवयः'—यह वाक्य सुनकर वन में जाकर गो-सदृश पिण्ड देखने पर 'गोसदृशो गवयः' वाक्य को स्मरण करते हुए नागरिक को पहले 'गोसदृशश्चायं पिण्डः' यह ज्ञान और फिर 'अतोऽयं गोसदृशः पिण्डः गवयशब्दवाच्यः' ऐसा ज्ञान होता है वार्तिककार की उपर्युक्त पंक्ति के अनुसार दूसरा ज्ञान उपमान का फल या उपमिति हैं। अतः स्पष्ट है कि नागरिक के इस उपमिति-ज्ञान का साधनभूत 'गोसदृशश्चायं पिण्डः' अर्थात् 'यह अदृष्टपूर्व पिण्ड गोसदृश है'—यह ज्ञान ही उपमान प्रमाण है। इस मत के अनुसार 'गोसदृशो गवयः' यह वाक्य अतिदेश-वाक्य है, उपमान नहीं।

वार्तिकमतानुयायी कहेंगे कि 'अयं गोसदृशः पिण्डः गवयशब्दवाच्यः' या दूसरे शब्दों में "अयं गवयशब्दो गोसदृशस्य पिण्डस्य वाचकः" इस प्रत्यय या उपमिति-ज्ञान के लिए उपमान प्रमाण, अर्थात् 'गोसदृशश्चायं पिण्डः' ऐसा ज्ञान अलग से मानना ही पड़ेगा। इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

योऽप्ययं 'गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचकः' इति प्रत्ययः, सोऽप्यनुमानमेव। यो हि शब्दो यत्र वृद्धैः प्रयुज्यते, सोऽसति वृत्त्यन्तरे तस्य वाचकः, यथा गोशब्दो गोत्वस्य। प्रयुज्यते चैवं गवयशब्दो गोसदृशे, इति तस्यैव वाचक इति तत् ज्ञानमनुमानमेव।

अर्थ—"गवय शब्द गो-सदृश पिण्ड का वाचक है"—यह प्रतीति या ज्ञान भी अनुमान[1] का ही फल है। (वह इस प्रकार है—) गवय शब्द गो-सदृश पिण्ड का वाचक है (प्रतिज्ञा); क्योंकि व्युत्पन्न पुरुषों के द्वारा जो शब्द जिस पदार्थ या वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है, वह अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा आदि अन्य वृत्ति के न होने पर उसी का वाचक होता है (हेतु; जैसे गो शब्द गोत्व का (उदाहरण); और गवय शब्द गो-सदृश पिण्ड के लिये प्रयुक्त होता है (उपनय); इसलिए गवय शब्द गो-सदृश पिण्ड का ही वाचक है (निगमन)। इस प्रकार यह ज्ञान तो अनुमान-गम्य ही है।

[शबर मुनि ने अपने पूर्वमीमांसा-भाष्य में उपमान प्रमाण की परिभाषा इस प्रकार दी है:—'उपमानमपि सादृश्यमसन्निकृष्टार्थे बुद्धिमुत्पादयति यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य[2]।' इसका अर्थ न्यायरत्नाकरकार ने इस प्रकार किया है:—'यत्सादृश्यं दृश्यमानसन्निकृष्टार्थे बुद्धिमुत्पादयति तदुपमानं प्रमेयबुद्धिजनकमेव। सादृश्यमिन्द्रियप्रत्यक्षमुपमानं यथा गवयदर्शनं सादृश्यविशिष्टगवयदर्शनं गोस्मरणस्य जनकम् इति भाष्यार्थः'। अर्थात् अप्रत्यक्ष पदार्थ की प्रतीति कराने वाला प्रत्यक्ष-दृष्ट सादृश्य 'उपमान' प्रमाण कहलाता है; जैसे अप्रत्यक्ष गाय का 'अनेन सदृशी मदीया गौः' अर्थात् इस गवय के सदृश मेरी गाय है—ऐसा स्मरण-ज्ञान कराने वाला गो-सदृश गवय का प्रत्यक्ष। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि जब गाय से पूर्ण परिचित कोई ग्रामीण वन में जाने पर गवय को प्रत्यक्ष देखता है और उस गवय में विद्यमान गो-सादृश्य के प्रत्यक्ष से उसे 'इस गवय के सदृश मेरी गाय है'

---

१. अत्र 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानरूपोपमातफलस्यानुमानेनैव निष्पन्नत्वान्न तदर्थं पृथगुपमानं मानान्तरमुपेयमिति भावः'—विद्वत्तो०।

२. गवयनिष्ठं गोसादृश्यज्ञानमुपमानं, गोनिष्ठं च गवयसादृश्यज्ञानमुपमानफलमिति हि मीमांसकाभिमतम्। —विद्वत्तोषिणीकाराः।

ऐसा स्मरण होता है, तब गाय के स्मरण के साथ ही गो-निष्ठ गवय-सादृश्य का ज्ञान पूर्व मीमांसकों के अनुसार उपमान का फल या उपमिति है और प्रत्यक्ष-भूत गवय में रहने वाले गो-सादृश्य का ज्ञान, जो इसका कारण है, उपमान है। इस मत की अयुक्तता बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं:—]

यत्तु गवयस्य चक्षुःसन्निकृष्टस्य गोसादृश्यज्ञानं तत् प्रत्यक्षमेव। अतएव स्मर्यमाणायां गवि गवयसादृश्यज्ञानं प्रत्यक्षम्। न त्वन्यद् गवि सादृश्यम् अन्यच्च गवये। भूयोऽवयवसामान्ययोगो हि जात्यन्तरवर्ती जात्यन्तरे सादृश्यमुच्यते, सामान्ययोगश्चैकः। स चेद् गवये प्रत्यक्षः गव्यपि तथेति नोपमानस्य प्रमेयान्तरमस्ति यत्र प्रमाणान्तरमुपमानं भवेत्, इति न प्रमाणान्तरमुपमानम्।

अर्थ—गवय का प्रत्यक्ष होने पर उसमें रहने वाले गो-सादृश्य का 'यह गो-सदृश है'—यह ज्ञान तो प्रत्यक्ष ही है, उपमिति नहीं; (क्योंकि जिस प्रकार इन्द्रिय-विशेष से वस्तु-विशेष का प्रत्यक्ष होने पर उसी के द्वारा उसके सामान्य का भी प्रत्यक्ष हो जाता है, उसी प्रकार उसी इन्द्रिय के द्वारा तद्गत सादृश्य का भी प्रत्यक्ष हो जायेगा। ऐसा क्यों होता है, इसे स्वयं कुमारिल-भट्ट ने अपने श्लोकवार्तिक में उपमान-परिच्छेद के ३६५ वें श्लोक द्वारा स्पष्ट किया है:—सामान्यवच्च सादृश्यमेकैकत्र समाप्यते। प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि यस्मात्तदुपलभ्यते॥ अर्थात् जैसे सामान्य अपने व्यक्तियों में से प्रत्येक में सम्पूर्ण रूप से रहता है, उसी तरह दो वस्तुओं में रहने वाला सादृश्य भी दोनों में पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण रूप से रहता है, संयोग की तरह दोनों में स्थित नहीं रहता। हाथ और वृक्ष का संयोग केवल हाथ में या केवल वृक्ष में नहीं देखा जा सकता। पर सादृश्य के विषय में ऐसी बात नहीं है। इसलिये गवय-स्थित सादृश्य गो-पिण्ड के अप्रत्यक्ष रहने पर भी गवय के प्रत्यक्ष होते ही सम्पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष हो जाता है। इस सादृश्य के प्रत्यक्ष होने के कारण ही होने वाले गो-स्मरण से उत्पन्न गो-निष्ठ गवय-सादृश्य का ज्ञान भी प्रत्यक्ष-ज्ञान ही है, उपमिति नहीं। इसका कारण यह है कि गो-गत गवय-सादृश्य गवय-गत गो-सादृश्य से भिन्न है, ऐसी बात नहीं, क्योंकि एक जाति में प्राप्त

खुर, लाङ्गूल इत्यादि अनेक अवयवों की दूसरी जाति में समानता[1] या तुल्यता ही उसमें सादृश्य कहलाती है और यह समानता एक है, इसलिये यदि वह गवय में प्रत्यक्ष है तो 'गो' में भी प्रत्यक्ष होगी। इस प्रकार उपमान का कोई पृथक् विषय ही नहीं रह जाता जिसमें वह पृथक् प्रमाण बने। इस लिये उपमान कोई पृथक् प्रमाण नहीं है।

एवमर्थापत्तिरपि न प्रमाणान्तरम्। तथा हि जीवतश्चैत्रस्य गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्याऽदृष्टस्य कल्पनमर्थापत्तिरभिमता वृद्धानाम्। साप्यनुमानमेव। यदा खल्वव्यापकः सन्नेकत्र नास्ति तदाऽन्यत्रास्ति, यदाऽव्यापक एकत्रास्ति तदाऽन्यत्र नास्ति, इति सुकरः स्वशरीरे व्याप्तिग्रहः। तथा च सतो गृहाभावदर्शनेन लिङ्गेन बहिर्भावदर्शनमनुमानमेव।

अर्थ—इसी प्रकार अर्थापत्ति भी पृथक् प्रमाण नहीं है। जैसे जीवित चैत्र के घर में न दीख पड़ने पर उसके अप्रत्यक्ष बहिर्भाव की कल्पना को ही पूर्व मीमांसकों ने अर्थापत्ति प्रमाण माना है परन्तु यह अर्थापत्ति भी अनुमान ही है; क्योंकि जब कोई एक देशीय सत् पदार्थ किसी एक जगह पर नहीं रहता तो अन्यत्र अवश्य रहता है और यदि उस जगह पर रहता है तो अन्यत्र नहीं रहता'—ऐसी व्याप्ति अपने शरीर के ही दृष्टान्त से सरलतापूर्वक समझी जा सकती है और इस प्रकार 'चूंकि जीवित चैत्र घर मे नहीं दीख पड़ता, इस कारण (लिङ्ग) से वह बाहर होगा'—ऐसा अनुमान होगा।

विशेष—यद्यपि सत् वस्तु के किसी एक जगह में न होने से ही उसकी अव्यापकता स्पष्ट है, अतः 'यदा खल्वव्यापकः सन्' इत्यादि पंक्ति में 'अव्यापकः' अनपेक्षित है, तथापि सर्वत्र ऐसा ही पाठ प्राप्त होने से यहाँ भी उसी का ग्रहण किया गया है। अनपेक्षित होने के कारण ही श्री बालराम उदासीन ने 'अव्यापक' शब्द को छोड़ दिया है। "यदा खल्वव्यापकः इति पाठः सर्वत्रोपलभ्यमानोऽपि तात्पर्यटीकानुरोधादसम्बद्धत्वाच्चात्रोपेक्षित इति ज्ञेयम्"—उनकी

---

१. यद्यपि विद्वत्तोषिणीकारैः सुषमाकारैश्चोभयैरेव भूयोऽवयवसामान्ययोग इति पदं भूयसामवयवानां यानि सामान्यानि खुरलाङ्गूलत्वादीनि तेषां योगः सम्बन्ध इति व्याख्यातम्। एवं च सामान्यस्य जातिरेवार्थः कृतस्तथापि समानानां भावः सामान्यं समानता तुल्यता, तद्योगस्तत्सम्बन्धः इत्येवार्थः कृतोऽस्माभिः सारल्यादुपयुक्ततरत्वाच्च।

इस टिप्पणी से यह बात स्पष्ट हैं । "यद्भावे यद्भावः इत्यन्वयो, यदभावे यदभावः इति च व्यतिरेकः"—इस नियम के अनुसार 'यदा सतः एकत्र (गृहे) अभावः अस्ति तदा अन्यत्र (बहिः) भावः स्याद्'—ऐसी अन्वय-व्याप्ति होने पर 'यदा सतः अन्यत्र (बहिः) अभावः अस्ति, तदा एकत्र (गृहे) भावः 'स्याद्'—ऐसी व्यतिरेक-व्याप्ति होनी चाहिये थी । ऐसा होने पर व्यतिरेक-व्याप्ति में भी 'अव्यापक' पद अनपेक्षित हो जाता क्योंकि तब फिर यहाँ भी सत् वस्तु के बाहर होने से उसकी अव्यापकता स्वतः स्पष्ट हो जाती। अथवा यदि यह कहा जाय कि स्पष्टता के लिये 'अव्यापक' का ग्रहण यहाँ आवश्यक है तो उसी कारण से वहाँ भी है। परन्तु 'यदा एकत्रास्ति तदा अन्यत्र नास्ति' में क्रम विपरीत कर देने से 'अव्यापक' का ग्रहण आवश्यक इसलिये हो गया कि 'जो वस्तु एकत्र है, वह अन्यत्र नहीं होगी'—ऐसा तभी कह सकते हैं जब वह भाव-वस्तु अव्यापक होगी। व्यापक होने पर ऐसा कथन अयुक्त है क्योंकि व्यापक वस्तु एकत्र रहती हुई भी अन्यत्र सर्वत्र होगी, जैसे ब्रह्म। इसीलिए मूल में आई हुई अन्वय-व्याप्ति से बनने वाली व्यतिरेक-व्याप्ति का ठीक स्वरूप दिखाने के लिये ही विद्वत्तोषिणी में श्री बालराम ने 'तथा च यत्रान्यत्र बहिर्नास्ति तथा एकत्र गृहेऽस्तीत्येवं योजनयाऽत्र व्यतिरेक-व्याप्तिर्ज्ञेया।' ऐसा लिखा है।

न च चैत्रस्य क्वचित्सत्त्वेनगृहाभावः शक्योऽपह्नोतुम्, येनाऽसिद्धो गृहाभावो बहिर्भावेन हेतुः स्यात्। न च गृहाभावेन वा सत्त्वमपह्नूयते येन सत्त्वमेवाऽनुपपद्यमानमात्मानं न बहिरवस्थापयेत्।

अर्थ—यह कहना ठीक नहीं है कि चैत्र के कहीं बाहर होने के कारण उसका घर में न होना ही असिद्ध है। इसलिये चैत्र के बाहर होने के अनुमान में लिङ्ग बनने वाला उसका गृहाभाव उसमें हेतु ही न होगा क्योंकि चैत्र के न होने से प्रत्यक्ष-सिद्ध 'उसका घर में न होना' अस्वीकार नहीं किया जा सकता। और न घर में उसके अभाव के कारण उसका होना ही स्वीकार किया जा सकता है, जिससे यह कहा जा सके कि जब चैत्र का होना (सत्त्व) ही असिद्ध है तो उसका बाहर रहना कैसे सिद्ध हो सकता है ? [तात्पर्य यह है कि गृहाभावरूप हेतु न तो स्वरूपासिद्ध ही है कि असिद्ध हेत्वाभास कहा

जा सके और न उसके हेतु से सिद्ध किये जाने वाले बहिर्भाव-रूप साध्य का अभाव ही प्रमाणान्तर से निश्चित है, जिससे वह बाधितविषय हेत्वाभास हो।]

[सत्त्व और असत्त्व का विरोध सर्वलोक-प्रसिद्ध होने के कारण ऊपर के कथन-मात्र से गृहासत्त्व और बहिरसत्त्व के विरोध का परिहार नहीं किया जा सकता। अतः दोनों का पारस्परिक अविरोध प्रतिपादित करते हुए कहते हैं :—]

तथा हि—चैत्रस्य गृहासत्त्वेन सत्त्वमात्रं विरुध्यते गृहसत्त्वं वा। न तावद्यत्र क्वचन सत्त्वस्यास्ति विरोधो गृहासत्त्वेन भिन्नविषयत्वात्। देशसामान्येन गृहविशेषाक्षेपोऽपि पाक्षिक इति समानविषयतया विरोध इति चेत् न प्रमाणविनिश्चितस्य गृहेऽसत्त्वस्य पाक्षिकतया सांशयिकेन गृहसत्त्वेन प्रतिक्षेपायोगात्। नाऽपि प्रमाणविनिश्चितो गृहाभावः पाक्षिकमस्य गृहसत्त्वं प्रतिक्षिपन् सत्त्वमपि प्रतिक्षेप्तुं सांशयिकत्वं च व्यपनेतुमर्हतीति युक्तम्। गृहावच्छिन्नेन चैत्राभावेन गृहसत्त्वं विरुद्ध्यते, न तु सत्त्वमात्रम्, तस्य तत्रौदासीन्यात्। तस्माद् गृहाभावेन लिङ्गेन सिद्धेन सता बहिर्भावोऽनुमीयत इति युक्तम्।

अर्थ—'चैत्र घर में नहीं है' इस कथन से उसके 'जहाँ कहीं होने' (सत्त्व-सामान्य) का विरोध होता है या केवल 'घर में होने' का ? वस्तुतः 'घर में न होने' के साथ 'जहाँ कहीं होने' का विरोध नहीं है ('घर में होने' का ही विरोध है) क्योंकि 'घर में न होने' और 'जहाँ कहीं होने' के विषय क्रमशः घर और बाह्य प्रदेश होने के कारण भिन्न-भिन्न हैं। ''जीवित चैत्र कहीं है''—इस आप्त वाक्य के स्थान-सामान्य की प्राप्ति होने पर स्थान-विशेष (गृह) के भी उसके अन्तर्गत होने के कारण पक्षतः (परोक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से) उस (गृह) की भी प्राप्ति होती है। [अर्थात् 'जीवित चैत्र कहीं है'—इस कथन से 'वह घर में भी हो सकता है' ऐसी बुद्धि होती है]। इसलिये दोनों का एक ही विषय होने के कारण परस्पर विरोध है, ऐसा कहना युक्त नहीं; क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध 'घर में नहीं है'—यह बुद्धि पक्षतः प्राप्त हुई 'घर में हो सकता है'—इस सन्देहात्मक बुद्धि से दूर नहीं हो सकती। न यही कहना युक्त है कि चैत्र का प्रमाण-प्राप्त गृहाभाव अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त हुए उसके गृह-भाव को भी दूर करता हुआ उसके भाव-मात्र और गृह-भाव

की सन्दिग्धता को भी दूर करने में समर्थ है। गृह-मात्र में मर्यादित चैत्र का अभाव स्व-विरुद्ध उसके गृहान्तर्गत-भाव का ही निराकरण करता है, उसके भाव-मात्र का नहीं; क्योंकि चैत्र के गृह-भाव का उसके भाव-मात्र के साथ कोई विरोध नहीं है। इसलिये सिद्ध हुए गृह-भाव रूप लिङ्ग के द्वारा जीवित चैत्र के बहिर्भाव का अनुमान होता है—यह कथन युक्त है।

एतेन विरुद्धयोः प्रमाणयोर्विषयव्यवस्थयाऽविरोधापादनमर्थापत्तेर्विषय इति निरस्तम्, अवच्छिन्नानवच्छिन्नयोर्विरोधाभावात्। उदाहरणान्तराणि चार्थापत्तेरेवमेवानुमानेऽन्तर्भावनीयानि। तस्मान्नानुमानात्प्रमाणान्तरमर्थापत्तिरिति सिद्धम्।

अर्थ—इसी से कुछ लोगों के इस कथन का भी निराकरण हो गया कि 'प्रत्यक्ष और आगम प्रमाणों द्वारा प्राप्त हुए (चैत्र के गृहाभाव तथा बहिर्भाव के) ज्ञान में विरोध होने पर विषय की व्यवस्था (जैसे चैत्र का गृहाभाव प्रत्यक्ष का और बहिर्भाव आगम प्रमाण का विषय है) करके विरोध का परिहार करना अर्थापत्ति का विषय है', क्योंकि वस्तुतः विशिष्ट (गृहाभाव) और सामान्य (बहिर्भाव) में कोई विरोध है ही नहीं।

अर्थापत्ति के अन्य उदाहरणों का भी इसी प्रकार अनुमान के अन्तर्गत समावेश कर लेना चाहिए। इसलिए अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न कोई प्रमाण नहीं है।

एवमभावोऽपि प्रत्यक्षमेव। न हि भूतलस्य परिणामविशेषात् कैवल्यलक्षणादन्यो घटाभावो नाम। प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्व एव भावाः ऋते चितिशक्तेः। स च परिणामभेद ऐन्द्रियक इति नास्ति प्रत्यक्षानवरुद्धो विषयो यत्राभावाख्यं प्रमाणान्तरमभ्युपेयेतेति।

अर्थ—इसी प्रकार अभाव भी प्रत्यक्ष प्रमाण ही है, उससे भिन्न नहीं। घट का अभाव भूतल के घटरहितत्व-रूप[1] परिणाम-विशेष से भिन्न कोई वस्तु नहीं है क्योंकि एक चिति-शक्ति को छोड़कर शेष सभी पदार्थों का प्रतिक्षण परिणाम (धर्मान्तरोत्पाद) होता है। और यह घटरहितत्व-रूप भूतल का परि-

१. (i) कैवल्यं भावान्तरासंसृष्टत्वरूपं सद्वितीयत्वरूपधर्मापेक्षया धर्मान्तरं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य तत् कैवल्यलक्षणं, तस्मादिति—विद्वत्तोषिणीकाराः।

णाम-विशेष इन्द्रिय-ग्राह्य (प्रत्यक्ष) ही है। इसलिए प्रत्यक्ष का विषय न बनने वाला 'अभाव' नामक ऐसा कोई पृथक् पदार्थ ही नहीं जिसके ज्ञान के लिए 'अभाव' नामक पृथक् प्रमाण माना जाय।

विशेष—सांख्य और योग में मुख्य रूप से निर्गुण चित् अर्थात् पुरुष और त्रिगुणात्मक अचित् प्रकृति—ये दो ही तत्त्व माने गए हैं। इनमें पुरुष निर्गुण होने के कारण अपरिणामी है परन्तु प्रकृति गुणात्मक होने के कारण सदा परिणामिनी है क्योंकि गुण स्वभावतः प्रति-क्षण परिणामी हैं। त्रिगुणात्मक प्रकृति के ही परिणाम होने के कारण जगत् के सभी पदार्थ परिणामी होते हैं। 'परिणाम' की परिभाषा व्यासदेव ने योग-भाष्य में इस प्रकार दी है—'अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तिरोत्पत्तिः परिणामः'। अर्थात् द्रव्य के रहते हुए उसमें पूर्व धर्म की निवृत्ति हो जाने पर दूसरे अर्थात् अभिनव धर्म की उत्पत्ति को परिणाम कहते हैं। सांख्य अभाव को अधिकरण या आश्रय रूप ही मानता है, वैशेषिक की भाँति कोई भिन्न पदार्थ नहीं। इस प्रकार भूतल में रहने वाला घटाभाव घट की भाँति भूतल का परिणाम-विशेष हो है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ घट भूतल से भिन्न आकार का है, वहाँ घटाभाव उसके आकार का अर्थात् उससे अभिन्न ही है। इसी को सांख्य-योग की पारिभाषिक पदावली में क्रमशः 'सद्वितीय-धर्म,' परिणाम एवं 'अद्वितीय-धर्म' परिणाम कहते हैं क्योंकि भूतल में विद्यमान होने पर घट उसका दूसरा धर्म है पर घटाभाव हो जाने पर खाली भूतल रह जाने से यह घटाभाव भूतल से अद्वितीय या अभिन्न ही है, भूतल से भिन्न उस (भूतल) का कोई धर्म नहीं। इस प्रकार घटाभाव के भूतल से पृथक् न होकर तद्रूप ही होने के कारण भूतल के साथ चक्षुरिन्द्रिय के जिस सन्निकर्ष से उसका प्रत्यक्ष होता है, उसी सन्निकर्ष से उसमें स्थित घट के अभाव का भी

(ii) अत्र कैवल्यं घटसत्त्वरूपापादनेनापत्तियोग्यघटोपलम्भकत्वरूपम्।....परे तु कैवल्यं घटरहितत्वं तल्लक्षणात् तत्स्वरूपादित्यर्थमाहुः। केचित्तु कैवल्यं भावान्तरासंसृष्टत्वरूपं सद्वितीयत्वरूपधर्मापेक्षया धर्मान्तरं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य तस्मादित्यर्थः इति वदन्ति। तत्तु भूतले पटसत्वे भूतलस्य भावान्तरासंसृष्टत्वाभावेन घटाभावरूपत्वस्यासम्भवापत्त्योपेक्षितमिति। —सुषमाकारः

प्रत्यक्ष होगा, किसी भिन्न सन्निकर्ष की आवश्यकता न होगी। अभाव को भिन्न पदार्थ मानने के कारण ही उसके प्रत्यक्ष में न्याय-वैशेषिक को संयोग के अतिरिक्त विशेषण-विशेष्यभाव नामक एक अभिनव सन्निकर्ष मानना पड़ता है। अभाव को प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय मानते हुए भी सांख्य का न्याय-वैशेषिक से यही भेद है। इसी प्रकार जगत् के सभी भावों को बौद्धों के समान प्रतिक्षण-परिणामी मानता हुआ भी सांख्य-योग उन क्षणभङ्गवादियों की भाँति उन-उन भावों का प्रतिक्षण विनाश नहीं मानता जैसा कि परिणाम की व्यासदेव-कृत परिभाषा में आए 'अवस्थितस्य' पद से स्पष्ट ज्ञात होता है। सांख्यों का वैनाशिक बौद्धों से यह महान् मत-भेद है। इस सांख्य-मत की सत्यता एवं तदाधारित श्रेष्ठता इसी से स्पष्ट है कि सुवर्ण पिण्ड में उत्पन्न होने वाले कटक, कुण्डल आदि भिन्न धर्म उस पिण्ड के विद्यमान रहते हुए ही उसमें अन्वित होकर उत्पन्न होते हैं। यह प्रतीति तो सर्वानुभव-सिद्ध है।

सम्भवस्तु यथा खार्यां द्रोणाढकप्रस्थाद्यवगमः, स चानुमानमेव। खारीत्वं हि द्रोणाद्यविनाभूतं प्रतीतं खार्यां द्रोणादिसत्त्वमवगमयति।

अर्थ—'खारी' में द्रोण, आढक, प्रस्थ इत्यादि अल्प परिमाण (तौल) सम्भव (विद्यमान) हैं—यह ज्ञान कराने वाला 'सम्भव नामक जो पृथक् प्रमाण (पौराणिकों को मान्य) है, वह भी अनुमान ही है; क्योंकि द्रोण इत्यादि के बिना न होने वाली अर्थात् उनसे व्याप्त 'खारी' अपने में द्रोण, आढक इत्यादि अल्प परिमाणों की सत्ता का अनुमान कराती है (जैसे अग्नि से व्याप्त धूम व्यापक अग्नि की सत्ता का अनुमान कराता है)।

यच्चानिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपरम्परामात्रम्—"इति होचुर्वृद्धाः"-इत्यैतिह्यम्, यथा 'इह वटे यक्षः प्रतिवसति' इति, न तत् प्रमाणान्तरम्, अनिर्दिष्टप्रवक्तृकत्वेन सांशयिकत्वात्। आप्तवक्तृकत्वनिश्चये त्वागम एव। इत्युपपन्नं "त्रिविधं प्रमाणम्" इति।

अर्थ—'इस वृक्ष पर यक्ष रहता है' 'ऐसा वृद्ध जन कहते हैं' इत्यादि प्रकार की परम्परागत जनश्रुति जो (ऐतिहासिकों के लिए) ऐतिह्य प्रमाण है, वह तो मूल वक्ता का कोई पता न होने से प्रमाण है ही नहीं; क्योंकि वक्ता के ज्ञात न होने के कारण यह 'ऐतिह्य' सन्दिग्ध रहता है (और सन्दिग्ध

अर्थ—'तु' शब्द सामान्यतोदृष्ट अनुमान को प्रत्यक्ष और पूर्ववत् अनुमान से पृथक् करता है। बुद्धि-कृत अध्यवसाय के विशिष्ट प्रकार 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान से प्रधान, पुरुष इत्यादि परोक्ष तत्त्वों का ज्ञान होता है। बुद्धि का यह अध्यवसाय या ज्ञान-रूप व्यापार चित् या पुरुष के साथ तादात्म्य-प्राप्ति है। यहाँ 'सामान्यतोदृष्ट' का कथन दिग्दर्शन-मात्र के लिए है। अतः प्रत्यक्ष-रूप से कथित न होने पर भी 'शेषवत्' का भी ग्रहण कर लेना चाहिये।

विशेष—(i) विद्वत्तोषिणीकार को छोड़कर प्रायः अन्य सभी व्याख्याकारों ने 'चितिच्छायापत्तेर्बुद्धेरध्यवसायः' पाठ मानकर उसे 'प्रतीतिः' का व्याख्यान माना है। पर ऐसा मानने में कठिनाई यह है कि अनुमान से होने वाली अनुमिति-रूप प्रमा बुद्धि का व्यवसाय कैसे हो सकती है? क्योंकि जैसा पहले पञ्चम कारिका के व्याख्यान के अवसर पर कह चुके हैं, बुद्धि का व्यवसाय या ज्ञान-रूप व्यापार ही तो प्रमाण है; चाहे वह प्रत्यक्ष प्रमाण हो अथवा अनुमान या आगम। और प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि प्रमा प्रमाणभूत उस बुद्धि-व्यवसाय से उत्पन्न होने वाली पौरुषेय प्रतीति ही हो सकती है। ऐसी स्थिति में ऊपर दिए गए अर्थ के अनुसार यह पंक्ति अनुमान प्रमाण होने वाले अध्यवसाय का ही व्याख्यान है, ऐसा समझना चाहिए। विद्वत्तोषिणी में यह बात इस प्रकार स्पष्ट की गई है:—'अध्यवसायाद् इति। लिङ्गज्ञानजन्यबौद्धबोधात्मकादनुमानादित्यर्थः। प्रतीतिः पौरुषेयबोधात्मकफलरूपानुमितिरित्यर्थः।' सच तो यह है कि यह पाठ ही निर्मूल एवं अयुक्त लगता है, इसीलिए उदासीन जी ने इसे कोष्ठ में रक्खा है। टिप्पणी में उन्होने लिखा है:—'( ) एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः कथञ्चिद्योजितोऽपि न स्वान्तं रञ्जयति, न च प्रतीतेर्विवरणमिदमिति भ्रमितव्यं प्रतीतेरनुमितिरूपायाः पौरुषेयत्वेन बुद्ध्यध्यवसायत्वाभावात्; टिप्पणादापतितो वाऽयं पाठः।

(ii) गौडपाद, माठर इत्यादि सभी प्राचीन टीकाकारों ने भी वाचस्पति मिश्र की तरह ही सामान्यतोदृष्ट अनुमान से प्रधान, पुरुष इत्यादि परोक्ष तत्त्वों के ज्ञान की उत्पत्ति कही है:—'अत्र प्रधानपुरुषावतीन्द्रियौ तयोः सामान्यतोदृष्टादनुमानात् सिद्धिः।' (माठर०) परन्तु चन्द्रिकाकार नारायणतीर्थ ने प्रस्तुत कारिका का व्याख्यान अन्य प्रकार से किया है। उनके अनुसार इनका

अर्थ इस प्रकार होगा—'सर्वसामान्य (इन्द्रियग्राह्य) विषयों का ज्ञान 'दृष्ट' अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से, प्रकृति इत्यादि अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान अनुमान प्रमाण से तथा इससे भी न ज्ञात होने वाले याग आदि की स्वर्गसाधनता इत्यादि का ज्ञान आगम या शब्द प्रमाण से होता है।'—(द्रष्टव्य सां० का० ६ पर नारायण-कृत चन्द्रिका) इस अर्थ को असत् ठहराते हुए पं० वंशीधर मिश्र ने अपने सांख्यतत्त्वविभाकर में इस प्रकार लिखा है—"यत्तु 'सामान्यतः इति षष्ठ्यन्तात्तसिः, तथा चेन्द्रिययोग्यस्य सर्वस्यापेक्षितस्यानपेक्षितस्य च दृष्टात् प्रत्यक्षादेव' इति, तन्न; क्लिष्टकल्पनापत्तेः, पूर्ववद्व्यावृत्त्यर्थमनुमानपदस्य सामान्यतोदृष्टानुमानपरत्वकल्पनापत्तेश्च, शास्त्रस्य मन्दप्रयोजनतापत्तेश्च, पूर्ववदनुमानस्य विषयाप्रदर्शनेन न्यूनतापत्तेश्च।।" (पृ० १८३)

तत्किं सर्वेषु अतीन्द्रियेषु सामान्यतोदृष्टमेव प्रवर्तते? तथा च यत्र तन्नास्ति, महदाद्यारम्भक्रमे स्वर्गापूर्वदेवतादौ च, तत्र तेषामभावः प्राप्त इत्यत आह—"तस्मादपि" इति। तस्मादपीत्येतावतैव सिद्धे चकारेण शेषवत् इत्यपि समुच्चितम् ॥६॥

अर्थ—तो क्या सभी अतीन्द्रिय विषयों में सामान्यतोदृष्टि की प्रवृत्ति होती है? वैसा मानने पर तो महत् आदि तत्त्वों के आरम्भ-क्रम, स्वर्ग, अपूर्व, देवता आदि जिन विषयों में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती, उनका तो अभाव मानना होगा। इसीलिए मूल में कहा है—उससे भी असिद्ध अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि आगम से होती है। 'तस्मादपि' पद से ही विवक्षित की सिद्धि हो जाने पर 'च' का प्रयोग 'शेषवत्' अनुमान का भी समुच्चय करने के लिए किया गया है, ऐसा समझना चाहिए।

स्यादेतत्, यथा गगनकुसुमकूर्मरोमशशविषाणादिषु प्रत्यक्षमप्रवर्तमानं तदभावमवगमयति, एवं प्रधानादिष्वपि। तत्कथं तेषां सामान्यतोदृष्टादिभ्यः सिद्धिः? इत्यत आह—

अर्थ—पर यह भी तो हो सकता है कि जैसे आकाश के फूल, कछुए के रोम तथा खरगोश की सींग आदि के विषय में प्रवृत्त न होता हुआ प्रत्यक्ष उनका अभाव सूचित करता है, उसी प्रकार वह प्रकृति आदि के विषय में भी प्रवृत्त न होने के कारण उनका भी अभाव सूचित करता है। तब

सामान्यतोदृष्ट आदि से उनकी सिद्धि कैसे कही जा सकती है ? इसी के उत्तर में कहते हैं—

अतिदूरात् सामीप्यात्
इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ॥
सौक्ष्म्याद् व्यवधानाद्
अभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥७॥

अर्थ—अत्यधिक दूर अथवा समीप होने से, इन्द्रियों के नाश या चित्त की अस्थिरता से, सूक्ष्म होने से, बीच में किसी रुकावट के आ जाने से, आक्रान्त (तिरस्कृत) हो जाने से और सदृश वस्तु में मिल जाने इत्यादि से (भी) वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता।

"अतिदूरात्" इति । अनुपलब्धिरिति वक्ष्यमाणं (का० ८) सिंहावलोकनन्यायेनानुषञ्जनीयम् । यथा उत्पतन् वियति पतत्री अतिदूरतया सन्नपि प्रत्यक्षेण नोपलभ्यते । सामीप्यादित्यत्राप्यतिरनुवर्तनीयः । यथा लोचनस्थमञ्जनमतिसामीप्यान्न दृश्यते । इन्द्रियघातोऽन्धत्वबधिरत्वादिः । मनोऽनवस्थानात्—यथा कामाद्युपहतमनाः स्फीतालोकमध्यवर्तिनमिन्द्रियसन्निकृष्टमप्यर्थं न पश्यति । सौक्ष्म्यात्—यथेन्द्रियसन्निकृष्टं परमाण्वादि प्रणिहितमना अपि न पश्यति । व्यवधानात्—यथा कुड्यादिव्यवहितं राजदारादिकं न पश्यति । अभिभवात्—यथाऽहनि सौरीभिर्भाभिरभिभूतं ग्रहनक्षत्रमण्डलं न पश्यति । समानाभिहारात्—यथा तोयदविमुक्तानुदबिन्दून् जलाशये न पश्यति ।

अर्थ—अगली कारिका में आये हुए 'अनुपलब्धि' पद का सिंहावलोकन-न्याय से यहाँ भी अन्वय होना चाहिये । आकाश में उड़ता हुआ पक्षी अत्यधिक दूर होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं दीखता । 'सामीप्यात्' पद के साथ भी 'अति'

१. द्रष्टव्य चरक०, सू० ११ :—सतां च रूपाणामतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात् करणदौर्बल्यात् मनोऽनवस्थानात् समानाभिहारादभिभवादतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः ।

को जोड़ना चाहिये; जैसे आँख का अञ्जन अत्यधिक समीप होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं दीखता। इन्द्रियों का घात अर्थात् अपने-अपने कार्य करने की शक्ति का नाश, जैसे अन्धा या बहरा होना। मन की अस्थिरता या विक्षिप्तता के कारण; जैसे काम-वासना इत्यादि से विक्षिप्त चित्त वाला पुरुष स्पष्ट प्रकाश में पड़े हुए इन्द्रिय-गोचर पदार्थ को नहीं देखता। सूक्ष्मता के कारण—जैसे स्थिर चित्त वाला पुरुष भी इन्द्रिय-सम्बद्ध परमाणु इत्यादि को नहीं देखता। आड़ के कारण—जैसे दीवार इत्यादि की आड़ में छिपी हुई राज-महिषियों को कोई नहीं देख पाता। आक्रान्त या तिरस्कृत होने के कारण—जैसे दिन में सूर्य के प्रकाश से आक्रान्त या दबे हुए ग्रह और नक्षत्रों को कोई नहीं देख पाता। सदृश वस्तु के साथ मिश्रित हो जाने से—जैसे सरोवर में बादलों से गिरे हुए जल-बिन्दुओं को कोई नहीं देख पाता।

चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, तेनानुद्भवोऽपि संगृहीतः। तद्यथा क्षीराद्यवस्थायां दध्याद्यनुद्भवान्न पश्यति।

अर्थ—मूलकारिका में आया हुआ 'च' न कहे गए कारणों का भी संग्रह करने के लिये है। इससे 'प्रकट न होना' भी कारणों के अन्दर आ गया—जैसे दूध इत्यादि की अवस्था में प्रकट न हुआ दही इत्यादि भी नहीं दिखाई पड़ता।

एतदुक्तं भवति। प्रत्यक्षनिवृत्तिमात्राद्वस्त्वभावो न भवति, अतिप्रसङ्गात्। तथा हि—गृहाद्विनिर्गतो गृहजनमपश्यंस्तदभावं विनिश्चिनुयात्, न त्वेवम्। अपितु योग्यप्रत्यक्षनिवृत्तेरयमभावं विनिश्चिनोति। न च प्रधानपुरुषादीनामस्ति प्रत्यक्षयोग्यता, इति न तन्निवृत्तिमात्रात्तदभावनिश्चयो युक्तः प्रामाणिकानामिति ॥७॥

अर्थ—तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष का विषय न होने भर से किसी वस्तु का अभाव नहीं हो जाता, क्योंकि ऐसा होने से अतिप्रसङ्ग दोष आ जायगा। जैसे घर से बाहर गए हुए पुरुष को घर के व्यक्ति के न दिखाई पड़ने पर उसके अभाव का निश्चय हो जाना चाहिये, पर ऐसा नहीं होता, अपितु प्रत्यक्ष-योग्य वस्तु के प्रत्यक्ष न होने पर ही उसके अभाव का उसे निश्चय होता है। प्रकृति, पुरुष इत्यादि प्रत्यक्ष-योग्य नहीं हैं, इसलिये प्रत्यक्ष का विषय न होने से ही उनके अभाव का निश्चय कर लेना प्रामाणिक पुरुषों को उचित नहीं ॥७॥

कतमत्पुनरेतेषु कारणं प्रधानादीनामनुपलब्धौ ? इत्यत आह—

अर्थ—अच्छा, प्रकृति इत्यादि के प्रत्यक्ष न होने में इनमें से कौन सा कारण है ? इसके उत्तर में कहते हैं :—

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्, कार्यतस्तदुपलब्धेः[1] ॥
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं[2] विरूपं च ॥८॥

अर्थ—सूक्ष्म होने के कारण प्रकृति, पुरुष इत्यादि का प्रत्यक्ष नहीं होता, अभाव के कारण नहीं; क्योंकि उसके कार्यों से उसकी प्राप्ति होती है। ये कार्य महतत्त्व इत्यादि हैं जो प्रकृति के समान भी हैं और उससे विलक्षण भी।

"सौक्ष्म्यादिति"। अथाभावादेव सप्तमरसवदेतेषामनुपलब्धिः कस्मान्न भवति ? इत्यत आह—"नाभावात्" इति। कुतः ? "कार्यतस्तदुपलब्धेः"। 'तत्' इति प्रधानं परामृशति। पुरुषोपलब्धौ तु प्रमाणं वक्ष्यति, 'सङ्घातपरार्थत्वात्' (का० १७) इति।

अर्थ—जैसे अभाव के कारण (खाद्यों में) सातवें रस का ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार इन प्रकृति, पुरुष इत्यादि तत्त्वों का भी अभाव होने के कारण ही प्रत्यक्ष नहीं होता, ऐसा क्यों नहीं मान लेते ? इसके उत्तर में कहते हैं :—अभाव के कारण ऐसा नहीं है। क्यों ? क्योंकि कार्यों से उसका ज्ञान होता है। 'तत्' पद प्रकृति के लिये आया है। पुरुष के ज्ञान में प्रवृत्त होने वाला प्रमाण आगे १७ वीं कारिका में बतायेंगे।

विशेष—यद्यपि पुरुष का ज्ञान भी अनुमान से ही होता है और यह अनुमान १७ वीं कारिका में दिया गया है; पर यह उस अनुमान से भिन्न है जिसमें प्रकृति का ज्ञान होता है। मूल कारण होने से प्रकृति के महत् तत्त्व आदि विकार या कार्य उसके अनुमान में लिङ्ग होते हैं परन्तु किसी का भी कारण न होने से पुरुष का कोई कार्य है ही नहीं जो उसके अनुमान में

---

१. तदुपलब्धिः—गौड०, युक्तिदीपिका।

२. प्रकृतिविरूपं सरूपं च—गौड०, युक्ति०।

लिङ्ग बने। इसी कारण प्रकृति का अनुमान उसके कार्यों से होता है, पुरुष का अन्य हेतुओं से।

दृढतरप्रमाणावधारिते हि प्रत्यक्षमप्रवर्त्तमानमयोग्यत्वान्न प्रवर्तते इति कल्प्यते। सप्तमस्तु रसो न प्रमाणेनावधारित इति न तत्र प्रत्यक्षस्यायोग्यता शक्याऽध्यवसितुमित्यभिप्रायः।

अर्थ—(अनुमानादि) अत्यन्त प्रबल प्रमाण के द्वारा निश्चित पदार्थ का ज्ञान यदि प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं होता तो यह माना जाता है कि प्रत्यक्ष उसमें अयोग्य या असमर्थ है। परन्तु सातवाँ रस तो किसी प्रमाण से निश्चित होता नहीं। इसलिये उसके विषय में प्रत्यक्ष की असमर्थता नहीं मानी जा सकती, यह कारिकाकार का अभिप्राय है।

किं पुनस्तत्कार्यं यतः प्रधानानुमानम्? इत्यत आह—"महदादि तच्च कार्यम्" इति। एतच्च यथा गमकं तथोपरिष्टादुपपादयिष्ते। तस्य च कार्यस्य विवेकज्ञानोपयोगिनी सारूप्यवैरूप्ये आह—"प्रकृतिसरूपं विरूपं च" इति। एते तूपरिष्टाद्विभजनीये इति ॥८॥

अर्थ—अच्छा वे कौन से कार्य हैं जिनसे प्रकृति का अनुमान होता है? इसके उत्तर में कहते हैं—'वे कार्य महत् तत्त्व आदि हैं'। ये महत् आदि कार्य जिस प्रकार प्रकृति के अनुमापक है, इसका आगे (१४ तथा १५ कारिकाओं में) विवेचन होगा। इन कार्यो के साधर्म्य और वैधर्म्य विवेकज्ञान में उपयोगी हैं। इसलिये उन्हें कहते हैं—इनमें कुछ कार्य प्रकृति के सदृश और कुछ उससे भिन्न या विलक्षण होते हैं। इसका विवेचन आगे (१० तथा ११ कारिकाओं में) होगा ॥८॥

कार्यात् कारणमात्रं गम्यते। सन्ति चात्र वादिनां विप्रतिपत्तयः। तथा हि केचिदाहुः—'असतः सत् जायते' इति। 'एकस्य सतो विवर्तः कार्यजातं, न वस्तु सत्' इत्यपरे। अन्ये तु 'सतः असत् जायते' इति। 'सतः सत् जायते' इति वृद्धाः।

अर्थ—किसी कार्य को देखने से केवल इतना ही अनुमान होता है कि उसका कोई कारण अवश्य होगा, परन्तु उस कारण के स्वरूप के विषय में दार्शनिकों में बड़ा मतभेद है। (अतः 'अमुक कार्य का अमुक ही कारण

है'—इस प्रकार किसी कार्य से उसके कारण-विशेष का निश्चित रूप से अनुमान नहीं हो पाता)। जैसे कुछ लोग कहते हैं कि असत् कारण से सत् कार्य उत्पन्न होता है। दूसरे लोग कहते हैं कि समस्त कार्य एक ही [ब्रह्म रूप] सत् के कल्पित या अतात्त्विक परिणाम हैं, तात्त्विक या वास्तविक नहीं। कुछ और लोग कहते हैं कि सत् कारण से असत् कार्य उत्पन्न होता है। वृद्धों (सयानों) का कहना है कि सत् कारण से सत् ही कार्य उत्पन्न होता है।

विशेष—पहला मत शून्यवादी बौद्धों का है, जिनका कहना है कि कारण वस्तु से कार्य वस्तु तभी उत्पन्न होती है जब कारण वस्तु असत् अर्थात् विनष्ट हो जाती है। जब तक वह वस्तु सत् अर्थात् विद्यमान रहती है, तब तक कोई कार्य वस्तु उत्पन्न होती ही नहीं। बीज से अंकुर तभी उत्पन्न होता है जब कि बीज नष्ट हो जाता है। मृत्पिण्ड से घट तभी निकलता है, जब कि मृत्पिण्ड नष्ट हो जाता है। इससे अनुमान होता है कि कारण के नष्ट हो जाने पर ही कार्य उत्पन्न हो पाता है। दूसरा मत अद्वैत वेदान्तियों का है जिनके अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत् है, एवं शेष समस्त जगत् अज्ञान वश उसमें उसी प्रकार आरोपित या कल्पित है, जैसे शुक्ति में रजत अथवा रज्जु-खण्ड में सर्प। जैसे शुक्ति और रज्जु का वास्तविक ज्ञान हो जाने पर उसमें रजत और सर्प की पूर्व प्रतीति मिथ्या या भ्रमात्मक लगती है, उसी प्रकार तत्त्व-ज्ञान के द्वारा माया का बन्धन अथवा आवरण हट जाने पर तत्त्व 'ब्रह्म' में ज्ञानावस्था के पूर्व प्रतीत होने वाला समस्त जगत् नहीं प्रतीत होता। तीसरा मत न्याय-वैशेषिक का है। इसके अनुसार परमाणु आदि में पूर्वतः अविद्यमान द्वयणुक इत्यादि, अभिनव कार्य उत्पन्न होते हैं। चौथा मत सांख्यों का है जिनके लिए सांख्य दर्शन के ग्रन्थ में 'वृद्ध' (सज्ञान या सयान) शब्द का प्रयोग सर्वथा स्वाभाविक ही है। इनके अनुसार सत्' कारण से ही कार्य उत्पन्न होता है, और वह कार्य भी सत् ही उत्पन्न होता है। अर्थात् कारणों में उसके व्यापार के पूर्व अनभिव्यक्ति रूप से विद्यमान कार्य ही कारण-व्यापार के पश्चात् अभिव्यक्त रूप में उत्पन्न होता है, जैसे प्रकृति से उत्पन्न होने वाले महत् अहङ्कार आदि तत्त्व उसमें अव्यक्त रूप से विद्यमान रहते हैं अथवा दुग्ध से उत्पन्न होने वाला दधि कारण-व्यापार के पूर्व भी दुग्ध में अनभिव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। इस प्रकार इस मत में कारण से कार्य की उत्पत्ति अव्यक्त वस्तु की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

तत्र पूर्वस्मिन् कल्पत्रये प्रधानं न सिध्यति सुखदुःखमोहभेद-वत्स्वरूपपरिणामशब्दाद्यात्मकं[1] हि जगत् कारणस्य प्रधानत्वं सत्त्वरजस्तमः स्वभावत्वमवगमयति।

यदि पुनरसतः सज्जायेत, असत् निरुपाख्यं[2] कारणं सुखादि रूपशब्दाद्यात्मकं कथं स्यात्? सदसतोस्तादात्म्यानुपपत्तेः।

अथैकस्य सतो विवर्तः शब्दादिप्रपञ्चः, तथापि सतः सज्जायेत इति न स्यात् न चास्याद्वयस्य प्रपञ्चात्मकत्वम्, अपि त्वप्रपञ्चस्य प्रपञ्चात्मकतया प्रतीतिर्भ्रम एव।

येषामपि कणभक्षाक्षचरणादीनां सत एव कारणादसतो जन्म, तेषांऽपि सदसतोरेकत्वानुपपत्तेर्न कार्यात्मकं कारणमिति न तन्मते प्रधानसिद्धिः।

अर्थ—इनमें से प्रथम तीन पक्षों में यह सिद्ध नहीं होता कि जगत् का कारण 'प्रधान'[3] अर्थात् सत्त्वरजस्तमोरूप है। सांख्यमत में तो जगत् रूप कार्य से कारण के 'प्रधान' अर्थात् त्रिगुणात्मक (सत्त्वरजस्तमोरूप) होने का अवश्यमेव अनुमान होता है क्योंकि जगत् वस्तुतः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के स्वरूप का ही है और ये शब्द, स्पर्श इत्यादि सर्वदा सुख, दुःख या मोह को उत्पन्न करने के कारण सत्त्वरजस्तमोरूप या त्रिगुणात्मक ही होते हैं (और सांख्यों के सत्कार्यवाद के अनुसार कारण और कार्य में अभेद होने से 'जिस प्रकार का कार्य है, उसी प्रकार का कारण भी होगा' यह अनुमान हो जायगा)। परन्तु यदि 'असत् से सत् की उत्पत्ति होती है'—यह बौद्ध सिद्धान्त मान लिया जाय तो 'असत् एवं धर्म-शून्य कारण सुख, दुख इत्यादि

१. सुखदुःखःमोहस्वरूपा से भेदविशेषास्ते विद्यन्ते यत्र तत्सुखदुःखमोहभेदवत्, तादृशं यत्स्वरूपं तेन रूपेण परिणामी येषां ते, एवम्भूताः शब्दादय एव आत्मा स्वरूपं यस्य तत्तादृशं जगत्। —विद्वत्तोषिणीकाराः

२. उपाख्या उपाख्यानम् 'इदमेतादृगि'ति वर्णनं, ततो निष्क्रान्तं निरुपाख्यम् अलक्षणत्वेन निःस्वभावत्वेन चेदन्तया वक्तुमशक्यमित्यर्थः। —विद्वत्तोषिणीकाराः

३. 'प्र' प्रकर्षेण वैषम्यावस्थापरिहारेण धीयन्ते निधीयन्ते विद्यन्ते सत्त्वादिगुणाः यस्मिंस्तत्प्रधानं सत्त्वरजस्तमोरूपम् —विद्वत्तोषिणीकाराः।

उत्पन्न करने वाले शब्द, स्पर्श आदि कार्यों के रूप का होगा अर्थात् सत्त्वरजस्तमोरूप प्रधान होगा'—यह कैसे कहा जा सकता है, क्योंकि सत् और असत् में अभेद असम्भव है। वेदान्त के अनुसार शब्दादि प्रपञ्च को एक ही सत्—ब्रह्म—का विवर्त (अतात्त्विक परिणाम) अर्थात् उसमें किया गया अध्यारोप मान लेने पर भी उक्त मत में सत् से सत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता क्योंकि यह अद्वय सत्ता—ब्रह्म—प्रपञ्चात्मक नहीं है अपितु (अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् इत्यादि श्रुति के कथनानुसार) इस प्रपञ्चविहीन ब्रह्म की प्रपञ्चात्मक प्रतीति भ्रम ही है।

[इस प्रकार इस मत में शब्दादि प्रपञ्च के मिथ्यात्मक होने एवं सत्कार्यवाद के अमान्य होने से यह नहीं कहा जा सकता कि 'कारण' त्रिगुणात्मक प्रधान ही है।] जो कणाद और गौतम आदि सत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति मानते हैं, उनके भी मत में सत् और असत् में अभेद असम्भव होने से, कारण शब्द इत्यादि कार्य के स्वरूप का नहीं हो सकता। अतः उनके भी मत में 'प्रधान' रूप से कारण की सिद्धि नहीं होती।

अतः प्रधानसिद्ध्यर्थं प्रथमं तावत्सत्कार्यं प्रतिजानीते।

अर्थ—इसलिए प्रधान की सिद्धि के लिए कारिकाकार सर्वप्रथम सत्कार्यवाद की प्रतिज्ञा करते हैं :—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम् ॥९॥

अर्थ—कारण-व्यापार के पूर्व भी कार्य (कारण में) विद्यमान रहता है, क्योंकि (१) असत् या अविद्यमान होने पर कार्य की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती (२) (कार्य की उत्पत्ति के लिए) उसके उपादान कारण का ग्रहण अवश्य करना पड़ता है अर्थात् कार्य अपने उपादान कारण से नियत-रूप से सम्बन्ध होता है, (३) सभी कार्य सभी कारण से उत्पन्न नहीं होते, (४) जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने में शक्त या समर्थ है, उससे उसी कार्य की उत्पत्ति होती है; और (५) कार्य कारणात्मक अर्थात् कारण से अभिन्न या उसी के स्वरूप का होता है।

असदकरणात्" इति। "सत् कार्यम्" कारणव्यापारात् प्रागपीति शेषः। तथा च न सिद्धसाधनं नैयायिकतनयैरुद्भावनीयम्।

अर्थ—कारिका के अन्त में आये हुए 'कार्य सत् है'—इन शब्दों में 'कारणव्यापार के पूर्व भी'—इन शब्दों को जोड़ देना चाहिए। इस प्रकार से नैयायिक हमारे मत को 'सिद्ध-साधन' का दोष नहीं दे सकते।

विशेष—दूसरों के द्वारा मानी गई बात को असिद्ध समझ कर फिर से सिद्ध करना सिद्ध-साधन दोष माना जाता है। 'कार्य सत् है'—केवल इतना ही प्रतिपाद्य विषय होने पर सांख्य में सिद्ध-साधन दोष हो सकता है, क्योंकि सांख्य की ही भाँति न्याय भी कार्य को सत् ही मानता है। परन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि जहाँ न्याय की दृष्टि में कारण-व्यापार हो चुकने पर ही कार्य सत् होता है और उसके पूर्व कार्य असत् रहता है, वहाँ सांख्य मत में 'कारण-व्यापार के पूर्व भी' कार्य कारण में अव्यक्त रूप से रहता है जो कि कारण-व्यापार के हो चुकने पर व्यक्त हो जाता है। इस प्रकार 'कारण-व्यापार के पूर्व भी'—ये शब्द जुड़ जाने से दोनों मतों में महान् अन्तर हो जाता है; और फिर नैयायिक सांख्य को यह दोष नहीं दे सकते कि सांख्य तो हमारे द्वारा मानी गई बात को ही फिर से सिद्ध करने की मूर्खता कर रहा है।

यद्यपि बीजमृत्पिण्डादिप्रध्वंसानन्तरमङ्कुरघटाद्युत्पत्तिरुपलभ्यते, तथापि न प्रध्वंसस्य कारणत्वम्, अपितु भावस्यैव बीजाद्यवयवस्य। अभावात्तु भावोत्पत्तौ तस्य सर्वत्र सुलभत्वात् सर्वदा सर्वकार्योत्पादप्रसङ्ग इत्यादिन्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायामस्माभिः प्रतिपादितम्।

अर्थ—यद्यपि बीज और मृतिका-पिण्ड इत्यादि के नष्ट हो जाने पर ही उनसे क्रमशः अंकुर और घट इत्यादि उत्पन्न होते पाये जाते हैं, तथापि अंकुर आदि की उत्पत्ति का कारण बीज इत्यादि का विनाश या अभाव नहीं, अपितु उनके भाव-रूप अवयव ही हैं, क्योंकि यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति मानेंगे तो अभाव के सर्वत्र सुलभ होने से सर्वत्र सभी कार्यों के उत्पन्न होने का दोष आ जायगा। इसे हमने अपनी न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका में स्पष्ट किया है।

विशेष—'न्यायवार्तिक-तात्पर्य-टीका' में आचार्य वाचस्पति मिश्र ने लिखा है :—"नह्यनन्वयविनष्टयोः शालियवबीजयोः कश्चिद्विशेषोऽस्ति येनैकस्मा-

च्छाल्यंकुरो, नान्यस्मात्” । 'भामती' में यह बात और भी स्पष्ट ढंङ्ग से कही गई है। वह इस प्रकार है :—“यद्येनानन्वितं, न तत्तस्य विकारो यथा घटशरावोदञ्चनादयो हेम्नानन्विता न हेमविकारा, अनन्विताश्चैते विकारा अभावेन, तस्मान्नाभावविकाराः; भावविकारास्तु ते, भावस्य तेनान्वितत्वात्” । इन पंक्तियों का तात्पर्य यह है कि जो जिससे सम्बद्ध होता है, वह उसी का परिणाम या कार्य होता है और जिससे सम्बद्ध नहीं होता, उसका कदापि कार्य नहीं होता। जैसे मृत्पिण्ड से सम्बद्ध घट, शराव (सकोरा) आदि मृत्पिण्ड के ही कार्य होंगे, सुवर्ण-पिण्ड से अन्वित या सम्बद्ध न होने के कारण स्वर्ण के कार्य नहीं होंगे। अभाव से तो कभी कोई वस्तु सम्बद्ध होती ही नहीं, इसीलिए उसका कभी कोई कार्य भी नहीं होता। इस प्रकार किसी भी कार्य को उत्पन्न करने की दृष्टि से सारे अभाव समान रूप से व्यर्थ हैं। धान का पौधा न धान के अभाव से सम्बद्ध दीख पड़ता है और न उससे भिन्न जौ आदि के बीज के अभाव से सम्बद्ध। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि धान का पौधा धान के बीज के अभाव से ही निकलेगा, जौ के बीज के अभाव से नहीं। इससे स्पष्ट है कि अभाव से नहीं, अपितु भाव से ही उत्पत्ति होती है। अतः वैनाशिक बौद्धों का अभाव (शून्य) से भाव या असत् से सत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त भ्रान्तिमूलक है।

[अब अत्यन्त संक्षेप में मायावादी अद्वैत वेदान्त के विवर्तवाद का खंडन करते हुए टीकाकार कहते हैं :—]

प्रपञ्चप्रत्ययश्चासति बाधके न शक्यो मिथ्येति वदितुम् इति

अर्थ—शब्दादि-प्रपंचात्मक जगत् की प्रतीति मिथ्या है—यह बात उस प्रतीति में बिना किसी बाधक के उपस्थित हुए कैसे कही जा सकती है ?

विशेष—जैसे सीपी में रजत या रस्सी के टुकड़े में सर्प की प्रतीति का उनके अनन्तर होने वाली 'यह रजत (चाँदी) नहीं, केवल सीपी है,' या 'यह सर्प नहीं, केवल रस्सी का टुकड़ा है' इत्यादि प्रतीति (ज्ञान) से बाध होने पर उसका मिथ्यात्व प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म में विद्यमान जगत् की प्रतीति का कोई बाधक दीख पड़ने पर ही उसे मिथ्या कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। आचार्य वाचस्पति के कहने का तात्पर्य यह लगता है कि माया-वादियों का विवर्त या मिथ्या-प्रतीति का सिद्धान्त ठीक नहीं है। परन्तु बात ऐसी नहीं है क्योंकि आचार्य वाचस्पति स्वयं भी वस्तुतः अद्वैत वेदान्त या

मायावाद के ही पोषक एवं अनुयायी हैं। यहाँ सांख्यशास्त्र के टीकाकार होने के नाते उन पर सत्कार्यवाद की रक्षा का भार है। अतएव जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादित करने के लिए आवश्यक जागतिक प्रतीति के बाधक प्रमाणों को न उपस्थित करके इतना ही कहकर उन्होंने बात छोड़ दी कि जगत् की प्रतीति का बाध करने वाली प्रतीति के बिना 'जगत् मिथ्या है, ब्रह्म का विवर्त-मात्र है'—यह कैसे कहा जाय? वस्तुतः उनके मत में इस प्रतीति के बाधक अनेक प्रमाण हैं। इससे जगत् मिथ्या ही है, ब्रह्म में अध्यारोपमात्र है, अन्य कुछ नहीं।

कणभक्षाक्षचरणमतमवशिष्यते तत्रेदं प्रतिज्ञातम्, 'सत् कार्यम्" इति। अत्र हेतुमाह "असदकरणात्" इति। असत् चेत् कारणव्यापारात् पूर्वं कार्यम्, नास्य सत्त्वं कर्तुं केनापि शक्यम्। न हि नीलं शिल्पिसहस्रेणापि पीतं कर्तुं शक्यते। 'सदसत्त्वे घटस्य धर्मौ' इति चेत्, तथापि असति धर्मिणि न तस्य धर्म इति सत्त्वं तदवस्थमेव, तथा च नासत्त्वम्। असम्बद्धेनातदात्मना चासत्त्वेन कथमसन् घटः? तस्मात् कारणव्यापारादूर्ध्वमिव ततः प्रागपि सदेव कार्यमिति।

अर्थ—इस प्रकार पूर्वोक्त दो मतों का निराकरण हो जाने पर न्याय-वैशेषिक मत बच रहा जिसका खंडन करने के लिये ही कारिकाकार कहते हैं—'कार्य सत्', और इस कथन के समर्थन में सर्वप्रथम हेतु देते हैं:—'असदकरणात्'। अर्थात् यदि कारण-व्यापार के पूर्व कार्य असत् होता तो उसे कोई भी सत् नहीं बना सकता था। नीला रंग (जिसमें पीला रंग नहीं है) हजारों कुशल कारीगरों से भी पीला नहीं किया जा सकता। यदि यह कहा जाय कि [जैसे एक ही घट कच्चा रहने पर नीला और पक जाने पर लाल होने के कारण अवस्था-भेद से दो विरुद्ध धर्मों का आश्रय बनता है, उसी प्रकार] एक ही घट कारण-व्यापार के पूर्व असत् और कारण-व्यापार के अनन्तर सत् हो सकता है, तो यह युक्ति युक्त नहीं लगती क्योंकि उस समय धर्मी 'घट' के अविद्यमान रहने पर 'असत्त्व' धर्म उसमें आधेय-रूप से कैसे रहेगा और आधेय धर्म तो आधार-भूत धर्मी में ही रहता है। इसलिए कारण-व्यापार से पूर्व भी घट सत् ही रहता है, असत् नहीं। जिस 'असत्त्व' का न तो धर्मी 'घट' से कोई सम्बन्ध ही है और न वह तद्रूप ही है, उसके आधार

पर घट असत् कैसे कहा जा सकता है ? इसलिये जैसे कारण-व्यापार के अनन्तर कार्य सत् होता है, वैसे ही उसके पूर्व भी।

विशेष—मूल में 'असम्बद्ध' पद न्याय-मत को दृष्टि में रख कर तथा 'अतदात्मता' पद सांख्य-मत को दृष्टि में रखकर कहा गया है। न्याय-मत के अनुयायी 'नीलं कमलम्' अर्थात् 'कमल नीला है' इत्यादि वाक्य में धर्मी 'कमल' को नील वर्ण का समवाय सम्बन्ध से आश्रय मानकर आश्रयाश्रयिभाव से दोनों की प्रतीति मानते हैं। सांख्य-मत के अनुयायी धर्म तथा धर्मी में अभेद मानने के कारण गुण या धर्म की गुणी या धर्मी के रूप से अर्थात् दोनों की तादात्म्य-रूप से प्रतीति मानते हैं।

दी गई युक्ति का अभिप्राय यह है कि जब 'असत्त्व' धर्म 'घट' धर्मी में समवाय आदि सम्बन्ध से भी नहीं है और तद्रूप भी नहीं है, तब घट को असत् कैसे कह सकते हैं। जैसे 'नीलं कमलम्' का अर्थ या तो नील गुण का आश्रय कमल' या नील गुण से अभिन्न कमल है, उसी प्रकार 'असन् घटः' का अर्थ भी या तो 'असत्त्व धर्म का आश्रय घट' या 'असत्त्व धर्म से अभिन्न घट' है। पहला अर्थ तो इसलिये उपपन्न या घटित नहीं होता कि जब तक कमल के समान घट को विद्यमान नहीं मानते, तब तक 'असत्त्व' धर्म को समवाय सम्बन्ध से घट में आश्रित या विद्यमान कैसे कहेंगे ? दूसरा अर्थ भी इसलिए उपपन्न नहीं होता कि 'असत्' अभाव का तथा 'घट' भाव का द्योतक है और भाव तथा अभाव में तादात्म्य तो स्पष्ट ही असम्भव है। अतः 'असन् घटः'—यह वाक्य ही निरर्थक है। इससे यह सिद्ध हुआ कि कारण-व्यापार के बाद की तरह उसके पहले भी कार्य सत् रहता है।

कारणाच्चास्य सतोऽभिव्यक्तिरेववाशिष्यते। सतश्चाभिव्यक्तिरुपपन्ना। यथा पीडनेन तिलेषु तैलस्य, अवघातेन धान्येषु तण्डुलानाम्, दोहनेन सौरभेयीषु पयसः। असतः करणे तु न निदर्शनं किञ्चिदस्ति। न खल्वभिव्यज्यमानं वा क्वचिदसत् दृष्टम्।

अर्थ—इस प्रकार सत् कार्य का कारण से केवल अभिव्यक्त होना भर बाकी (शेष) रहता है, और सत् की अभिव्यक्ति तो अनुभव-सिद्ध है। जैसे तिलों के पेरे जाने से उनमें पहले से ही अनभिव्यक्त रूप से विद्यमान तेल, धान के कूटे जाने से उनमें पूर्वतः स्थित चावल, एवं गायों के दुहने से

उनमें अदृश्य रूप से विद्यमान दूध अभिव्यक्त अथवा प्रकट हो जाता है। परन्तु असत् वस्तु के उत्पन्न होने में कोई दृष्टान्त नहीं मिलता। वस्तुतः असत् वस्तु कभी प्रकट या उत्पन्न होती हुई नहीं देखी गई।

इतश्च कारणव्यापारात् प्राक् सदेव कार्य—"उपादानग्रहणात्।" उपादानानि कारणानि; तेषां ग्रहणं कार्येण सम्बन्धः। उपादानैः कार्यस्य सम्बन्धादिति यावत्।

एतदुक्तं भवति—कार्येण सम्बद्धं कारणं कार्यस्य जनकम्, सम्बन्धश्च कार्यस्यासतो न सम्भवति, तस्मादिति।

अर्थ—कारण-व्यापार होने के पहले से ही कार्य के विद्यमान होने का एक हेतु यह भी है कि कारण का कार्य के साथ सम्बन्ध रहता है। 'उपादान' का अर्थ है—कारण, और उसके 'ग्रहण' का अर्थ है—कार्य के साथ उसका सम्बन्ध। इस प्रकार 'उपादान-ग्रहण' का अर्थ है—कार्य के साथ कारण का सम्बन्ध। तात्पर्य यह है कि कार्य के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध कारण ही कार्य को उत्पन्न करता है और यदि कार्य पूर्वतः असत् है तो उसका कारण के साथ सम्बन्ध असम्भव है। इसलिये वह कारण-व्यापार से पूर्व भी अवश्य ही सत् होगा। [इस उक्ति से यह अनुमान सूचित होता है कि 'उत्पत्ति' के पूर्व कार्य अपने कारण से सम्बद्ध रहता है क्योंकि उससे उत्पन्न होता है और जो कार्य जिससे सम्बद्ध नहीं होता, वह उससे नहीं उत्पन्न होगा, जैसे मिट्टी से घट इत्यादि सम्बद्ध न होने के कारण उससे नहीं पैदा होते, उसके कार्य नहीं होते।]

स्यादेतत्—असम्बद्धमेव कारणैः कार्यं कस्मान्न जन्यते? तथा चासदेवोत्पत्स्यते आह—"सर्वसम्भवात्" इति। असम्बद्धस्य जन्यत्वे असम्बद्धत्वाविशेषेण सर्वं कार्यजातं सर्वस्माद् भवेत्। न चैतदस्ति। तस्मान्नासम्बद्धेन जन्यते, अपि तु सम्बद्धं सम्बद्धेन जन्यत इति। यथाहुः सांख्यवृद्धाः—

"असत्त्वे नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥" इति।

अर्थ—यह ठीक भी हो तो भी कारण से असम्बद्ध ही कार्य को क्यों नहीं उत्पन्न मानते और ऐसा मान लेने पर यह सिद्ध हो जायगा कि असत्

ही कार्य उत्पन्न होता है। इसके उत्तर में कहते हैं कि 'सभी कार्यों की सभी कारणों से उत्पत्ति न होने के कारण' उक्त शङ्का निर्मूल है। तात्पर्य यह है कि कारण से असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति मान लेने पर असम्बद्धता के सर्वत्र समान रूप से प्राप्त होने के कारण सभी कार्य सभी कारणों से अनियन्त्रित रूप से उत्पन्न होने लगेंगे; परन्तु बात ऐसी नहीं है। अतः असम्बद्ध कार्य असम्बद्ध कारण से नहीं उत्पन्न होता; अपितु सम्बद्ध कार्य ही सम्बद्ध कारण से उत्पन्न होता है; जैसा सांख्याचार्यों ने कहा है—'उत्पत्ति के पूर्व कार्य को असत् मानने पर सत् कारण के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता और कारण से असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति मानने पर 'अमुक कारण से ही अमुक कार्य की उत्पत्ति होती है'—ऐसी व्यवस्था न रहेगी (अर्थात् सभी प्रकार के कारणों से सभी प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति होने लगेगी और इस प्रकार बड़ी अव्यवस्था हो जायगी—मिट्टी से कपड़ा, जल से घड़ा और ईख से नमक आदि पैदा होने लगेंगे)।

स्यादेतत्—असम्बद्धमपि सत् तदेव करोति यत्र यत्कारणं शक्तं, शक्तिश्च कार्यदर्शनादवगम्यते। तेन नाव्यवस्थेत्यत आह—"शक्तस्य शक्यकरणात्" इति। सा शक्तिः शक्तकारणाश्रया सर्वत्र वा स्यात्, शक्य एव वा? सर्वत्र चेत्, तदवस्थैवाव्यवस्था। शक्ये चेत्कथमसति शक्ये तत्र इति वक्तव्यम्। शक्तिभेद एव एतादृशो यतः किञ्चिदेव कार्यं जनयेत् न सर्वमिति चेत्, हन्त भोः! शक्तिविशेषः कार्यसम्बद्धो वाऽसम्बद्धो वा? सम्बद्धत्वे नासता सम्बन्ध इति सत् कार्यम्। असम्बद्धत्वे सैवाव्यवस्था इति सुष्ठूक्तं 'शक्तस्य शक्यकरणात्' इति।

अर्थ—यह ठीक भी हो तो भी कार्य से सम्बद्ध भी सत् कारण उसी कार्य को उत्पन्न करता है जिसमें उसकी शक्ति या सामर्थ्य है, (सभी कार्य को नहीं)' और कारण की कार्य-विशेष को उत्पन्न करने की यह शक्ति या क्षमता अतीन्द्रिय या अगोचर होने के कारण उस कार्य-विशेष को देखकर अनुमान[1] की जाती है। एवं इसीलिए कारण और कार्य के परस्पर अस-

१. जिस कारण से जो कार्य उत्पन्न होता देखा जाता है, उस कारण में में उस कार्य-विशेष को उत्पन्न करने की शक्ति है—जैसे मिट्टी से घट तथा तन्तुओं से वस्त्र को उत्पन्न होते देखकर यह अनुमान होता है कि मिट्टी की उत्पादक शक्ति घट ही में है, वस्त्रादि में नहीं, तन्तुओं की उत्पादक शक्ति वस्त्र ही में है, घटादि में नहीं।

म्बद्ध होने पर भी किसी भी कारण से किसी भी कार्य के होने की अव्यवस्था नहीं होगी। इसके उत्तर में कहते हैं कि—'शक्तस्य शक्यकरणात्' अर्थात् जो कारण जिस कार्य की उत्पत्ति में शक्त या समर्थ है; उस शक्त कारण से उसी शक्य अर्थात् उत्पाद्य कार्य के उत्पन्न होने से कारण और कार्य परस्पर असम्बद्ध नहीं हो सकते और असम्बद्ध न होने पर कार्य का सत् होना अनिवार्य है। प्रश्न यह है कि शक्त कारण में वर्तमान उक्त शक्ति सभी कार्यों के विषय में प्रसृत होती है या केवल उसके द्वारा उत्पाद्य कार्य-विशेष के ही विषय में। यदि सभी कार्यों के विषय में हो, तब तो उपर्युक्त अव्यवस्था ज्यों की त्यों ही बनी रही और यदि उत्पाद्य कार्य-विशेष के ही विषय में हो तो उसके अविद्यमान होने पर 'उस (कार्य) के विषय में ही कारण-शक्ति प्रसृत होती है'—यह कैसे कह सकते हैं? यदि यह कहा जाय कि कारण-शक्ति ही इस प्रकार की होती है कि वह कार्य-विशेष को ही उत्पन्न करती है, सभी कार्यों को नहीं, तो प्रश्न यह है कि कि यह विशिष्ट शक्ति कार्य-विशेष से सम्बद्ध है या नहीं? यदि सम्बद्ध है तो असत् कार्य से कैसे सम्बद्ध होगी? इसलिए कार्य सत् होगा। यदि नहीं सम्बद्ध है तो उपर्युक्त अव्यवस्था ही बनी रहेगी। इसलिये कारिकाकार ने कार्य को सत् सिद्ध करने के लिए जो 'शक्तस्य शक्यकरणात्' कहा, वह सर्वथा ठीक ही है।

इतश्च सत् कार्यमित्याह—"कारणभावाच्च", कार्यस्य कारणात्मकत्वात्। न हि कारणाद्भिन्नं कार्यम्, कारणं च सद्धिति कथं तदभिन्नं कार्यमसद्भवेत्?

अर्थ—कार्य इसलिए भी उत्पत्ति के पहले सत् सिद्ध होता है कि वह कारण-रूप ही होता है। कार्य कारण से भिन्न नहीं होता और कारण तो सत् है। तब उससे अभिन्न कार्य असत् कैसे होगा?

कार्यस्य कारणाभेदसाधनानि च प्रमाणानि—

न पटस्तन्तुभ्यो भिद्यते, तन्तुधर्मत्वात्; इह यद्यतो भिद्यते तत तस्य धर्मो न भवति, तथा गौरश्वस्य। धर्मश्च पटस्तन्तूनां, तस्मान्नार्थान्तरम्।

अर्थ—कार्य का कारण से अभेद या अपृथक्त्व सिद्ध करने वाले प्रमाण ये हैं:—पट तन्तुओं से भिन्न नहीं है क्योंकि वह तन्तुओं का ही धर्म है, उसी की विशेष अवस्था है, (अतएव उसमें समवेत है)। दृष्ट जाग्र-

तिक पदार्थों में जो जिससे भिन्न होता है, वह उसकी विशेष अवस्था (धर्म) नहीं होता, (इसलिए वह उसमें नहीं रहता); जैसे बैल घोड़े से भिन्न होने के कारण उसकी विशेष अवस्था नहीं है, (और इसी कारण से तन्तुओं में पट की भाँति वह घोड़े में समवेत नहीं है)। पट तो तन्तुओं में समवेत होने से उसका धर्म है, अतएव उससे भिन्न नहीं है।

उपादानोपादेयभावाच्च नार्थान्तरत्वं तन्तुपटयोः, ययोरर्थान्तररत्वं न तयोरुपादानोपादेयभावः, यथा घटपटयोः । उपादानोपादेयभावश्च तन्तुपटयोः, तस्मान्नार्थान्तरत्वम् ।

अर्थ—तन्तु और पट में इसलिए भी भेद नहीं है कि बिना उपकरण-भूत तन्तुओं का ग्रहण किए पट की प्राप्ति हो नहीं सकती। जो भी दो पदार्थ एक दूसरे से भिन्न होते हैं, उसमें इस प्रकार उपादानोपादेय-भाव होता ही नहीं; जैसे घट और पट में। तन्तु और पट में उपादानोपादेय-भाव है, इसलिए दोनों में भेद नहीं है।

इतश्च नार्थान्तरत्वं तन्तुपटयोः—संयोगाप्राप्त्यभावात् । अर्थान्तरत्वे हि संयोगो दृष्टो यथा कुण्डबदरयोः, अप्राप्तिर्वा, यथा हिमवद्विन्ध्ययोः । न चेह संयोगाप्राप्ती, तस्मानार्थान्तरत्वमिति ।

अर्थ—तन्तु और पट में परस्पर संयोग या विभाग (विप्रकृष्टत्व) का अभाव होने से भी दोनों में भेद नहीं है। एक वस्तु के दूसरे से भिन्न होने पर परस्पर संयोग सम्बन्ध देखा जाता है, जैसे पात्र और बेर फलों का; अथवा परस्पर विभाग देखा जाता है, जैसे हिमालय और विन्ध्य का। तन्तु और पट में संयोग और विभाग दोनों ही का अभाव होने से अभेद ही सिद्ध होता है।

इतश्च पटस्तन्तुभ्यो न भिद्यते, गुरुत्वान्तरकार्याग्रहणात् । इह यद्यस्माद्भिन्नं, तस्मात् तस्य गुरुत्वान्तरं कार्यं गृह्यते, यथैकपलिकस्य स्वस्तिकस्य यो गुरुत्वकार्योऽवनतिविशेषस्तस्माद् द्विपलिकस्य स्वस्तिकस्य गुरुत्वकार्योऽवनतिभेदोऽधिकः । न च तथा तन्तुगुरुत्वकार्यात् पटगुरुत्वकार्यान्तरं दृश्यते । तस्मादभिन्नस्तन्तुभ्यः पट इति ।

तान्येतान्यभेदसाधनान्यवीतानि ।

अर्थ—पट के तन्तुओं से भिन्न न होने का यह भी एक कारण है कि उपादान-भूत तन्तुओं के भार से भिन्न भार (तौल) का कार्य (पलड़े का अधिक अवनत होना या नीचे गिर जाना) पट में नहीं प्राप्त होता। दृश्य पदार्थों में जो जिससे भिन्न होता है, उसकी अपेक्षा उसमें भिन्न भार (तौल) का कार्य प्राप्त होता है, जैसे एक पल सुवर्ण के बने हुए स्वस्तिक नामक अलङ्कार के भार का कार्य-भूत जो अवनति-विशेष होगा, उसकी अपेक्षा दो पलों के बने हुए स्वस्तिक के भार का कार्य-भूत अवनति-विशेष अधिक होगा। परन्तु तन्तुओं के कार्य (पतन-विशेष) से (उन्हीं तन्तुओं से निर्मित) पट के भार का भिन्न कार्य नहीं दीख पड़ता। इसलिए तन्तुओं से पट भिन्न नहीं है।

अभेद सिद्ध करने वाले ये हेतु पूर्वोक्त[1] अवीत या व्यतिरेकी के उदाहरण हैं।

विशेष—यद्यपि 'गुरुत्वान्तरकार्याग्रहणात्' के स्थान में 'गुरुत्वान्तराग्रहणात्' या 'समानगुरुत्वात्' भी हेतु हो सकता था, तथापि चूंकि 'अप्रत्यक्षं पतनकार्यानुमेयम्' अर्थात् गुरुत्व अप्रत्यक्ष या अतीन्द्रिय होने के कारण स्वकार्यभूत पतन-विशेष या अवनति-विशेष से अनुमान किया जाता है—इस प्रशस्तपादीय वचन के अनुसार अतीन्द्रिय गुरुत्व का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। किन्तु गुरुत्व के पतन-विशेष इत्यादि कार्य का प्रत्यक्ष होने के कारण उस कार्य के द्वारा उसका अनुमान हो सकता है, इसलिए मूल में 'गुरुत्वान्तरकार्याग्रहणात्' ऐसा हेतु दिया है।

एवमभेदे सिद्धे तन्तव एव तेन-तेन संस्थानभेदेन परिणताः पटः, न तन्तुभ्योऽर्थान्तरं पटः। स्वात्मनि क्रियानिरोधबुद्धिव्यपदेशार्थक्रियाव्यवस्थाभेदाश्च नैकान्तिकं भेदं साधयितुमर्हन्ति। एकस्मिन्नपि तत्तद्विशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामेतेषामविरोधात्।

अर्थ—इस प्रकार अभेद सिद्ध होने से स्पष्ट है कि तन्तु ही आतान-वितान रूप विशिष्ट अवयव-सन्निवेश के द्वारा भिन्न अवस्था को प्राप्त होने पर पट हो जाते हैं। उससे भिन्न पट नामक कोई वस्तु नहीं है। और न तो

---

१. "अस्य चावीतस्य व्यतिरेकिणः उदाहरणमग्रेऽभिधास्यते" इत्यादिना ग्रन्थेन निरूप्यत्वेन प्रतिज्ञातस्य अवीतस्योदाहरणमिदमेवेत्याह—"तान्येतानीति"।

—सुषमा०

इन तर्कों से ही कारण और कार्य में भेद सिद्ध होता है कि यदि कार्य 'पट' अपने कारण 'तन्तुओं' से अभिन्न है तो पट के उत्पन्न या विनष्ट होने पर भी तन्तु के विषय में तद्वत् बुद्धि न होने से दोनों के उत्पाद और विनाश के सम्बन्ध में होने वाला बुद्धि-भेद[१], 'तन्तु में विद्यमान यह पट'—इस प्रकार का नाम-भेद, 'इन तन्तुओं से सिलाई इत्यादि होती है और इस पट से शरीर ढका जाता है'—इत्यादि कार्य या प्रयोजन का भेद, एवं 'तन्तु से रस्सी पट इत्यादि ही उत्पन्न होते हैं' शरीर नहीं ढका जाता है; परन्तु पट से शरीरादि ही ढका जाता है, रस्सी पट इत्यादि नहीं उत्पन्न होते'—इत्यादि प्रकार से दोनों के प्रयोजन या कार्य के विषय में नियम-सम्बन्धी भेद असंगत या अनुपपन्न होंगे, क्योंकि कारण तथा कार्य के एक होने पर भी कार्य के कभी प्रकट तथा कभी विलीन रहने से पूर्वोक्त सभी भेद संगत या घटित हो जायँगे।

विशेष—उपर्युक्त पाठ बलराम उदासीन की विद्वत्तोषिणी व्याख्या के अनुसार रखा गया है। किन्तु डा० गंगानाथ झा ने क्रियानिरोधबुद्धिव्यपदेश' के स्थान में 'क्रियाविरोधसम्बन्धबुद्धिव्यपदेश' पाठ ग्रहण किया है। वंशीधरी भी इसी पाठ का अनुसरण करती है। ऐसा होने पर इस प्रकार अर्थ होगा:—और कार्य के एक होने पर दोनों में क्रिया-विरोध होगा; जैसे पट के फटकर तन्तुओं में परिवर्तित होने पर पट की विनाश-क्रिया और तन्तुओं की उत्पत्ति-क्रिया एक साथ होगी जो दोनों के एक होने पर असंगत है।

---

१. "क्रिया उत्पत्तिः, निरोधः विनाशः, तयोर्या बुद्धिः 'पट उत्पद्यते पटो विनश्यति' इत्यादिरूपा, व्यपदेशः 'तन्तुषु पटः' इत्याकारको व्यवहारः, अर्थक्रिया तत्तत्कार्यकारित्वम्, तेषां भेदः। द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य 'भेद' शब्दस्य प्रत्येकमभि-सम्बन्धात् क्रियानिरोधबुद्धिभेदः व्यपदेशभेदः अर्थक्रियाभेदश्च इति लभ्यते"—इति सुषमाकाराः।

विद्वत्तोषिणीकारश्च पुनः 'क्रिया उत्पत्तिरूपा जनिक्रिया, निरोधः प्रध्वंसरूपो नाशः, बुद्धिः इमे तन्तवोऽयं च पट इति ज्ञानं, व्यपदेशः तन्तुषु पट इति शाब्दो व्यवहारः, अर्थक्रिया सामर्थ्यम्, व्यवस्था सामर्थ्यनियमः, तेषां भेदा बुद्धिव्यपदेशार्थक्रियाभेदाः, क्रियानिरोधौ च बुद्धिव्यपदेशार्थक्रियाव्यवस्था-भेदाश्चेति क्रियानिरोधबुद्धिव्यपदेशार्थक्रियाव्यवस्थाभेदाः इति विग्रहः' इति व्याख्यातवन्तः।

फिर कारण और कार्य के एक होने पर दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान भी असंगत होगा क्योंकि सम्बन्ध दो के बीच होता है। एक ही वस्तु का अपने से ही सम्बन्ध असंगत है। तन्तु और पट के पृथक् होने पर ही घट और पट के सम्बन्ध की तरह दोनों का सम्बन्ध भी संगत होगा।

यथा हि कूर्मस्याङ्गानि कूर्मशरीरे निविशमानानि तिरोभवन्ति, निःसरन्ति चाविर्भवन्ति; न तु कूर्मतस्तदङ्गान्युत्पद्यन्ते प्रध्वंसन्ते वा। एवमेकस्याः मृदः सुवर्णस्य वा घटमुकुटादयो विशेषा निःसरन्त आविर्भवन्त उत्पद्यन्त इत्युच्यते, निविशमानास्तिरोभवन्तो विनश्यन्तीत्युच्यते। न पुनरसतामुत्पादः सतां वा निरोधः। यथाह भगवान् कृष्णद्वैपायनः—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः"।—(गी० २।१६) **इति।**

यथा कूर्मः स्वावयवेभ्यः सङ्कोचविकासिभ्यो न भिन्नः, एवं घटमुकुटादयोऽपि मृत्सुवर्णादिभ्यो न भिन्नाः।

अर्थ—जैसे कछुए के अंग उसके शरीर में प्रविष्ट हो जाने पर गुप्त हो जाते हैं एवं बाहर निकल आने पर प्रकट हो जाते हैं, न कि वे (अंग) उस (कछुए) से उत्पन्न होते और उसमें विलीन होते हैं। वैसे ही मिट्टी या सोने से घट मुकुट इत्यादि निकलने या प्रकट होने पर 'उत्पन्न हुए' कहे जाते हैं, एवं (फूट तथा गल कर) उसी मिट्टी तथा सोने में मिल जाने पर 'विनिष्ट हुए' कहे जाते हैं, न कि वस्तुतः असत् घट, मुकुट इत्यादि की उत्पत्ति होती है अथवा वस्तुतः सत् उन घट आदि का विनाश होता है जैसा कि भगवान् वेदव्यास ने भी गीता में कहा है कि—'न तो असत् कभी उत्पन्न होता है और न सत् कभी विनष्ट होता है।' ओर जैसे कछुआ अपने सिकुड़ने तथा फैलने वाले अंगों से भिन्न कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार घट मुकुट इत्यादि भी मिट्टी, सोने इत्यादि से भिन्न नहीं हैं।

एवञ्च 'इह तन्तुषु पटः' इति व्यपदेशो यथा 'इह वने तिलकाः' इत्युपपन्नः। न चार्थक्रियाभेदोऽपि भेदमापादयति, एकस्यापि नानार्थक्रियादर्शनात्। यथैक एव वह्निर्दाहकः पाचकः प्रकाशकश्चेति।

नाप्यर्थक्रियाव्यवस्था वस्तुभेदे हेतुः, तेषामेव समस्तव्यस्तानामर्थक्रिया व्यवस्थादर्शनात्। यथा प्रत्येकं विष्टयो वर्त्मदर्शनलक्षणामर्थक्रियां कुर्वन्ति न तु शिविकावहनम्, मिलितास्तु शिविकामुद्वहन्ति, एवं तन्तवः प्रत्येकं प्रावरणमकुर्वाणा अपि मिलिता आविर्भूतपटभावाः प्रावरिष्यन्ति।

अर्थ—इस प्रकार (कारण और कार्य दोनों के एक होने पर भी) 'इन तन्तुओं में यह पट (बुन गया) है'—यह कथन ठीक उसी प्रकार संगत है जैसे तिलक नामक वृक्षों के वन के विषय में यह कथन कि 'इस वन में ये तिलक के वृक्ष हैं'। कारण तथा कार्य की प्रयोजन-भिन्नता से भी दोनों का भेद नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि एक ही पदार्थ के अनेक कार्य देखे जाते हैं, जैसे एक ही अग्नि जलाने, भोजन पकाने, तथा वस्तु को प्रकाशित करने का कार्य करता है। उसके विभिन्न प्रयोजनों के विषय में दीख पड़ने वाला नियम भी दोनों के परस्पर भिन्न होने में हेतु नहीं हो सकता क्योंकि उन्हीं वस्तुओं के मिलकर एवं पृथक्-पृथक् कार्य करने से नियत रूप से प्रयोजन-भिन्नता आ जाती है। जैसे कई ढोने वाले नौकर पृथक्-पृथक् अपना-अपना मार्ग देखने भर का कार्य करते हैं, पालकी ढोने का नहीं परन्तु मिलकर वे सब पालकी ढोते हैं, उसी प्रकार अनेक तन्तु पृथक्-पृथक् शरीर आदि को न ढकते हुए भी मिल जाने से अपने पट रूप धर्म (कार्य) के प्रकट हो जाने पर ढकने लगेंगे।

स्यादेतत्—आविर्भावः पटस्य कारणव्यापारात् प्राक् सन् असन् वा? असंश्चेत्, प्राप्तं तर्ह्यसदुत्पादनम्। अथ सन्, कृतं तर्हि कारणव्यापारेण। न हि सति कार्ये कारणव्यापारप्रयोजनं पश्यामः। आविर्भावे चाविर्भावान्तरकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गः। तस्मादाविर्भूतपटभावास्तन्तवः 'क्रियन्ते' इति रिक्तं वचः।

अर्थ—(तार्किक की शङ्का—(कारण और कार्य में अभेद कथञ्चित् मान भी लिया जाय तो प्रश्न यह उठता है कि पट का आविर्भाव तन्तुओं के कारण-व्यापार के पूर्व सत् था या असत्? यदि असत् था तो असत् की ही उत्पत्ति सिद्ध होती है और यदि सत् था तो कारण-व्यापार व्यर्थ हुआ क्योंकि (आविर्भाव-रूप) कार्य के विद्यमान होने पर कारण-व्यापार का तो कोई भी प्रयोजन नहीं दीख पड़ता। यदि यह कहें कि पट के अप्रकट आविर्भाव के

लिए कारण-व्यापार की आवश्यकता है, तब तो इस दूसरे भी अप्रकट आविर्भाव के लिए एक तीसरे आविर्भाव की आवश्यकता होगी और इसको भी प्रकट या व्यक्त करने के लिए एक चौथे की और इसी प्रकार चलते जाने पर अव्यवस्था होगी। इसलिए 'तन्तुओं में पूर्व से ही विद्यमान किन्तु अप्रकट पट कारण-व्यापार से प्रकट किया जाता है'—यह कथन निस्सार लगता है।

मैवम्। अथासदुत्पद्यत इति मते केयमसदुत्पत्तिः ? सतो असतो वा ? सती चेत्, कृतं तर्हि कारणैः। असती चेत्, तस्या अप्युत्पत्त्यन्तरमित्यनवस्था।

अर्थ—(सिद्धान्ती सांख्य का उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'असत् कार्य उत्पन्न होता है'—इस (तार्किक) मत के विषय में भी यह प्रश्न उठता है कि असत् कार्य की उत्पत्ति कैसी है?—सत् या असत् ? यदि सत् है तो उसके लिए कारणों की क्या आवश्यकता है और यदि असत् है तो इस असत् उत्पत्ति की भी एक दूसरी उत्पत्ति होगी और यह स्वयं भी पूर्व में असत् होगी तो इसकी भी तीसरी उत्पत्ति माननी होगी और इस प्रकार यहाँ भी वही अव्यवस्था[1] आ जायगी।

अथ उत्पत्तिः पटान्नार्थान्तरम् अपि तु पट एवासौ, तथापि यावदुक्तं भवति 'पटः' इति, तावदुक्तं भवति 'उत्पद्यते' इति। ततश्च 'पटः' इत्युक्ते 'उत्पद्यते' इति न वाच्यं, पौनरुक्त्यात्; 'विनश्यति' इत्यपि नवाच्यम्, उत्पत्तिविनाशयोर्युगपदेकत्र विरोधात्।

अर्थ—यदि (तार्किक की ओर से) यह कहा जाय कि पट की उत्पत्ति[2]

---

१. एतादृश्यनव्यवस्थापरिहारार्थं यदि किञ्चिदुत्तरमुपलभ्यते तर्हि तदेव ममाप्युत्तरम्। यदि नोपलभ्यते, तदा द्वयोस्तूष्णींभाव इति भावः—किरणावलीकाराः।

२. उत्पत्तिर्नामाद्यक्षणसम्बन्धः, स च स्वरूपसम्बन्धविशेषः, न तु संयोगः प्रध्वंसादावसम्भवात् ('उत्पत्तिमानभावः प्रध्वंसाभावः' इति तार्किकमते ध्वंसस्योपत्तिमत्त्वेन ध्वंसाभावेन सहाद्यक्षणसम्बन्धस्य संयोगादिरूपत्वासंभवेन तत्र स्वरूपसम्बन्धस्यैव वक्तव्यत्वादित्यर्थः। गुणक्रिययोरुत्पत्तिस्थलेऽपि स्वरूपसम्बन्ध

पट से भिन्न कोई वस्तु नहीं अपितु पट ही है (और चूंकि हमारे मत में पट कारण-व्यापार से पूर्व अनुत्पन्न है, अतः पट से अभिन्न उसकी उत्पत्ति भी अनुत्पन्न हुई और फिर इस अनुत्पन्न पट से अभिन्न उसकी अनुत्पन्न उत्पत्ति को उत्पन्न करने के लिए कारण-व्यापार की आवश्यकता होगी ही, तब फिर पुनरुक्ति दोष आ जाने से 'पट उत्पन्न होता है' ऐसा नहीं कहा जाना चाहिए क्योंकि 'पट' और 'उत्पत्ति' के पर्याय होने से 'पट' कहने से ही 'उत्पन्न होता है'—यह कह उठता है। 'पट नष्ट होता है'—यह भी नहीं कहा जाना चाहिये क्योंकि ऐसा कहने से एक ही वस्तु में युगपत्[1] अर्थात् एक ही काल में उत्पत्ति और विनाश—इन दो विरोधी धर्मों का आरोप होगा।

तस्मादियं पटोत्पत्तिः स्वकारणसमवायो वा, स्वसत्तासमवायो वा। उभयथापि नोत्पद्यते, अथ च तदर्थानि कारणानि व्यापार्यन्ते। एवं सत एव पटादेराविर्भावाय कारणापेक्षेत्युपपन्नम्।

अर्थ—इसलिए पट की यह उत्पत्ति या तो 'स्व (अर्थात् पट) का अपने कारण-भूत तन्तुओं में समवाय' है या 'स्व (अर्थात् पट) में सत्ता नामक पर-सामान्य का समवाय' है। दोनों ही प्रकार से 'उत्पत्ति' उत्पन्न हो ही नहीं सकती (क्योंकि 'उत्पत्ति' हुई समवाय-रूप, और 'समवाय' नित्य होने के कारण उत्पन्न हो ही नहीं सकता, अतः उसके कारण या साधन व्यर्थ हुए); तथापि उसके लिए कारण-व्यापार (तार्किक मत में) अभीष्ट है। उसी प्रकार कारण-व्यापार के पूर्व विद्यमान होने पर भी पट आदि की उत्पत्ति—अभिव्यक्ति—के लिए (हमारे मत मे भी) कारण अपेक्षित है, ऐसा कथन सर्वथा सम्भव है।

स्यैव सम्भवः) स्वरूपसम्बन्धश्चानुयोगिरूपः, अनुयोगी चात्र पटः, पटश्च कारणव्यापारात्प्रागनुत्पन्न इति तदनतिरेकिण्युत्पत्तिरपि अनुत्पन्ना, तथा चनुत्पन्नपटानतिरेकि इत्युत्पत्तये कारणव्यापारः सार्थक इत्याशयेन तार्किकः प्राह—"अथोत्पत्तिः पटान्नार्थान्तरमिति"—विद्वत्तोषिणीकाराः।

१. पटो विनशिष्यति इत्येवं कालान्तर उत्पत्तिविनाशयोरेकस्मिन्नविरोधेऽपि समसमययोस्तयोः (उत्पत्तिविनाशयोः) सहावस्थानस्य न सम्भव इति

विशेष—न्याय-वैशेषिक दर्शन में 'सामान्य' या 'जाति' नामक पदार्थ के दो प्रकार या भेद माने जाते हैं; एक तो 'पर' और दूसरा 'अपर'। द्रव्य, गुण, कर्म—सभी पदार्थ सत् हैं, अतः इन सब में सत्ता नामक जाति पाई जाती है। अर्थात् इन सब में सत्ता नामक जाति हुई। यही 'पर' जाति या 'पर' सामान्य है क्योंकि इससे बड़ी जाति कोई नहीं है। पृथ्वी, जल आदि द्रव्यों में होने वाली द्रव्यत्व जाति; शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि में होने वाली गुणत्व जाति; एवं इसी प्रकार अन्य पृथिवीत्व, जलत्व आदि जातियाँ 'सत्ता' से कम व्यापक होने के कारण 'अपर' सामान्य हैं। जब पट उत्पन्न होता है, तो वह अपने उपादान (न्याय की शब्दावली में 'समवायि') कारण 'तन्तुओं' में समवेत—अनुस्यूत—होकर ही उत्पन्न होता है, उनसे पृथक् नहीं। इसलिए पट की उत्पत्ति का लक्षण 'तन्तुओं में समवाय' कहा गया। फिर पट उत्पन्न होने के पूर्व (नैयायिकों के अनुसार) 'असत्' था, उत्पन्न होने पर 'सत्' हुआ अर्थात् सत्ता नामक 'पर' सामान्य से युक्त हुआ। इसलिए पट की उत्पत्ति का दूसरा लक्षण 'स्वसत्तासमवायः' अर्थात् पट में सत्ता नामक 'पर' सामान्य का समवाय कहा गया॥ डाक्टर गंगानाथ झा का The inherence of the cloth in its being' अनुवाद ठीक नहीं प्रतीत होता क्योंकि 'जाति' या 'सामान्य' व्यक्तियों में समवेत होता है, व्यक्ति-विशेष 'जाति' या सामान्य' में नहीं। डाक्टर झा के अनुवाद के साथ पुस्तक के अन्त में इस पंक्ति पर दिये गये डाक्टर हरप्रसाद शास्त्री के नोट से उपर्युक्त विवेचन नितान्त स्पष्ट हो जाता है। वह इस प्रकार है—"Now, what is your उत्पत्ति? Is it the समवाय of the effect in its cause? That is, समवाय which is produced? If you say yes, then your उत्पत्ति produces only the समवाय and not the effect. Or, do you mean to say that उत्पत्ति is the समवाय of सत्ता (existence) in the effect? That is, सत्ता is the genus presiding over the effect. It is by means of this सत्ता (genus), that we call an exiting object as existent. Just as गो is गो, because she is related to गोत्व; similarly, a सत् पदार्थ is सत् because it is related to सत्ता. So the other alternative of the नैयायिक is that what is originated is the समवाय of सत्ता in the effect. Here also, as above, what is originated is समवाय and not the effect.

[पट की उत्पत्ति समवाय तथा उस उत्पत्ति की नित्यता अर्थात् कारण-व्यापार के पूर्व भी सत्ता बतला कर तार्किक मत में उसके लिये जो कारण-व्यापार को अभी अनावश्यक सिद्ध किया:गया, उस पर यदि कोई तार्किक यह कहे कि पहले से अविद्यमान पट के रूप के साथ कारणों का सम्बन्ध ही पट की उत्पत्ति है, न कि अपने कारण-भूत तन्तुओं में पट का या पट में अपनी सत्ता का समवाय, तो इसके उत्तर में कहते हैं कि :—]

न च पटरूपेण कारणानां सम्बन्धः, तद्रूपस्याक्रियात्वात्, क्रिया सम्बन्धित्वाच्च कारणानां, अन्यथा कारणत्वाभावात् ।

तस्मात् सत्कार्यमिति पुष्कलम् ।

अर्थ—और न पट के रूप के साथ कारणों का सम्बन्ध ही उत्पत्ति है क्योंकि पट का 'रूप' गुण है, क्रिया नहीं और कारण[1] क्रिया से ही अन्वित होता है। अन्यथा वह कारण होगा ही नहीं । अतएव 'कार्य कारण-व्यापार के पूर्व उपादान कारण में विद्यमान रहता है'—यह प्रमाण-सिद्ध हुआ ।

विशेष—तार्किक ने सांख्य के सत्कार्यवाद के विरुद्ध जो यह आक्षेप उठाया कि 'यदि कारण-व्यापार के पूर्व कार्य विद्यमान रहता है तो कारण व्यर्थ हो जायँगे, और यदि कार्य उसके पूर्व अविद्यमान या असत् रहता है तो एकमात्र यही निष्कर्ष निकलता है कि असत् ही कार्य कारणों से उत्पन्न होता है,' इसका कोई समुचित उत्तर उपर्युक्त पंक्तियों में नहीं दिया गया है । तार्किक के मत में भी यथा-कथञ्चित् उसी कारण-व्यर्थता का दोष लगाकर उस को मौन कर दिया गया । अतः सांख्य के सत्कार्यवाद के विरुद्ध उठाये गए आक्षेप का परिहार होना आवश्यक है । किरणावलीकार के शब्दों में यह परिहार इस प्रकार है :—

---

१. (i) करणकारकविशेषस्यैव कारणत्वेन क्रियाजनकत्वाभावे कारणत्वमेव न स्यादित्यर्थः—उदासीनकृतटिप्पण्याम् ।

(ii) क्रियतेऽनेनेति कारणमिति व्युत्पत्त्या कारणस्य क्रियया सम्बन्धः स्पष्ट एव ।

"सर्ववस्तुषु सत्त्वं द्विविधं सूक्ष्मं स्थूलं चाविरुद्धम्, तत्र कारण-व्यापारैः सूक्ष्ममाव्रियते स्थूलं च प्रकाश्यते, तमसाऽऽवृतघटस्य तेजसा प्रकाशनवत् । अतो न कारणव्यापारः निष्प्रयोजनः । अतएव नानवस्थापि, अभिव्यक्तेरेव स्थूलसत्त्वापरपर्यायत्वात्, अनभिव्यक्तेश्च सूक्ष्मसत्त्वापरपर्यायत्वात् । प्रतिक्षण-परिणामकैः कारणैः सूक्ष्मसत्त्वानुवर्तनं यावत्, तावत् अभिव्यक्तिरावृता, स्थूलकारणव्यापारैश्च प्रकाशिता भवति इति । नन्वावरणे आवरणान्तरात्मकं सत्त्वमङ्गीकार्यं प्रकाशे च प्रकाशान्तरात्मकं सत्त्वमङ्गीकार्यमित्यनवस्था चेत्, अत्राहुः सांख्यसूत्रकाराः—"पारम्पर्यतोऽन्वेषणा बीजाङ्कुरवत्" (अ० १, सू० १२२) । यथा बीजार्थमङ्कुरम् अंकुरार्थं च बीजमपेक्षितमिति क्रमिकानवस्था न दोषाय, तथा अभिव्यक्त्यादौ एककालीनपारम्पर्यतोऽनवस्था न दोषायेति । अथवा सांख्यसूत्रम्—"उत्पत्तिवद्वाऽदोषः" (अ० १, सू० १२३) । तथा उत्पत्तेरुपत्त्यन्तरानभ्युपगमेन (उत्पत्तेः स्वयमेवोत्पत्तिरूपत्वात् न उत्पत्त्यन्तरकल्पनावकाशः—इति वैशेषिकैः समाधीयते) परमते नानवस्था, तथा अभिव्यक्त्यादेरभिव्यक्त्यन्तरानभ्युपगमेन नानवस्थेति । अभिव्यक्तेः स्वयमेवाभिव्यक्तिरूपत्वान्नाभिव्यक्त्यन्तरकल्पनावकाशः)" ।

तदेवं प्रधानसाधनानुगुणं सत्कार्यमुपपाद्य यादृशं तत् प्रधानं साधनीयम्, तादृशमादर्शयितुं विवेकज्ञानोपयोगिनी व्यक्ताव्यक्त-सारूप्यवैरूप्ये तावदाह—

अर्थ—इस प्रकार प्रधान की सिद्धि में उपयोगी सत्कार्यवाद का प्रतिपादन करके, उस प्रधान को जिस रूप में आगे सिद्ध करना है, उसे दिखलाने के लिये सर्वप्रथम विवेकज्ञान में उपयोगी व्यक्त तथा अव्यक्त के सादृश्य तथा भेद कहते हैं :—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं, विपरीतमव्यक्तम् ॥१०॥

अर्थ—व्यक्त सकारण अर्थात् उत्पन्न होने वाला, विनाशी, एकदेशीय (व्याप्य), क्रियावान्, अनेक, स्वकारण में आश्रित अतएव परतंत्र, अवयवयुक्त एवं प्रधान के अनुमान में हेतु होता है, अव्यक्त इसके प्रतिकूल होता है ।

"हेतुमत्" इति। व्यक्तं हेतुमत्, हेतुः कारणम्, तद्वत्। यस्य च यो हेतुस्तमुपरिष्टाद्वक्ष्यति। "अनित्यम्" विनाशि, तिरोभावीति यावत्। "अव्यापि" सर्वं परिणामिनं न व्याप्नोति। कारणेन हि कार्यमाविष्टम्, न कार्येण कारणम्। न च बुद्ध्यादयः प्रधानं वेविषतीत्यव्यापकाः।

अर्थ—व्यक्त 'हेतुमत्' अर्थात् कारण-युक्त—कार्य—होता है; 'हेतु' अर्थात् कारण, 'तद्वत्' अर्थात् उससे युक्त। जिसका जो कारण होता है, उसे आगे (कारिका २२ में) कहेंगे। 'अनित्य' अर्थात् विनाशी[1] या अपने कारण में तिरोभूत होने वाला—सूक्ष्म रूप से अवस्थित रहने वाला। 'अव्यापी' अर्थात् समस्त परिणामी कारण को 'व्यक्त' व्याप्त नहीं करता। कारण से कार्य व्याप्त होता है, कार्य से कारण नहीं। बुद्धि, अहंकार आदि परिणाम परिणामी 'प्रधान' को कभी भी व्याप्त नहीं करते। इसी से वे अव्यापक हैं।

"सक्रियम्" परिस्पन्दवत्। तथा हि बुद्ध्यादयः उपात्तमुपात्तं देहं त्यजन्ति, देहान्तरं चोपाददते, इति तेषां परिस्पन्दः। शरीर-पृथिव्यादीनां च परिस्पंदः प्रसिद्ध एव।

अर्थ—'सक्रिय' अर्थात् प्रवेश, निस्सरण आदि क्रिया[2] से युक्त। बुद्धि

---

१. 'नाशः कारणलयः' (१।२२१) इति सूत्रात् कारणे सूक्ष्मतयावस्थानं नाशः, तद्वत् कदाचित्तिरोभावशीलमिति यावत्।—विद्वत्तोषिणीकाराः (लीङ् श्लेषण इत्युक्तेर्लयः संश्लेषः, न तूच्छेद इत्यर्थ'—इति स्वटिप्पण्याम्।)

२: (i) परिस्पन्दो हि नैयायिकाद्यभिमतकर्मरूपः, स च न प्रधानादिषु सम्भवति तेषां विभुतया क्रियाश्रयत्वाभावात्। —सुषमाकाराः।

(ii) यस्मात् संसरणकाले महदादिकार्यं सूक्ष्मशरीरमाश्रित्य संसरति, तस्मात् सक्रियम्। —माठरवृत्ति।

(iii) क्रियाशब्देनात्र संसरणमभिप्रेतम्, न क्रियामात्रम्। विपरीतमव्यक्तम-संसारि। त्रिषु लोकेषु स्थितत्वान्न संसरति। न पुनः क्रियैव नास्तीति निष्क्रियं, तस्य जगत्कर्तृत्वात्। —जयमङ्गला।

इत्यादि[1] सूक्ष्म व्यक्त पुनः-पुनः ग्रहण किये गये (पूर्व) शरीर को (मरण-समय में) छोड़कर (जन्म के समय) दूसरे-दूसरे शरीर को ग्रहण करते हैं। यही उनका कार्य है। शरीर, पृथिवी इत्यादि स्थूल व्यक्तों का कर्म तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है।

"अनेकम्" प्रतिपुरुषं बुद्ध्यादीनां भेदात्। पृथिव्याद्यपि शरीर-घटादिभेदेनानेकमेव।

अर्थ—प्रत्येक पुरुष में बुद्धि इत्यादि के भिन्न होने से सूक्ष्म व्यक्त 'अनेक'[2] हैं। पृथिवी इत्यादि स्थूल व्यक्त भी शरीर, घट इत्यादि के भेद से अनेक हैं।

"आश्रितम्" स्वकारणमाश्रितम्। बुद्ध्यादिकार्याणामभेदेऽपि कथञ्चिद्भेदविवक्षयाऽऽश्रयाश्रयिभावः, यथा 'इह वने तिलकाः' इत्युक्तम्।

अर्थ—'आश्रित अर्थात् अपने कारण में आश्रित। यद्यपि बुद्धि इत्यादि कार्यों का अपने कारण से वस्तुतः कोई भेद नहीं है (ऐसा पहले सत्कार्यवाद के प्रतिपादन के अवसर पर सिद्ध कर चुके हैं), तथापि किसी प्रकार से (अर्थात् व्यवहार में) भेद की अपेक्षा होने पर, कारण और कार्य में आश्रय और आश्रित का सम्बन्ध घटित होता है; जैसे पूर्वोक्त 'इस वन में तिलक के पेड़ हैं'—इस वाक्य में आए हुए वन और तिलक के पेड़ों में।

---

१. 'बुद्ध्यादयः' बुद्ध्यादि तन्मात्रान्तानि तत्त्वानि इति किरणावलीकाराः।

२. "अनेकं सजातीयभेदवदित्यर्थः। तत्त्वं चात्र स्वाश्रय (महदादि)-प्रतियोगिकान्योऽन्याभावसमानाधिकरणतत्त्वविभाजकोपाधिमत्त्वम्...... ......एतेन 'अनेकत्वं सर्गभेदेन भिन्नत्वं सर्गद्वयासाधारण्यमिति यावत्, न पुनः सजातीयानेकव्यक्तिकत्वं, प्रकृतावतिव्याप्तेः, प्रकृतेरपि सत्त्वाद्यनेकरूपत्वात्' इति विज्ञानभिक्षूक्तमनादृतमिति बोध्यम्, प्रकृतेरनेकरूपत्वेऽपि अनेकव्यक्तिकत्वाभावेन प्रकृतिप्रतियोगिकान्योऽन्याभावस्य प्रकृतावसम्भवात्। किञ्च, अजामेकामिति श्रवणादप्रामाणिकं प्रकृतेरनेकव्यक्तिकत्वाभिधानमित्यस्थान एव व्यामोहो भिक्षोरिति॥"

—विद्वत्तोषिणीकाराः

"लिङ्गम्"[1] प्रधानस्य। यथा चैते बुद्ध्यादयः प्रधानस्य लिङ्गम् तथोपरिष्टाद्वक्ष्यति। प्रधानं तु न प्रधानस्य लिङ्गं पुरुषस्य लिङ्गं भवदपीति भावः।

अर्थ—'लिङ्ग' अर्थात् प्रधान के अनुमान में हेतु। बुद्धि इत्यादि व्यक्त जिस प्रकार से अव्यक्त प्रधान की सत्ता के अनुमान में लिङ्ग बनते हैं, उसे आगे 'भेदानां परिमाणात्' इत्यादि १५ वीं कारिका में कहेंगे। अव्यक्त प्रधान तो पुरुष की सत्ता के अनुमान में लिङ्ग होने पर भी प्रधान की सत्ता के अनुमान में लिङ्ग नहीं बनता (इसीलिए उसे प्रस्तुत कारिका के अन्त भाग में लिङ्ग से विपरीत अर्थात् भिन्न कहा है।

विशेष—माठर ने अपनी वृत्ति में 'लयं गच्छतीति लिङ्गम्' कहा है। गौडपाद ने भी यही अर्थ किया है। डा० झा ने शायद इन्हीं का अनुसरण करके 'लिगम्' का Soluble' (अर्थात् लीन होने वाला) अनुवाद किया है। परन्तु वाचस्पति ने इस शब्द का हेतु' (अनुमापक) अर्थ ही माना है, जैसा कि तत्त्व-कौमुदी की 'प्रधानं तु न प्रधानस्य लिग, पुरुषस्य लिग भवदपि'—पंक्ति से स्पष्ट है। इसीलिए कौमुदी की इस पंक्ति का डा० झा-कृत अनुवाद—Nature cannot be soluble in itself though it may be so regarded in its relation to the Spirit सर्वथा असंगत है; क्योंकि सांख्य की प्रकृति तो पुरुष कीं ही भाँति नित्य है, वह पुरुष में लय को कहाँ प्राप्त होती है? शंकरार्य (जयमंगलकार) तथा विज्ञानभिक्षु ने 'हेतु' अर्थ को प्रथम अर्थ के विकल्प-रूप में दिया है। बालराम ने प्रथम अर्थ को ही 'हेतु' अर्थ के विकल्प-रूप में दिया है। पहले उन्होंने 'लिमयति गमयतीति लिगं ज्ञापकं' लिखा है, आगे 'स्वकारणे लयगमनाद्वा लिगं व्यक्तम्' लिखा है। वंशीधर ने 'गमक' या 'हेतु' अर्थ ही लिया है।

---

१. लिग्यतेऽनेनाव्यक्तमिति लिंगम्। विपरीतमव्यक्तम् न लिग्यते किञ्चदनेनेति। अथवा लयं गच्छतीति लिङ्गम्। प्रलयकाले ह्याकाशादयः पञ्च यथाक्रमं शब्दादितन्मात्रेषु लीयन्ते, तन्मात्राणीन्द्रियाणि चाहङ्कारे, अहङ्कारो महति, महान् प्रधाने इति। विपरीतमव्यक्तम्, न कुत्रचिदिदं लीयते अहेतुत्वात्।

—जयमंगला।

"सावयवम्"[1] अवयवनमवयवः, अवयवानामवयविनां मिथः संश्लेषो मिश्रणं संयोग इति यावत्। अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः संयोगः। तेन सह वर्तत इति सावयवम्। तथा हि—पृथिव्यादयः परस्परं संयुज्यन्ते, एवमन्येऽपि; न तु प्रधानस्य बुद्ध्यादिभिः संयोगः, तादात्म्यात्। नापि सत्त्वरजस्तमसां परस्परं संयोगः, अप्राप्तेरभावात्।

अर्थ—'सावयव' अर्थात अवयव-युक्त। 'अवयव' का अर्थ है 'अवयवन' अर्थात् अवयव तथा अवयवी का परस्पर मिश्रण या संयोग। पहले न प्राप्त हुई वस्तु का प्राप्त होना संयोग कहलाता है। ऐसे संयोग के साथ वर्तमान वस्तु सावयव हुई। जैसे पृथिवी इत्यादि व्यक्त परस्पर संयोग प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार अन्य (इन्द्रिय, मन इत्यादि) भी एक दूसरे का संयोग प्राप्त करते हैं। परन्तु प्रधान का बुद्धि, अहङ्कार इत्यादि के साथ संयोग नहीं होता क्योंकि उनका प्रकृति के साथ सदा तादात्म्य या अभेद रहता है। (एवं तादात्म्य होने पर नित्य प्राप्ति रहने के कारण पूर्व में अप्राप्ति का अभाव होने से प्रकृति का किसी से संयोग असम्भव है)। न तो सत्त्व, रजस् और तमस् का ही परस्पर संयोग होता है जिससे यह कहा जा सके कि प्रकृति में विद्यमान इन तीनों का परस्पर संयोग होने से प्रकृति उस संयोग की अनुयोगी है, क्योंकि वे भी सदा प्राप्त रहते हैं। [न तो प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् का ही बुद्धि के सत्त्व, रजस् गुणो के साथ संयोग होता है जिससे यह कहा जा सके कि प्रकृति में दोनों के सत्त्व आदि गुणों का परस्पर संयोग होता है, इससे प्रकृति संयोगानुपयोगी है।—सुषमा]

विशेष—गौडपाद, माठर[2] तथा जयमंगला तीनों ही 'अवयव' का अर्थ शब्द स्पर्श आदि करते हैं। परन्तु इससे कठिनाई यह होगी कि तब फिर सभी व्यक्त 'सावयव' नहीं कहे जा सकते क्योंकि बुद्धि आदि सूक्ष्म व्यक्त शब्द, स्पर्श इत्यादि से सम्पन्न नहीं कहे जा सकते। इसको दूर करने के लिए यदि यह कहा जाय कि शब्द, स्पर्श आदि बुद्धि अहङ्कार आदि सूक्ष्म व्यक्तों में अप्रकट रूप में

---

१. सावयवं संयोगयोगि संयोगस्यानुयोगि प्रतियोगि चेत्यर्थः।

—विद्वत्तोषिणीकाराः।

२. शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाद्यवयसम्पन्नं व्यक्तम्—माठरवृत्ति।

रहते है, तब तो फिर ये प्रकृति में भी उसी रूप में विद्यमान माने जा सकते हैं, और तब प्रकृति भी 'सावयव' हो जायगी। आचार्य वाचस्पति का 'संयोग' अर्थ भी सदोष ही लगता है क्योंकि वे जैसे प्रकृति का बुद्धि इत्यादि से तादात्म्य-सम्बन्ध के कारण संयोग नहीं मानते, उसी प्रकार उसी कारण से बुद्धि और अहंकार का भी संयोग नहीं होना चाहिये। परन्तु किसी व्याख्याता या टीकाकार ने इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा है।

"परतन्त्रं"[1] बुद्ध्या स्वकार्येऽहङ्कारे जनयितव्ये प्रकृत्यापूरोऽपेक्ष्यते, अन्यथा क्षीणा सती नालमहंकारं जनयितुमिति स्थितिः। एवमहङ्कारादिभिरपि स्वकार्यजनने इति सर्वं स्वकार्येषु प्रकृत्यापूरमपेक्षते। तेन परां प्रकृतिमपेक्षमाणं कारणमपि स्वकार्यजनने परतन्त्रं व्यक्तम्।

अर्थ—बुद्धि आदि व्यक्त दूसरे पर आश्रित है। अपने कार्य अहङ्कार को उत्पन्न करने में बुद्धि को प्रकृति की सहायता की आवश्यकता होती है, अन्यथा असमर्थ होने के कारण वह अहङ्कार को उत्पन्न नहीं कर सकती, यह वस्तु-स्थिति है। इसी प्रकार अहङ्कार इत्यादि भी अपने कार्य को उत्पन्न करने में प्रकृति के साहाय्य की अपेक्षा रखते हैं। इसलिये चूँकि सभी व्यक्तों को अपने-अपने कार्य में प्रकृति के साहाय्य की आवश्यकता है, अतः सभी व्यक्त अपने कार्य को उत्पन्न करने में 'कारण' (अर्थात् स्वतः समर्थ) होने पर भी परतन्त्र हैं—प्रकृति के आश्रित हैं।

"विपरीतमव्यक्तम्" व्यक्तात्। अहेतुमत् नित्यं, व्यापि, निष्क्रियम्—यद्यप्यव्यक्तस्यास्ति परिणामलक्षणा क्रिया तथापि परिस्पन्दो नास्ति, एकम्, अनाश्रितम्, अलिंगम्, अनवयवम्, स्वतन्त्रम् अव्यक्तम्

अर्थ—अव्यक्त (प्रधान) व्यक्तों से भिन्न अर्थात् कारण-रहित (अज),

---

१. (i) 'परतन्त्रं' न स्वतन्त्रम्। यदस्मादुत्पद्यते तदेवानुरुध्य स्वकार्यं जनयति न व्यतिरेकेणेति दर्शनार्थम्, अन्यथा हेतुमदित्यनेनैव परतन्त्रत्वं प्रसिद्धमेव। —जयमंगला।

(ii) परतन्त्रं साक्षात् परम्परया वा प्रकृत्यधीनस्वरूपपरिणामात्मकं भवति। (प्रकृत्यधीनं स्वरूपं परिणामश्च यस्य महदादेस्तत्)—सांख्यचन्द्रिका।

अविनाशी, व्यापक, क्रियाहीन—यद्यपि अव्यक्त में परिणाम-रूप क्रिया विद्यमान है तथापि प्रवेश निस्सरण आदि क्रिया का अभाव है, एक (स्वकारण के अभाव में), अन्यत्र अनाश्रित, (स्वयं के अनुमान में ज्ञापक हेतु न होने से) अलिंग, अवयवहीन (संयोगरहित) तथा स्वतन्त्र है।

तदनेन प्रबन्धेन व्यक्ताव्यक्तयोर्वैधर्म्यमुक्तम्। सम्प्रति तयोः साधर्म्यं पुरुषाच्च वैधर्म्यमाह—

अर्थ—इस प्रकार दसवीं कारिका में व्यक्त और अव्यक्त का वैषम्य बतला कर अब उन दोनों का परस्पर साम्य और पुरुष से उनका वैषम्य बताते हैं :—

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं, तथा प्रधानं, तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११॥

अर्थ—व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों ही त्रिगुणात्मक, अपृथक् या अभिन्न, विषय, सर्व-साधारण, जड़ तथा परिणामी हैं। पुरुष उन दोनों से विपरीत भी है एवं सदृश भी।

"त्रिगुणम्" इति। त्रयो गुणाः सुखदुःखमोहाः अस्येति त्रिगुणम्। तदनेन सुखादीनामात्मगुणत्वं पराभिमतमपाकृतम्।

अर्थ—सुख, दुःख और मोह—ये तीनों गुण जिसमें हों, वह त्रिगुण अर्थात् सुख-दुःख-मोहात्मक[1] है। इस कथन से (नैयायिक इत्यादि) अन्य दार्शनिकों

---

१. यद्यपि तन्त्रे सुखादिधर्मकं सत्त्वादितत्त्वत्रयमेव'''गुणपदाभिधेयं, न सुखादिकं धर्मजातं, तथापि धर्मधर्मिणोरभेदमादाय सुखादयो धर्मा एवात्र गुणपदेनाभिप्रेताः, न सत्त्वादयो धर्मिण इति ज्ञेयम्। अत्रेदमाकूतम्—यद्यत्र गुणशब्देन सत्त्वरजस्तमांसि तत्त्वानि गृह्येरन् तर्हि त्रिगुणमित्यस्य सत्त्वादिगुणत्रयाधारभूतं व्यक्तमव्यक्तञ्चेत्यर्थोऽत्र सम्पद्येत, स चानिष्टः व्यक्तस्य महदादेर्गुणत्रयाधारत्वेऽप्यव्यक्तस्य तथात्वाभावात् (गुणत्रयाधारत्वाभावात्) तत्राव्याप्तिप्रसंगात्''''गुणशब्देन सुखादीनां ग्रहणे तु प्रधानस्यापि सत्त्वादिधर्मभूतसुखाद्याधारस्य सम्भवान्नाव्याप्तिरिति——त्रयः सत्त्वादयो गुणाः यस्मिंस्तत् त्रिगुणमिति व्याख्याने तु वने वृक्षवत् प्रधाने सत्त्वादीनामवस्थानं ज्ञेयम्।

को मान्य "सुख, दुःख इत्यादि आत्मा के गुण है"—इस सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है।

विशेष—इस शास्त्र में वस्तुतः सत्त्व, रजस् और तमस् की ही 'गुण' संज्ञा है, सुख, दुःख और मोह की नहीं। ये तो उक्त गुणों के धर्म या स्वभाव हैं। परन्तु यहाँ धर्म और धर्मी में अभेद मानकर सुख इत्याद धर्मों को ही गुण कहा गया है। ऐसा मानने का कारण यह है कि 'त्रिगुण, का 'सत्त्व इत्यादि गुणों से युक्त' अर्थ होने पर अव्यक्त को 'त्रिगुण' नहीं कह सकते क्योंकि अव्यक्त सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणों का आधार नहीं अपितु तद्रूप या तदात्मक है; जैसा कि 'सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्' (सां० सू० ६।३९) इत्यादि सांख्य-सूत्र तथा 'एते गुणाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति' (यो० सू० २।१८ का व्यास-भाष्य) इत्यादि योग-भाष्य की पंक्ति से स्पष्ट है। इसके विपरीत 'गुण' का 'सुख दुःख तथा मोह' अर्थ लेने पर व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों ही के विषय में 'त्रिगुण' पद का प्रयोग घटित हो जायगा क्योंकि अव्यक्त सत्त्व, रजस् तथा तमस् के रूप का है और सुख, दुःख तथा मोह क्रमशः इन सत्त्व इत्यादि के धर्म हैं, अतः ये अव्यक्त में आश्रित हो ही जायेंगे। भेद इतना ही होगा कि जहाँ प्रधान सुख-दुःख आदि धर्म से युक्त सत्त्व, रजस् इत्यादि के रूप का होने से 'त्रिगुण' होगा, वहाँ महत् इत्यादि 'व्यक्त' सत्त्वाद्यात्मक प्रधान के कार्य होने से तत्रस्थ सुख इत्यादि धर्मों को प्राप्त करने के कारण 'त्रिगुण' होंगे।

यों तो 'गुण' का सत्त्वादि अर्थ लेने पर भी अव्यक्त के सम्बन्ध में 'त्रिगुणत्व' का कथन घटित हो जायगा। क्योंकि जैसे वन के वृक्षात्मक होने पर भी 'वने वृक्षाः' ऐसा प्रयोग होता है, उसी प्रकार अव्यक्त 'सत्त्वादिस्वरूप' होने पर भी सत्त्व इत्यादि गुणों से युक्त अथवा इन गुणों का आश्रय कहा जा सकता है।

"अविवेकि"। यथा प्रधानं न स्वतो विविच्यते, एवं महदादयोऽपि न प्रधानात् विविच्यन्ते तदात्मकत्वात्। अथवा सम्भूयकारितात्राविवेकिता। न हि किञ्चिदेकं पर्याप्तं स्वकार्ये, अपितु सम्भूय। तत्र नैकस्मात् यस्य कस्यचित् केनचित् सम्भव इति।

अर्थ—'अविवेकि' अर्थात् जैसे प्रधान अपने से अभिन्न या अपृथक् है, उसी प्रकार महद् इत्यादि व्यक्त भी प्रधान से अभिन्न होने के कारण उससे अपृथक् हैं। अथवा 'अविवेकि' का तात्पर्य यहाँ पर 'मिलकर कार्य उत्पन्न करना' है। कोई भी तत्त्व अकेला अपना कार्य उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता किन्तु दूसरे के साथ मिलकर ही समर्थ होता है। इसलिए किसी भी एक तत्त्व से किसी कार्य की किसी भी एक प्रकार से उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

ये त्वाहुः-विज्ञानमेव हर्षविषादमोहशब्दाद्यात्मकम्, न पुनरितोऽन्यस्तद्धर्मेति, तान् प्रत्याह—"विषय" इति। विषयः ग्राह्यः, विज्ञानात् बहिरिति यावत्। अतएव "सामान्यं" साधारणम्, घटादिवदनेकैः पुरुषैर्गृहीतमित्यर्थः। विज्ञानाकारत्वे तु असाधारण्याद्विज्ञानानां वृत्तिरूपाणां तेऽप्यसाधारणाः स्युः, विज्ञानं यथा परेण न गृह्यते, परबुद्धेरप्रत्यक्षत्वादित्यभिप्रायः। तथा च नर्तकीभ्रूलताभंगे एकस्मिन् बहूनां प्रतिसन्धानं युक्तम्। अन्यथा तन्न स्यादिति भावः।

अर्थ—जिन विज्ञानवादी बौद्धों का यह कहना है कि विज्ञान ही सुख, दुःख तथा मोह उत्पन्न करने वाले शब्द इत्यादि विषयों का आकार या रूप धारण कर लेता है (इनके आकार का हो जाता है), सुखादि स्वभाव वाले शब्द आदि इससे भिन्न या पृथक् कोई पदार्थ नहीं हैं, उनके उत्तर में कारिका में "विषयः"—यह शब्द आया है, जिसका अर्थ है 'ग्राह्य' अर्थात् विज्ञान से पृथक्, स्वतन्त्र रूप से ग्रहण करने योग्य। इसीलिए उन्हें 'सामान्य' अर्थात् साधारण कहा, जिसका भाव यह हुआ कि वे (एक ही समय में) अनेक पुरुषों से ग्रहण किये जाते हैं। यदि ये शब्द इत्यादि व्यक्त पदार्थ विज्ञान के ही रूप होते तो जैसे 'विज्ञान' मानसिक व्यापार होने के कारण पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के होते हैं, वैसे ही ये शब्द इत्यादि भी व्यक्तिगत होते; अर्थात् जैसे दूसरे व्यक्ति की बुद्धि के प्रत्यक्ष न होने के कारण एक का विज्ञान दूसरे को अज्ञात या अप्रत्यक्ष रहता है, वैसे ही ये शब्दादि पदार्थ भी जिस व्यक्ति के विज्ञान के रूप होते, उसी को प्रत्यक्ष होते। और फिर इस प्रकार सभी पदार्थ

को विज्ञान से पृथक् स्वतन्त्र रूप से ग्राह्य मानने पर ही नर्तकी के एक ही कटाक्ष (जो शब्दादि की तरह ही एक व्यक्त पदार्थ है) का एक साथ ही अनेक पुरुषों को प्रतिसन्धान[2] होना संगत होता है। अन्यथा (कटाक्ष के वैयक्तिक विज्ञान-मात्र होने पर) ऐसा न होना चाहिये—सभी को उसकी प्रतीति न होनी चाहिये।

विशेष—'योगाचार' सम्प्रदाय के बौद्धों का उपयुक्त मत दार्शनिक जगत् में विज्ञानवाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस मत के पोषक होने के कारण ही वे 'विज्ञानवादी' बौद्ध के नाम से अभिहित हुए। उनके इस सिद्धान्त का सूक्ष्म विवरण इस प्रकार होगा। जैसे स्वप्न में बाह्य पदार्थों के अभाव में भी स्वप्न-द्रष्टा पुरुष का विज्ञान (बुद्धि) ही घट, पट, सर्प इत्यादि अनेक ग्राह्य विषयों का रूप धारण करके स्वयं ही उसका ग्राहक या ज्ञाता बनता है, अथवा जैसे जागरण-काल में भी बाह्य (वास्तविक) स्थिति के अभाव में सूर्य-मरीचियों में जल, शुक्ति में रजत (चांदी) अथवा रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है, उसी प्रकार जागरण-काल में प्रतीत होने वाले अन्य घट, पट, हस्ती आदि पदार्थ भी विज्ञान के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। उनके बाहर उनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। यदि कोई यह शंका करे कि जब सभी पदार्थ विज्ञान के ही एकमात्र रूप हैं तो विज्ञान के एक होने पर भी नील, पीत इत्यादि रूप से पदार्थ-वैचित्र्य का आभास क्यों होता है, तो उसके उत्तर में विज्ञानवादियों का यह कहना है कि विज्ञान-गत यह वैचित्र्य व्यक्ति के वासना-गत वैचित्र्य के कारण है। स्वप्न में भी तो स्वप्न-द्रष्टा का

---

१. किञ्च यस्य नानात्वे यस्यैकत्वमवगतं तत्ततोऽत्यन्तं भिन्नं प्रतीतं यथा नानागोव्यक्तिभ्य एकं गोत्वम्, अवगतं च ज्ञाननानात्वेऽपि वस्त्वैक्यमिति तदपि ततो भिन्नं भवितुमर्हतीति; तथा चाह भगवान् पतञ्जलिः—"वस्तुसाम्ये चित्त-भेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः" ४।१५ इति। —विद्वत्तो०।

२. दृष्टस्य पुनरनुसन्धानरूपं स्मरणकल्पं ज्ञानान्तरप्रतिसन्धानम् इति टिप्पण्यां बालरामः। प्रतिसन्धानं प्रत्यभिज्ञानमिति सुषमाकाराः।

एक ही विज्ञान घट, पट, हस्ती आदि विचित्र रूप में प्रतीत होता है। वहाँ तो कोई बाह्य पदार्थ नहीं रहता। इसलिये जैसे स्वप्नकालीन विज्ञानवैचित्र्य पदार्थ-वैचित्र्य पर नहीं अपि तु वासना-वैचित्र्य पर आश्रित होता है, उसी प्रकार जागरणकालीन पदार्थ-वैचित्र्य भी विज्ञान-वैचित्र्य के कारण होता है। यदि यह पूँछा जाय कि विज्ञान-वैचित्र्य ही क्यों होता है तो उसका कारण विज्ञानवादी व्यक्तिगत वासना-वैचित्र्य बताते हैं। यह वासना-वैचित्र्य भी अनादि अविद्या के कारण है।

ज्ञान और बाह्य वस्तुओं का अभेद-साधक एक हेतु विज्ञानवादी यह भी देते हैं कि जिस वस्तु की जिसके साथ नियत रूप से प्राप्ति होती है, वह उससे भिन्न नहीं होती; जैसे एक चन्द्र के साथ नियत रूप से प्राप्त होने वाला द्वितीय चन्द्र उससे भिन्न नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञान के साथ नियत रूप से प्राप्त होने से वस्तु उस ज्ञान से भिन्न नहीं है जैसा ''सर्वदर्शनसंग्रह'' (पृ० ३२) में कहा गया है—''सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः। भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये॥''

विज्ञानवादियों के ये दोनों ही हेतु विचार करने पर बालू की दीवाल की भाँति ढह जाते हैं। इनकी असारता पर बालराम की टिप्पणी[1] द्रष्टव्य है।

''अचेतनम्'' सर्व एव प्रधानबुद्ध्यादयोऽचेतनाः, न तु वैनाशिकवत् चैतन्यं बुद्धेरित्यर्थः।

अर्थ—प्रधान, बुद्धि इत्यादि सभी पदार्थ जड़ हैं, न कि बुद्धि चेतन है, जैसा कि क्षणिकविज्ञानवादी बौद्ध मानते हैं।

---

१. यच्चोक्तं स्वप्नज्ञानवज्जागरितज्ञानमपि निरालम्बनमिति, तदपि न विचारसहं स्वप्नजागरितप्रत्यययोर्बाधाबाधाभ्यां वैधर्म्यात्स्वप्नप्रत्ययदृष्टान्तेन जाग्रत्प्रत्ययस्य निरालम्बनत्वापादनस्याशक्यत्वात्। तथा चाह कृष्णद्वैपायनो भगवान् ''वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'' (ब्र० सू० २।२।२९) इति। यश्च ज्ञानार्थयोः सहोपलम्भनियमस्तेषां भ्रान्तिकारकः, सोऽपि न विचारं सहते। तथाहि—यदि ज्ञानार्थयोः साहित्येनोपलम्भः सहोपलम्भस्तर्हि हेतुरेव विरुद्धः साहित्यस्याभेदविरुद्धभेदव्याप्तत्वेनाभेदे तदनुपपत्तेः। अथैकोपलम्भनियमः, तथापि न, 'सह'शब्दस्यैकत्ववाचकत्वाभावात्। अस्तु वैकत्व-

"प्रसवधर्मि"—प्रसवरूपो धर्मो यः सोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मि। प्रसवधर्मेति वक्तव्ये मत्वर्थीयः प्रसवधर्मस्य नित्ययोगमाख्यातुम्। सरूपविरूपपरिणामाभ्यां न कदाचिदपि वियुज्यते इत्यर्थः।

(प्रसवश्चासौ धर्मश्चेति प्रसवधर्मः,

अर्थ—प्रसवधर्मी, अर्थात् जिसमें 'परिणाम' धर्म (नित्य) विद्यमान रहे। यद्यपि ("धर्मादनिच केवलात्" सूत्र के अनुसार) 'प्रसवधर्म' (प्रसवो धर्मो यस्य तत्[1]) ही रूप प्रयुक्त होना चाहिये था, तथापि यहाँ बहुव्रीहि समास का अर्थ अभिप्रेत न होने से कारिकाकार ने इस शब्द को 'प्रसवश्चासौ धर्मश्चेति प्रसवधर्मः' इस कर्मधारय के बाद मत्वर्थीय 'इनिः' प्रत्यय के योग से बना हुआ माना है ताकि 'प्रसव-धर्म नित्य रूप से जिसमें हो'—ऐसा अर्थ निकल सके; क्योंकि इस पद से कारिकाकार को यहाँ यही अर्थ अभिप्रेत है कि व्यक्त तथा प्रधान सदृश एवं भिन्न परिणामों से कभी भी वियुक्त नहीं रहते।

व्यक्तवृत्तमव्यक्तेऽतिदिशति—तथा प्रधानमिति। यथा व्यक्तं, तथाव्यक्तमित्यर्थः।

अर्थ—कारिकाकाकार व्यक्त के धर्मों का 'तथा प्रधानम्' इन पदों के द्वारा अव्यक्त में भी आरोप करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे व्यक्त इन धर्मों से युक्त है, वैसे ही प्रधान भी।

ताभ्यां वैधर्म्यं पुरुषस्याह—"तद्विपरीतः पुमान्" इति।

वाचकः तथापि किमेकत्वेनोपलम्भः, अहोस्विदेकम् उपलम्भो ज्ञानार्थयोरिति। न तावदाद्यः, विषयस्य बाह्यतया ज्ञानस्य चान्तरतया एकत्वेनोपलम्भासम्भवात्; न द्वितीयः, एकोपलम्भनियमस्योपायोपेयभावहेतुकत्वेनाभेदासाधकत्वात्।

—विद्वत्तो०।

१. डा० रामशङ्कर भट्टाचार्य ने अपने संस्करण के पृ० ६२ पर लिखा है कि "प्रसवधर्म" शब्द का ही प्रयोग अनुवादकों को करना चाहिए; खेद है कि अज्ञ अनुवादकों ने इस पर ध्यान नहीं दिया।" हमें तो लेखक ही 'अज्ञ' प्रतीत होता है। कोई भी प्रसिद्ध अनुवादक या व्याख्याकार 'प्रसवधर्म' से इतर कुछ लिखता हुआ नहीं मिला। इसे पाण्डित्य-प्रदर्शन की सस्ती और ओछी प्रवृत्ति के अतिरिक्त और क्या कहा जाय?

अर्थ—पिछली कारिका में 'त्रिगुण' पद आया हुआ है। वे तीनों गुण कौन हैं और उनका क्या लक्षण है, इसे कहते हैं :—

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥१२॥

अर्थ—सत्त्व इत्यादि गुण सुख-दुःख-मोहात्मक हैं; प्रकाशन, प्रवर्तन (सञ्चालन) तथा नियमन (नियन्त्रण) इनके प्रयोजन या कार्य हैं; तथा ये एक दूसरे के अभिभावक, आश्रय बनने वाले, उत्पादक (परिणाम-सहकारी) एवं सहचारी होते हैं।

'गुणाः इति परार्थाः। 'सत्त्वं लघु प्रकाशकम्—' (का० १३) इत्यत्र च सत्त्वादयः क्रमेण निर्देक्ष्यन्ते। तदनागतावेक्षणेन तन्त्रयुक्त्या वा प्रीत्यादीनां यथासंख्यं वेदितव्यम्।

अर्थ—'गुण' का अर्थ है 'दूसरे के लिए होना'। तीनों गुण 'सत्त्वं लघु प्रकाशकम्....' इत्यादि आगे आने वाली १३ वीं कारिका में सत्त्वादि क्रम से कहे जाएँगे और यह सत्त्वादि-कथन भावी क्रम[1] को देखकर अथवा प्रकृत शास्त्र की युक्ति[2] के अनुसार प्रीति (सुख) इत्यादि के विषय में क्रमशः जानना चाहिए।

विशेष—प्रस्तुत कारिका में गुणों के लक्षण, कार्य (प्रयोजन) तथा कार्य के प्रकार बताये गये हैं परन्तु उनके सत्त्व इत्यादि नामों का निर्देश नहीं किया गया है। ऐसा करना दोष है क्योंकि इस कथन से यह बात निश्चयपूर्वक ज्ञात नहीं होती कि किस गुण का कौन सा लक्षण और कार्य है? इसी

---

१. अनागतावेक्षणेन भाविनोऽपि बुद्ध्या समाकृष्यानुसन्धानं भवतीति न्यायेन इह समाकृष्य प्रीत्यादीनां प्रीत्यात्मक इत्यादीनां लक्षणानां यथासंख्यं लक्ष्यं वेदितव्यमित्यर्थः। —विद्वत्तोषिणीकाराः।

२. तन्त्रयुक्त्या वेति तन्त्रं प्रकृतशास्त्रं तस्य युक्तिः 'सत्त्वादय एवात्र गुणास्ते च यथाक्रमं प्रीत्यादिधर्मकाः' इत्याकारकसङ्केतात्मिका युक्तिः, तया वा सत्त्वादयोऽत्रानुसन्धेया यथासंख्यं च प्रीत्यादिभिः सम्बन्धनीया इत्यर्थः—तन्त्रं कर्ममीमांसाशास्त्रं तस्य युक्तिः स्थानाख्य (क्रमाख्य) प्रमाणरूपा तया वा यथासंख्यमन्वय इत्यर्थो वात्र ज्ञेयः। —विद्वत्तोषिणीकाराः

दोष के परिहार के लिए टीकाकार ने आगे की १२ वीं कारिका में आए हुए सत्त्व इत्यादि नामों का वहीं के क्रम से प्रीत्यात्मक (सुखात्मक) इत्यादि तीनों लक्षणों से सम्बन्ध या अन्वय जोड़ने की बात कही है। इस क्रमिक सम्बन्ध को प्राप्त करने के लिए टीकाकार ने एक और उपाय बताया हैं, वह है 'तन्त्र-युक्ति'। इसके दो अर्थ उदासीन जी ने किए हैं—(१) प्रस्तुत सांख्य-शास्त्र की युक्ति। चूंकि सांख्य में तीन ही गुण माने गए हैं और उनका कथन सत्त्व, रजस् और तमस्—इसी क्रम से होता है, अतः उनके 'प्रीत्यात्मक' इत्यादि लक्षणों को इसी क्रम से लेना चाहिए। (२) कर्म-मीमांसा शास्त्र की 'स्थान' या 'क्रम' नामक युक्ति। मीमांसा शास्त्र की इस युक्ति का तात्पर्य इतना ही है कि जिस क्रम से सम्बन्धियों की प्राप्ति हो, उसी क्रम से उनका अन्वय या सम्बन्ध करना चाहिए। पूर्वकाल में कर्ममीमांसा शास्त्र ने ग्रन्थपंक्तियों के ठीक व्याख्यान करने के अनेक नियम बताए थे जिनका यथावसर सभी शास्त्र वाले प्रयोग करते थे।

एतदुक्तं भवति—प्रीतिः सुखम्, प्रीत्यात्मकः सत्त्वगुणः। अप्रीतिः दुःखम्, अप्रीत्यात्मको रजोगुणः। विषादो मोहः, विषादात्मकस्तमोगुणः इत्यर्थः।

अर्थ—तात्पर्य यह है कि 'प्रीति' का सुख अर्थ होने से सत्त्व सुख-स्वरूप, 'अप्रीति' का दुःख अर्थ होने से रजोगुण दुःख-स्वरूप तथा 'विषाद' का मोह अर्थ होने से तमोगुण मोह-स्वरूप होता है।

ये तु मन्यते "न प्रीतिर्दुःखाभावादतिरिच्यते, एवं दुःखमपि न प्रीत्यभावादन्यदिति", तान् प्रति "आत्म" ग्रहणम्। नेतरेतराभावाः सुखादयः, अपि तु भावाः, आत्मशब्दस्य भावचनत्वात्। प्रीतिरात्मा भावो येषां ते प्रीत्यात्मानः। एवमन्यदपि व्याख्येयम्। भावरूपता चैषामनुभवसिद्धा। परस्पराभावात्मकत्वे तु परस्पराश्रयापत्तेरेकस्याप्यसिद्धेरुभयासिद्धिरिति भावः।

अर्थ—जो लोग यह मानते हैं कि 'सुख दुःख का अभाव-मात्र है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है; इसी प्रकार दुःख भी सुख का अभाव-मात्र है' उनका खण्डन करने के लिए ही कारिका में 'आत्म' शब्द का ग्रहण किया

गया है । सुख, दुःख इत्यादि एक-दूसरे के अभाव नहीं हैं, अपितु ये भावरूप हैं क्योंकि 'आत्मा'[1] शब्द 'भाव' अर्थ का वाचक होता है । वे वस्तुएं प्रीत्यात्मक होंगी जिनका आत्मा या भाव (स्वरूप) प्रीति या सुख है । इसी प्रकार 'अप्रीत्यात्मक' तथा 'विषादात्मक' की भी व्याख्या समझनी चाहिए । इन सुख, दुःख तथा मोह की भाव-रूपता 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इत्यादि अनुभव से ही सिद्ध है । एक दूसरे के अभाव-रूप होने पर तो परस्पर आश्रित होने के कारण एक की असिद्धि होने से दोनों की असिद्धि हो जायगी ।

स्वरूपमेषामुक्त्वा प्रयोजनमाह "प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः" इति । अत्रापि यथासंख्यमेव । रजः प्रवर्तकत्वात् सर्वत्र लघु सत्त्वं प्रवर्तयेत्, यदि तमसा गुरुणा न नियम्येत। तमोनियतं तु क्वचिदेव प्रवर्तयतीति भवति तमो नियमार्थम् ।

अर्थ—इनका स्वरूप बताकर प्रयोजन बताते हैं—ये प्रकाशन, सञ्चालन तथा नियन्त्रण के लिये हैं । यहाँ भी समास के तीनों पदों का अन्वय पूर्व क्रम से ही होना चाहिए । 'रजस्' प्रवर्तक होने के कारण यदि गुरु (भारी) 'तमस्' से नियन्त्रित न हो तो लघु (हल्के) सत्त्व को सर्वत्र चलाता रहे किन्तु 'तमस्' से नियन्त्रित होकर किसी-किसी स्थान में ही चलाता है । इस प्रकार 'तमस्' रजस् के नियन्त्रण के लिए होता है ।

विशेष—उपर्युक्त पंक्तियों में आचार्य वाचस्पति मिश्र ने प्रकृति के तीनों गुणों के स्वरूप और प्रयोजन को बहुत संक्षेप में समझाया है । इनके सम्यक् बोध के लिये कुछ विशेष व्याख्यान अपेक्षित है । सांख्य दर्शन प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति मानता है । 'प्रकृति' शब्द का व्युत्पत्त्यात्मक अर्थ 'प्रकरोतीति प्रकृतिः' अर्थात् 'सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करने वाली शक्ति' है । आधुनिक विज्ञान की पारिभाषिक पदावली में इसे Energy (Creative Potency) कहा जाता है । वेदान्त के शब्दों में इसे भगवान् या परमेश्वर की 'सर्जनात्मिका शक्ति' अथवा 'माया' आदि नामों से अभिहित किया जाता है । सांख्य इस 'प्रकृति' को त्रिगुणात्मक मानता है । प्रकृति

---

१. 'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि' इति विश्वकोषः ।

के तीनों गुण 'सत्त्व', 'रजस्' एवं 'तमस्' कहे जाते हैं। चूँकि सांख्य सत्कार्य-वाद का सिद्धान्त मानता है, इसलिए प्रकृति के ये तीनों गुण उससे उत्पन्न होने वाले बुद्धि, अहंकार, मन, तन्मात्र आदि समस्त परवर्त्ती तत्त्वों में पाये जाते हैं। इनमें बुद्धि, अहङ्कार, मन, तथा इन्द्रियाँ मानसिक जगत् के, तथा तन्मात्र (सूक्ष्म) एवं उनके कार्य आकाश आदि महाभूत भौतिक जगत् के तत्त्व हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्धिक या मानसिक एवं भौतिक, उभयविध जगत् मे प्रकृति के ये तीनों गुण व्याप्त हैं। योगी अरविन्द ने इन गुणों को "Three essential modes of action of Nature" अर्थात् प्रकृति के व्यापार (कार्य) के तीन प्रकार कहा है। ये निस्सन्देह न्यूटन के "Three Laws of Motion" के समकक्ष हैं। न्यूटन ने सामान्यतः मनोवैज्ञानिक अर्थात् इन्द्रियात्म-जगत् के विश्ले-षण के लिए प्रयुक्त हुए इन्हें भौतिक जगत् के लिए भी यथार्थ माना है[1]। न्यूटन ने गति (Motion) की तीनों विधाओं (Laws) या प्रकारों को क्रमशः Inertia, acceleration, और reaction नाम दिया था, जो आधुनिक भौतिक शास्त्र में mass (energy), momentum, तथा Stress कहे जाते हैं।

जब हमारा चित्त अत्यधिक गतिशीलता या चञ्चलता को छोड़ कर अपनी विश्रान्त या शान्त अवस्था को प्राप्त करता है, जब हमें महान् सुख प्राप्त होता है। चित्त की इस अवस्था तथा उससे उत्पन्न हुए सुख, दोनों को ही 'सत्त्व गुण' इस नाम से बोधित किया जाता है। यह भौतिक विज्ञान के Enertia के समकक्ष है। Enertia का तात्पर्य जडता से नहीं, किसी वस्तु की निश्चलता या गतिहीनता से नहीं, अपितु किसी चञ्चल या गतिशील वस्तु के सन्तुलित होने या शान्त अवस्था प्राप्त करने से है।

इसी प्रकार जब हमारा चित्त बहुत चञ्चल रहता है, उसमें प्रतिक्षण विविध विचार या भाव उठते रहते हैं, तब हम क्षुब्ध और दुःखी होते हैं। क्षोभ एवं दुःख के साथ इस चञ्चल या अत्यधिक गतिशील अवस्था का नाम 'रजोगुण' है, जो न्यूटन के acceleration के समकक्ष है।

---

१. द्रष्टव्य, योगी अरविन्द के Essays on the Gita।

फिर जब हमारा चित्त प्रचण्ड काम, क्रोध, लोभ, तथा मोह आदि के भावों से आक्रान्त होता है तो इनसे उसके सहज-सामान्य व्यापारों में अवरोध उत्पन्न होता है जिसे सामान्य भाषा में 'कुछ भी न सूझना' कहा जाता है। इन काम, क्रोधादि भावों के सहित चित्त की इस अवरुद्ध या स्तब्ध अवस्था का नाम 'तमोगुण' है।

(भौतिक जगत् में 'सत्त्व' गुण का कार्य गतिशील वस्तुओं को उनकी सहज-सिद्ध अवस्था में प्रकाशित करना है। 'रजस्' का कार्य वस्तुओं में क्रिया या प्रवृत्ति उत्पन्न करना है, जिससे उनमें वृद्धि, क्षय, विनाश आदि विविध विकार या परिणाम उत्पन्न होते हैं। 'तमस्' गतिशील अथवा क्रियाशील वस्तुओं में गति-क्रिया का निरोध अथवा नियमन करता है। ये तीनों ही गुण एक ही क्रियाशील शक्ति—प्रकृति—के विविध व्यापारों या कार्यों के तीन विशिष्ट प्रकार हैं, अतः इनके पृथक्-पृथक् होने की कल्पना नहीं की जा सकती। जगत् में जब भी और जहाँ भी कोई कार्य या व्यापार होता है, वहाँ ये तीनों ही गुण परस्पर मिलकर कार्य करते हैं। एक समय में एक ही गुण प्रधानतया कार्य करता है, शेष दो उसके कार्य में उसकी सहायता करते हैं।) इसे प्रस्तुत कारिका के 'अन्योन्याभिभव····मिथुनवृत्तयः' तथा अगली के 'प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः' शब्दों के द्वारा प्रकट किया गया है। इसके उदाहरणार्थ बढ़ते हुए किसी वृक्ष को लिया जा सकता है। वृक्ष में जो बाढ़ हो रही है, वह रजस् का परिणाम या कार्य है। किन्तु यदि रजस् का व्यापार ही सब कुछ होता, तो एक तो वृक्ष सदैव बढ़ता ही जाता और उसकी बाढ़ की इयत्ता न होती, तथा दूसरे पूरी बाढ़ पा लेने में उसे तनिक भी देर न लगती। परन्तु ऐसा नहीं होता। वस्तुतः होता यह है कि वृक्ष थोड़ा सा ही बढ़ पाता है कि तुरन्त सत्त्व गुण अपना कार्य आरम्भ कर देता है। वह उसकी बाढ़ की अवस्था में सन्तुलन लाना आरम्भ कर देता है। उसी समय तमस् भी उसकी सहायता करता है और इस प्रकार दोनों मिल कर उसकी वेग-पूर्वक होने वाली बाढ़ में निरोध उत्पन्न कर देते हैं, रुकावट कर देते हैं। पर ज्यों ही वृक्ष की बाढ़ में रुकावट हुई कि त्यों ही सत्त्व गुण रजस् की सहायता के लिए दौड़ पड़ता है और बाढ़ की रुकावट को दूर करने में अपना योग देता है। फलतः वृक्ष फिर बढ़ना आरम्भ कर देता है। फिर बाढ में

निरोध और फिर उस निरोध का परिहार होता है। ये सभी व्यापार एक दूसरे के बाद इतनी तेजी से होते रहते हैं कि वृक्ष में वे पृथक्-पृथक् बड़ी कठिनता से ही द्रष्टव्य हो पाते हैं और वह भी अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षक के लिए। स्थूल दर्शक के लिए तो तीनों गुणों के पृथक्-पृथक् व्यापारों का सामूहिक फल—वृक्ष की नियत अथवा निश्चित रूप से किन्तु मन्द गति से होने वाली बाढ़—ही दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार प्रकृति सदैव-सर्वत्र कार्य करती रहती है।

प्रयोजनमुक्त्वा क्रियामाह—"अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुन-वृत्तयश्च" इति। वृत्तिः क्रिया, सा च प्रत्येकमभिसम्बध्यते। "अन्योऽन्याभिभववृत्तयः"। एषामन्यतमेनार्थवशादुद्भूतेनान्यदभि-भूयते। तथा हि—सत्त्वं रजस्तमसी अभिभूय शान्तामात्मनो वृत्तिं प्रतिलभते, एवं रजः सत्त्वतमसी अभिभूय घोराम्, एवं तमः सत्त्व-रजसी अभिभूय मूढामिति।

अर्थ—गुणों का प्रयोजन (कार्य) बतलाकर अब उसकी प्रक्रिया बताते हैं। ये एक दूसरे के अभिभावक, आश्रय बनने वाले, उत्पादक [परिणाम-सहकारी], तथा सहचारी हैं। 'वृत्ति' का अर्थ क्रिया है और इसका समास के प्रत्येक पद के साथ अन्वय है[1]। 'अन्योऽन्याभिभववृत्तयः' अर्थात् प्रयोजन-[2] वश प्रकट हुए किसी एक के द्वारा दूसरे अभिभूत हो जाते हैं। जैसे 'सत्त्व' रजस् और तमस् को अभिभूत करके ही अपनी शान्त वृत्ति को प्राप्त करता है (अर्थात् सुख इत्यादि रूप से परिणत होता है[3])। इसी प्रकार 'रजस्' सत्त्व

---

१. उपलक्षणं चैतत्, तदादौ श्रूयमाणस्य अन्योऽन्यपदस्यापि प्रत्येकं सम्बन्धो बोध्यः, द्वन्द्वादौ तदन्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते इति न्यायात्। —सुषमाकाराः।

२. अर्थवशादुद्भुतेन धर्माधर्मनिमित्तकसुखादिप्रयोजनबलात् स्वकार्य-जननोन्मुखेन। —विद्वत्तोषिणीकाराः।

३. सुखादिशान्तां वृत्तिं प्रतिलभते प्राप्नोति, सुखादिरूपेण परिणमत इति यावत्। —विद्वत्तोषिणी, पे० १६०।

और तमस् को अभिभूत करके अपनी घोर अर्थात् दुःखात्मक वृत्ति को एवं 'तमस्' सत्त्व और रजस् को अभिभूत करके अपनी मोह या विषाद की वृत्ति को प्राप्त करता है।

विशेष—'अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयः' का व्याख्यान करते हुए तत्त्वकौमुदीकार ने 'तथा हीत्यादि' के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि एक-दूसरे को अभिभूत करने की क्रिया (वृत्ति) का वास्तविक या अन्तिम प्रयोजन सत्त्व इत्यादि गुणों की सुखादि रूप से परिणति ही है जिसमें प्रयोजक या निमित्त तो जीव के धर्म, अधर्म आदि हैं तथा 'अभिभव' क्रिया उस प्रयोजन की सिद्धि में साधन या माध्यम है। इस पारस्परिक अभिभव के द्वारा सत्त्व इत्यादि गुण क्रमशः पहले अपना-अपना प्रकाशन, प्रवर्तन तथा नियमन या नियन्त्रण कार्य करके ही सुखादि रूप से परिणत होते हैं। जैसे धर्म-रूप प्रारम्भ का भोग उपस्थित होने पर सत्त्व प्रबल होकर अन्य दोनों को अभिभूत करके विषय का प्रकाश करते हुए सुखादि रूप से परिणत होगा और इस प्रकार व्यावहारिक पुरुष को अपने पूर्व-कृत धर्म का सुखादि भोग प्राप्त होगा। जो बात 'अभिभव' करने के विषय में सत्य है, वही आश्रय, उत्पादक (परिणाम-सहकारी) तथा सहचारी बनने के विषय में भी सत्य है। इस प्रकार अभिभव इत्यादि क्रिया-रूप होते हुए भी गुणों के वस्तुतः कार्य या प्रयोजन नहीं अपितु प्रयोजन की सिद्धि के प्रकार, उसकी प्रणाली या प्रक्रिया हैं। अतएव उपर्युक्त कारिका में 'वृत्ति' शब्द का वाचस्पति-कृत 'क्रिया' अर्थ उनके व्याख्यान के अनुरोध से प्रक्रिया या प्रकार का ही बोधक है, कार्य या प्रयोजन का नहीं। ऐसा करने में 'प्रयोजन' और 'वृत्ति'—ये दोनों एक ही भाव के द्योतक न होकर भिन्न अर्थों के बोधक होंगे, अन्यथा पुनरुक्ति सी लगती है। इसी दृष्टि से प्रस्तुत संस्करण में 'वृत्ति' का 'प्रकार' अनुवाद किया गया है। डा० झा का भी उपर्युक्त स्थल का अनुवाद इसी दृष्टि से किया गया है :—Having thus described their functions, the author proceeds to describe the 'method' of their operation. (p. 46, para 2). परन्तु जयमंगला, माठरवृत्ति तथा गौडपाद-भाष्य, तीनों ही 'वृत्ति' का अर्थ परिणाम या क्रिया करते हैं और उसे 'अन्योऽन्य' पद के साथ 'अभिभव' 'आश्रय', 'जनन' तथा 'मिथुन' पदों की ही भाँति स्वतन्त्र रूप से जोड़ते हैं।

'अन्योऽन्याश्रयवृत्तयः'। यद्यप्याधाराधेयभावेन नायमर्थो घटते, तथापि यदपेक्षया यस्य क्रिया स तस्याश्रयः। तथा हि—सत्त्वं प्रवृत्तिनियमावाश्रित्य रजस्तमसोः प्रकाशेनोपकरोति, रजः प्रकाशनियमावाश्रित्य प्रवृत्त्या इतरयोः, तमः प्रकाशप्रवृत्ती आश्रित्य नियमेनेतरयोरिति।

अर्थ—(ये गुण) एक-दूसरे के आश्रय बनने वाले हैं। यद्यपि यहाँ 'आधाराधेय सम्बन्ध' अर्थ में 'आश्रय' शब्द का प्रयोग सम्भव नहीं है, तथापि जिसकी क्रिया जिस पर अवलम्बित या निर्भर होती है (अर्थात् जो जिसका सहकारी है), वह उसका आश्रय कहा गया है[1]। जैसे सत्त्व गुण रजस् और तमस् के क्रमशः प्रवर्तन और नियन्त्रण कार्यों के आश्रय या साहाय्य से होने वाले अपने (वस्तु-) 'प्रकाशन' कार्य द्वारा उन दोनों की सहायता करता है (अन्यथा रजस् और तमस् के अभाव में सत्त्व अपने 'प्रकाशन' कार्य में प्रवृत्त नहीं होगा)। इसी प्रकार रजस् गुण सत्त्व और तमस् के क्रमशः प्रकाशन और नियन्त्रण कार्यों की सहायता से होने वाले अपने 'प्रवर्तन' कार्य द्वारा अन्य दोनों (सत्त्व तथा तमस्) की, एवं तमस् गुण सत्त्व और रजस् के क्रमशः प्रकाशन और प्रवर्तन कार्यों के साहाय्य से होने वाले अपने 'नियन्त्रण' कार्य द्वारा अन्य दोनों (सत्त्व और रजस्) की सहायता करता है।

विशेष—'आश्रय' का आधार-रूप मुख्य अर्थ न लेकर 'एक-दूसरे के कार्य में सहकारित्व' रूप गौण अर्थ लेने का कारण यह है कि सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों ही गुण प्रकृति में आश्रित रहते हैं, एक-दूसरे में नहीं। इस पारस्परिक आश्रय द्वारा एक दूसरे के कार्य में सहायक होने का बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त माठरवृत्ति[2] तथा परमार्थ द्वारा चीनी भाषा में अनूदित सुवर्ण-

१. यद्यपि आधारत्वेन आश्रयार्थः मुख्य आश्रयशब्दार्थोऽत्र न घटते सम्भवति, तथापि सहकारित्वरूपो गौण आश्रयार्थोऽत्राभ्युपेय इत्यर्थः।

—विद्वत्तो०, पे० १६०।

२. त्रिदण्डविष्टम्भवदमी वेदितव्या इति। —माठरवृत्ति, पे० २।

सप्तति-शास्त्र[1] में मिलता है। जैसे तिरछे खड़े किये गये तीन दण्डों या खम्भों पर आश्रित घट किसी एक पर नहीं आश्रित रह सकता और घट को अपने-अपने ऊपर सम्हालने के कार्य में तीनों में से प्रत्येक अन्य दोनों की सहायता की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार तीनों गुण भी अपने-अपने कार्य में अन्य दोनों की सहायता की अपेक्षा रखते हैं।

"अन्योऽन्यजननवृत्तयः"। अन्यतमोऽन्यतमं जनयति। जननं च गुणानां सदृशरूपः परिणामः। अत एव न हेतुमत्त्वम्, तत्त्वान्तरस्य हेतोरभावात्। नाप्यनित्यत्वम्, तत्त्वान्तरे लयाभावात्।

अर्थ—तीनों (गुण) एक दूसरे की उत्पत्ति करने वाले हैं अर्थात् तीनों में से प्रत्येक अन्य दोनों की (सहायता की) अपेक्षा रखते हुए परिणाम उत्पन्न करता रहता है। 'जनन' का अर्थ यहाँ गुणों का परिणाम है और वह भी (प्रलयकालीन) स्वरूप-परिणाम या प्रकृति-रूप परिणाम। इसलिए यह परिणाम न तो किसी हेतु से उत्पन्न माना जाता है, क्योंकि जो सत्त्वादि गुण परिणाम उत्पन करते हैं, वे उस सदृश परिणाम से भिन्न नहीं होते; और न वे अनित्य ही हैं क्योंकि अपने से भिन्न किसी तत्त्व में उसका लय भी नहीं होता।

विशेष—'अन्योऽन्याश्रयवृत्तयः' तथा 'अन्योऽन्यजननवृत्तयः' दोनों ही पदों का मुख्यार्थ केवल इतना है कि तीनों गुण एक दूसरे के कार्य में सहकारी बनते हैं। इससे पुनरावृत्ति दोष की आपत्ति होती है। इसलिए कौमुदीकार ने 'सदृश-रूप' परिणाम कहकर यह स्पष्ट किया है कि 'परस्पर-सहकारित्व' अर्थ की दृष्टि से दोनों पदों के अर्थ में अभेद होने पर भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के विषय में कहे जाने से दोनों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। गुणों का प्रथम सहकारित्व उनके अहङ्कार इत्यादि 'विरूप' परिणाम की अवस्था—सृष्टि-अवस्था—के लिए कहा गया है, और द्वितीय सहकारित्व 'सरूप' अर्थात्

---

1. इमे गुणाः परस्पराश्रयाः सर्वकार्यकरणसमर्थाः यथा त्रिदण्डी परस्पराश्रया कुण्डिकादीन् अवष्टभ्नाति।—द्रष्टव्य अय्यास्वामी शास्त्री द्वारा चीनी भाषा से संस्कृत में अनूदित सुवर्ण-सप्तति-शास्त्र, पे० १७।

सत्त्वादि रूप से ही परिणत होने की प्रलयकालीन अवस्था के लिए कहा गया है। इसलिए यहाँ पुनरुक्ति-दोष[1] नहीं है। इस सरूप परिणाम की प्रलयकालीन अवस्था का ही नाम प्रकृति है क्योंकि इस अवस्था में तीनों गुण प्रकृति-रूप या स्वरूप से ही अवस्थित रहते हैं, सृष्टिकालीन बुद्धि, अहङ्कार इत्यादि विकृति या स्व-भिन्न तत्त्व के रूप से नहीं परिणत होते। इस प्रकार जब प्रकृति तथा तीनों गुणों में तादात्म्य या अभेद हुआ तब कारणकार्यभाव कहाँ सिद्ध हुआ? इसीलिए प्रकृति-रूप सरूप परिणाम को अहेतु और नित्य कहा है। यहाँ यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि जब तीनों गुणों तथा उनके प्रकृति-रूप परिणाम में कोई भेद ही नहीं है या दूसरे शब्दों में यों कहें कि जब तीनों गुण प्रलय-काल में किसी नये तत्त्व को उत्पन्न ही नहीं करते, तब उस अवस्था में व्यर्थ का परिणाम मानने से क्या लाभ? इसका संक्षेप में उत्तर यह है कि यदि तीनों गुणों में प्रकृत्यवस्था में कोई परिणाम या क्रिया नहीं मानेंगे तो प्रश्न यह उठेगा कि सृष्टि-काल में उनमें यह परिणामशीलता या सक्रियता कहाँ से आ जायगी? क्योंकि सांख्यों का यह मान्य सिद्धान्त है कि 'जो जिसमें नहीं है, वह उसमें कभी भी नहीं हो सकता; एवं जो जिसमें है, उसका उसमें कभी अभाव नहीं हो सकता' यही कारण है कि दशम कारिका में इन गुणों को 'सक्रिय' कहा गया है जिसका व्याख्यान कौमुदीकार ने 'परिस्पन्दवत्' शब्द के द्वारा किया है।

"अन्योऽन्यमिथुनवृत्तयः"। अन्योऽन्यसहचराः, अविनाभाववृत्तयः इति यावत् 'च' समुच्चये। भवति चाऽत्रागमः—

"अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्रगामिनः।
रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः॥
तमसश्चापि मिथुनं ते सत्त्वरजसी उभे।
उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते।
नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते"॥ इति

(दे० भा० ३।८)

१. 'अन्योऽन्याश्रयवृत्तयः' इत्यनेन विसदृशे परिणामे अन्यतमो गुणोऽन्यतममाश्रयत इत्यभिहितम्, अत्र तु सदृशे परिणामेऽन्यतमो गुणोऽन्यतमं गुणमपेक्षत इत्युक्तमिति न पौनरुक्त्यम्। —विद्वत्तोषिणी, पे० १९१

अर्थ—ये परस्पर मिथुन या युग्म भाव[1] से रहते हैं। अर्थात् एक दूसरे के सहचर या एक दूसरे के अभाव में न रहने वाले होते हैं। कारिका का 'च' पद समुच्चयार्थक है जिसका तात्पर्य यह है कि ये गुण सर्वदा परस्पराभिभावकत्व इत्यादि धर्म से युक्त रहते हैं। इसमें देवीभागवत प्रमाण है :— सभी गुण परस्पर युग्म-भाव से रहते हैं, सभी गुण महत् इत्यादि सभी कार्यों में व्याप्त हैं, रजस् का मिथुन सत्त्व, सत्त्व का मिथुन रजस्, तमस् के भी मिथुन सत्त्व और रजस्, एवं सत्त्व तथा रजस् का मिथुन तमस् कहा गया है। न इन गुणों का आरम्भ है; न संयोग ही है। अर्थात् अनादि होने के कारण इनका संयोग भी अनादि[2] अर्थात् सार्वकालिक है, किसी काल-विशेष में संयोग नहीं होता; एवं सर्वदा संयुक्त रहने के कारण इनका वियोग भी किसी काल में नहीं होता।

विशेष—गौडपाद-भाष्य, माठर-वृत्ति तथा जयमंगला में 'वृत्ति' पद को कौमुदीकार वाचस्पति मिश्र तथा चन्द्रिकाकार नारायण तीर्थ की भाँति 'अभिभव' 'आश्रय' इत्यादि प्रत्येक के अन्त में न जोड़कर इन्हीं पदों की भाँति 'अन्योऽन्य' पद के साथ स्वतन्त्र रूप से अन्वित किया गया है[3]। जयमंगला के अनुसार 'वृत्ति' का अर्थ 'सुखादि रूप से परिणति' तथा 'अन्योऽन्यवृत्तयः' पद का अर्थ 'अन्योऽन्यवृत्तिहेतवः' है, गौडपाद के अनुसार 'परस्पर वर्तमान रहना' है, और माठर-वृत्ति के अनुसार इसका अर्थ 'कार्य' है। वस्तुतः तीनों अर्थ एक ही हैं। 'सुवर्णसप्ततिशास्त्र' के परमार्थ-कृति चीनी भाषानुवाद में भी यही अर्थ किया गया है। इन चारों ही ग्रन्थों में सत्त्व का अपने कार्य के अतिरिक्त यदा-कदा रजस् और तमस् के भी कार्य करना, इसी प्रकार रजस् का स्वकार्य के अतिरिक्त अन्य दोनों के, तथा तमस् का भी स्वकार्य के अतिरिक्त अन्य दोनों के कार्य करना बड़े विशद और विस्तृत ढंग

---

१. यदा स्त्री पुरुषश्चैव मिथुनं च परस्परम्। तथा गुणाः समायान्ति युग्मभावं परस्परम्।

२. संयोगोऽपि न लभ्यो, गुणानामनादित्वेन तत्संयोगस्याप्यनादित्वादित्यर्थः, एवं सर्वदैवान्योऽन्यं संयुक्तत्वाद्वियोगोऽपि एषां नास्तीत्यर्थः।

३. अन्योऽन्याभिभवाः अन्योऽन्याश्रयाः अन्योऽन्यजननाः अन्योऽन्यमिथुनाः अन्योऽन्यवृत्तयश्च। —गौडपादभाष्यं, माठरवृत्तिः।

से समझाए गए हैं। इस ग्रन्थ के अय्यास्वामीशास्त्री-कृत संस्कृत-अनुवाद की पंक्तियाँ इस स्थल में द्रष्टव्य हैं :—"अन्योऽन्यवृत्तीति। इमे त्रयो गुणाः अन्योऽन्यमर्थं कुर्वन्ति। यथा राजकुलस्त्री सुप्रियरूपशीला। अयं सत्त्वगुण उच्यते। एतत्सत्त्वपरिणतं रूपं भर्तबन्धोश्च प्रीतिं करोति। इदं स्वार्थकरणमुच्यते। (सैव) सर्वासां सपत्नीनां शोकं जनयति। इदमन्यार्थकरणमुच्यते। अन्येषां विषादमपि जनयति यथा दास्यादयः सदा तत्परिचर्याखिन्ना मोचनमलभमाना विषादाविष्टचित्ता भवन्ति। इदमुच्यते अन्यार्थजननम्। इदमेव सत्त्वगुणस्य स्वपरार्थकरणमुच्यते। रजः स्वपरार्थं जनयति.......। तमः स्वपरार्थं जनयति............।"

"प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः" इत्युक्तम्, तत्र के ते इत्थम्भूताः कुतश्चेत्यत आह—

अर्थ—ये गुण प्रकाश, प्रवर्तन तथा नियमन के लिए हैं। यह पिछली कारिका में कहा गया है। परन्तु इस प्रकार के प्रयोजन या कार्य जिन गुणों के हैं, उनके क्या नाम हैं एवं किस कारण से वे इस प्रकार के हैं, यह कहते हैं :—

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः, प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥१३॥

अर्थ—सत्त्व हल्का अतएव प्रकाशक, रजस् प्रवृत्तिशील (चञ्चल) अतएव उत्तेजक, एवं तमस् भारी अतएव अवरोधक (नियामक) माना गया है। एक ही प्रयोजन की सिद्धि के लिए तीनों ही प्रदीप के समान मिलकर कार्य करते हैं।

"सत्त्वम्" इति। सत्त्वमेव लघु प्रकाशकमिष्टं सांख्याचार्यैः। तत्र कार्योद्गमने हेतुर्धर्मो लाघवं गौरवप्रतिद्वन्द्वि, यतोऽग्नेरूर्ध्वज्वलनं भवति। तदेव लाघवं कस्यचित्तिर्यग्गमने हेतुर्भवति, यथा वायोः। एवं करणानां वृत्तिपटुत्वहेतुर्लाघवम्, गुरुत्वे हि मन्दानि स्युरिति सत्त्वस्य प्रकाशात्मकत्वमुक्तम्।

अर्थ—सांख्याचार्यों के द्वारा सत्त्व ही हल्का और प्रकाशकारी माना गया है। इनमें लघुता या हल्कापन, जो गुरुता या भारीपन का विरोधी है, वस्तुओं के ऊर्ध्वगमन में कारण बनता है। इसी गुण के कारण अग्नि की ज्वालाएँ ऊपर को उठती हैं, यही हल्कापन किसी-किसी के तिर्यग्गमन (leteral motion) का कारण बनता है जैसे वायु के तिर्यग्गमन का। इसी प्रकार इन्द्रियों की शीघ्र-कार्यकारिता का भी कारण यही हल्कापन होता है, अन्यथा भारी होने पर वे अपने 'विषय-प्रकाशन' कार्य में शीघ्र समर्थ नहीं होंगी। इसी लघुता के कारण सत्त्व को प्रकाशक कहा गया है।

सत्त्वतमसी स्वयमक्रियतया स्वकार्यप्रवृत्तिं प्रत्यवसीदती रजसोपष्टभ्येते—अवसादात् प्रच्याव्य स्वकार्ये उत्साहं प्रयत्नं कार्येते। तदिदमुक्तम्—"उपष्टम्भकम्" इति। कस्मादित्यत उक्तम—"चलम्" इति। तदनेन रजसः प्रवृत्त्यर्थत्वं दर्शितम्।

अर्थ—सत्त्व और तमस् स्वयं प्रवृत्तिशील न होने के कारण अपने प्रकाशन एवं नियमन (नियन्त्रण) आदि कार्यों के उत्पादन में असमर्थ (शिथिल) होने पर रजस् के द्वारा उत्तेजित किए जाते हैं, अर्थात् शैथिल्य-रूप असामर्थ्य से हटाकर अपने-अपने कार्य में प्रयत्नशील या प्रवृत्त किये जाते हैं। इसलिए रजस् 'उपष्टम्भक' या उत्तेजक कहा गया है। उत्तेजक क्यों है, इसी के उत्तर में उसे 'चल' अर्थात् प्रवृत्तशील कहा गया। इसी से सिद्ध है कि रजस् प्रवर्तन के लिए है। [जैसे निरन्तर प्रवृत्तिशील प्रवाह स्वान्तर्गत तृणादि को भी प्रवृत्तिशील बना देता है, उसी प्रकार रजस् भी स्वभावतः स्थिर (अक्रियात्मक) सत्त्व तथा तमस् को भी अपने साथ चलाता रहता है, प्रवृत्तिशील किए रहता है[1]।]

रजस्तु चलतया परितस्त्रैगुण्यं चालयत् गुरुणावृण्वता च तमसा तत्र-तत्र प्रवृत्तिप्रतिबन्धकेन क्वचिदेव प्रवर्त्यते इति ततस्तो व्यावृत्त्या तमो नियामकमुक्तम्—"गुरु वरणकमेव तमः" इति। एवकारः प्रत्येकं भिन्नक्रमः सम्बध्यते, सत्त्वमेव, रज एव, तम एवेति।

---

१. तथा च रजसः चलतया सर्वदा प्रवृत्तिशीलत्वेन प्रवाहस्य तदन्तर्गत-तृणादिचालकत्वमिव रजसोऽपि सत्त्वतमसोः प्रवर्तकत्वं सङ्गतमिति भावः।

—सुषमा, पे० ६६

अर्थ—सदा प्रवृत्तिशील होने के कारण त्रिगुणात्मक इन्द्रिय इत्यादि[1] को सर्वत्र प्रवृत्तिशील करने वाला रजस् भारी और अवरोधक (नियामक) तमस् के द्वारा सभी कार्यों या विषयों में उन्हें प्रवर्तित करने में असमर्थ या अवरुद्ध होने के कारण कुछ[2] ही विषयों में प्रवर्तित कर पाता है। इसीलिये अवशिष्ट विषयों में इन्द्रियादि को प्रवर्तित करने में रजस् के व्यावर्तक या अवरोधक होने के कारण तमस् को 'गुरुवरणकमेव तमः' इस पंक्ति में नियामक या अवरोधक कहा है। 'एव' पद जो ठीक क्रम से नहीं प्रयुक्त हुआ है (क्योंकि इसका अन्वय 'वरणक' पद के साथ नहीं अपितु 'तमः' के साथ है[3]), प्रत्येक के साथ— अर्थात् सत्त्व ही, रजस् ही और तमस् ही, इस प्रकार—अन्वय में आएगा।

ननु एते परस्परविरोधशीला गुणाः सुन्दोपसुन्दवत् परस्परं ध्वंसन्त इत्येव युक्तं प्रागेव तेषामेकक्रियाकर्तृताया इत्यत आह— "प्रदीपवच्चार्थतोवृत्तिः" इति। दृष्टमेतत् यथा वर्तितैलेऽनलविरोधिनी, अथ मिलिते सहानलेन रूपप्रकाशलक्षणं कार्यं कुरुतः। यथा च वातपित्तश्लेष्माणः परस्परविरोधिनः शरीरधारणलक्षणकार्यकारिणः। एवं सत्त्वरजस्तमांसि मिथो विरुद्धान्यप्यनुवर्तस्यन्ति स्वकार्यं करिष्यन्ति च।

अर्थ—परस्पर विरोधी इन तीनों गुणों को, मिलकर कोई कार्य करने के पूर्व ही[4], सुन्द और उपसुन्द नामक राक्षसों की तरह पारस्परिक अभिघात से विनष्ट हो जाना चाहिये; इसके उत्तर में कहते हैं—प्रदीप के समान एक ही प्रयोजन की सिद्धि के लिए ये (मिलकर) कार्य करते हैं, और ऐसा देखने में भी आता है। जैसे अग्नि, बत्ती और तेल का विरोधी है; फिर भी

१. त्रैगुण्यं त्रिगुणात्मकमिन्द्रियादि त्रयो गुणा वा; स्वस्यापि प्रवृत्तिः स्वत एवेति तस्य त्रैगुण्यं प्रति चालकत्वमक्षतमेव। —सुषमा, पे० ९९।

२. क्वचिदेव प्रवर्त्यते घटपटादिरूपविषय एव न तु विप्रकृष्टव्यवहितयोरपि।

३. एवकारः भिन्नक्रमः इति। वरणकपदार्थेन तदर्थान्वयो न अपितु तमः पदार्थेनेत्यर्थः। —सुषमा, पे० ९९।

४. प्रागेव पुरत एवेत्यर्थः। विरुद्धानामन्योऽन्यमेलनमेव तावदसम्भावि, मिलित्वैकार्यानुष्ठानन्तु दूरतो निरस्तमिति भावः। —विद्वत्तो०, पे० ११८।

उसके साथ मिलकर बत्ती और तेल वस्तुओं के रूप या आकार को प्रकाशित करने का कार्य करते हैं; अथवा[1] जैसे परस्पर विरोधी वात, पित्त और कफ शरीर को धारण करने का कार्य करते हैं, इसी प्रकार सत्त्व, रजस् और तमस् भी परस्पर विरोधी होने पर भी परस्पर अनुकूल (मिलकर) रहते हुये अपना कार्य करते हैं।

"अर्थतः" इति। पुरुषार्थतः इति यावत्, तथा च वक्ष्यति—

"पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्" (का० ३१) इति।

अर्थ—'अर्थतः' अर्थात् पुरुष के भोग एवं अपवर्ग रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए (तीनों गुण मिलकर कार्य करते हैं) जैसा कि आगे ३१ वीं कारिका में कहेंगे कि 'करणों के स्वकार्य में प्रवृत्त होने में पुरुषार्थ ही कारण है, अन्य किसी के द्वारा वे स्वकार्य में प्रवर्तित नहीं होते।'

[पीछे ११ वीं कारिका में 'त्रिगुणमविवेकि' कहकर प्रकृति तथा उसके समस्त कार्य (व्यक्त) को त्रिगुणात्मक बताया है और फिर १२ वीं तथा तेरहवीं कारिकाओं में उन गुणों के नाम, रूप तथा प्रयोजन आदि बताये हैं। परन्तु इन गुणों का प्रत्यक्ष तो होता नहीं फिर यह कैसे मानें कि ये गुण वस्तुतः हैं और एक नहीं, अनेक हैं। इसके उत्तर में कहते हैं :—]

अत्र च सुखदुःखमोहाः परस्परविरोधिनः स्वस्वानुरूपाणि सुखदुःख-मोहात्मकान्येव निमित्तानि कल्पयन्ति। तेषां च परस्पर-मभिभाव्याभिभावकभावान्नानात्वम्। तद्यथा-एकैव स्त्री रूपयौवन-कुलशीलसम्पन्ना स्वामिनं सुखाकरोति, तत्कस्य हेतोः? स्वामिनं

---

१. अथोक्तस्थले वर्तितैलयोरनलविरोधित्वेऽपि तयोः परस्परं विरोधाभावेन उक्तगुणत्रयस्य च परस्परमपि विरोधात् सर्वेषामेव परस्परविरोधिनामेकक्रियाकर्तृत्वमुक्तदृष्टान्तेन न साधयितुं शक्यमित्याशङ्क्य प्रदीपवच्चेत्यत्र अनुक्तसमुच्चयार्थकचकारेण सूचितं सर्वांशेन उक्तानुगुणं दृष्टान्तमाह—यथा चेति।

—सुषमा, पे० १००।

वर्तितैलयोः परस्परविरोधाभावात् न निखिलांशे समानमेतदुदाहरणमिति ये प्राहुस्तान् प्रति सर्वांशे परस्परविरोधित्वेन समानमुदाहरणान्तरमाह—यथा चेति।

—विद्वत्तो०, पे० १९९।

प्रति तस्याः सुखरूप समुद्भवात्। सैव स्त्री सपत्नीदुःखाकरोति, तत् कस्य हेतोः? ताः प्रति तस्या दुःखरूपसमुद्भवात्। एवं पुरुषान्तरं तामविन्दमानं सैव मोहयति, तत् कस्य हेतोः? तं प्रति तस्या मोहरूपसमुद्भवात्। अनया च स्त्रिया सर्वे भावा व्याख्याताः।

अर्थ—इन जागतिक पदार्थों में विद्यमान (प्राप्त होने वाले) परस्पर विरोधी सुख, दुःख तथा अज्ञान अपने-अपने प्रादुर्भाव के अनुकूल ही सुखात्मक, दुःखात्मक तथा अज्ञानात्मक कारणों का अनुमान करते हैं। (इन्हीं को १३ वीं कारिका में सत्त्व, रजस् और तमस् का नाम दिया है)। और इन गुणों का अनेकत्व सुखादि के परस्पर अभिभाव्य (अभिभव या तिरोभाव को प्राप्त होने वाला) तथा अभिभावक (अभिभव या तिरोभाव करने वाला) होने के कारण है। [अर्थात् चूंकि कभी सुख उत्कृष्ट होकर अन्य दोनों का तिरोभाव करता है, कभी दुःख और कभी अज्ञान, इसलिए इसके कारण' एक नहीं हो सकते; क्योंकि यदि एक ही गुण सुख, दुःख, मोह का कारण मान लिया जाय तो प्रत्येक वस्तु एक ही समय में एक ही व्यक्ति को सुख-दुःखमोहात्मक अनुभूत होगी। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। इसके विपरीत अनेक होने पर इन सत्त्वादि गुणों के उद्भूत या उत्कृष्ट होने के लिए व्यक्ति के धर्म और अधर्म की अपेक्षा रहने से व्यक्ति और वस्तु दोनों में ही कभी सत्त्व, कभी रजस् और कभी तमस् ही उद्भूत होगा। इस प्रकार वस्तु-विशेष व्यक्ति-विशेष को एक समय में एक ही प्रकार की—सुखात्मक, दुःखात्मक या मोहात्मक—लगेगी, सर्वात्मक नहीं।] जैसे रूप, यौवन, कुल, शील से सम्पन्न वही स्त्री अपने पति को सुख देती है क्योंकि उसके प्रति उस स्त्री का सुखात्मक सत्त्व-रूप ही प्रकट होता है। वही स्त्री सौतों को दुःख देती है क्योंकि उनके प्रति उसका दुःखात्मक रजोरूप ही प्रकट होता है। इसी प्रकार उसे न पा सकने वाले पर पुरुष को वह मूढ़ कर देती है क्योंकि उसके प्रति उस स्त्री का मोहात्मक तमोरूप ही प्रकट होता है। स्त्री-पदार्थ के स्वरूप-व्याख्यान से जगत् के अन्य सभी पदार्थों का स्वरूप स्पष्ट हो गया।

विशेष—उपर्युक्त पंक्तियों का व्याख्यान सुषमाकार के अनुसार किया गया है। डा० झा का अंग्रेजी अनुवाद भी इसी भाव से किया गया है। परन्तु विद्वत्तोषिणीकार ने इनको अन्य-भाव-परक माना है। सुषमाकार ने इस व्याख्यान

का तल्लेख किया है, परन्तु उसका खण्डन-मण्डन कुछ नहीं। विद्वत्तोषिणीकार ने उपर्युक्त पंक्तियों को इस प्रकार से प्रस्तुत किया है:—ननु 'त्रिगुणमविवेकि' इत्यादिना सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वाभिधानात्सर्व एव भावाः सुखदुःखमोहात्मका इत्यायातम्, एतच्च न घटते। नहि यत् यदा यस्य सुखात्मकं तत्तदा तस्य दुःखात्मकं मोहात्मकं चेत्यध्यक्षमीक्षते, यदि सर्व एव भावाः सुखदुःखमोहस्वभावा भवेयुस्तर्हि सर्वेषामविशेषेणैव सर्वेषु भावेषु सर्वात्मकं (सुखदुःखमोहात्मकमिति टिप्पण्याम्) विज्ञानं स्यान्नतूपलभ्यमानं प्रतिवस्तुव्यवस्थितं, तथा चाहुर्विवेचकाः—"यदि पुनः एत एव सुखदुःखादिस्वभावा भवेयुस्ततः स्वरूपत्वाद्धेमन्तेऽपि चन्दनः सुखः स्यात्। न हि चन्दनः कदाचिदचन्दनः। तथा निदाघेष्वपि कुंकुमपङ्कः सुखो भवेत्। न ह्यसौ कदाचिदकुंकुमपङ्क इति। एवं कण्टकः क्रमेलकस्य सुख इति मनुष्यादीनामपि प्राणभृतां सुखः स्यात्, न ह्यसौ कांश्चित्प्रत्येव कण्टक इति। तस्मादसुखादिस्वभावा अपि चन्दनकुंकुमादयो जातिकालावस्थाद्यपेक्षया सुखदुःखादिहेतवो, न तु स्वयं सुखादिस्वभावा इति रमणीयम्"[1] इति। एवं प्राप्ते प्रतिविधत्ते—"अत्र च सुखदुःखमोहा इति"।

तत्र यत् सुखहेतुः तत् सुखात्मकं सत्त्वम्, यद् दुःखहेतुस्तद् दुःखात्मकं रजः, यन्मोहहेतुस्तन्मोहात्मकं तमः।

अर्थ—उपर्युक्त दृष्टान्त में जो पति के सुख का कारण है, वह कान्ता-काय-गत सुखात्मक सत्त्वगुण है (जिसके उत्कट या उद्भूत होकर सुख का कारण बनने के लिये पति का धर्म निमित्त रूप से उपस्थित होता है); जो सपत्नियों के दुःख का कारण है, वह कान्ता-काय-गत दुःखात्मक रजोगुण है) (जिसके उद्भूत होकर दुःख का कारण बनने के लिये सपत्नियों का अधर्म निमित्त रूप से अपेक्षित होता है), एवं जो प्राप्त न करने वाले पर पुरुष के मोह का कारण है, वह कान्ता-काय-गत मोहात्मक तमोगुण है (जिसके उद्भूत होकर मोह का कारण बनने के लिये पर पुरुष का अधर्म निमित्त रूप में अपेक्षित होता है)।

---

१. द्रष्टव्य, ब्रह्मसूत्र अ० ४, पाद २, सू० १ पर वाचस्पतिमिश्र-कृत

सुखप्रकाशलाघवानां त्वेकस्मिन् युगपदुद्भूतावविरोधः, सह दर्शनात्। तस्मात् सुखदुःखमोहैरिव विरोधिभिः, अविरोधिभिः, अविरोधिभिरेकैकगुणवृत्तिभिः सुखप्रकाशलाघवैर्न निमित्तभेदा उन्नीयन्ते । एवं दुःखोपष्टम्भकत्वप्रवर्तकत्वैः, एवं मोहगुरुत्वावरणैः—इति सिद्धं त्रैगुण्यमिति ॥१३॥

अर्थ—सुख, प्रकाशन और हल्कापन—इन तीनों के एक साथ ही एक ही पदार्थ में उद्भूत होने में कोई विरोध नहीं है क्योंकि वे एक साथ ही (सत्त्व में) वर्तमान पाये जाते हैं। इसलिये जैसे परस्पर विरोधी (जो एक ही वस्तु के विषय में एक ही काल में एक ही पुरुष में नहीं उत्पन्न होते) सुख, दुःख तथा मोह के अनुभवों से सत्त्व, रजस् तथा तमस्—इन परस्पर-भिन्न या अनेक निमित्तों का अनुमान होता है, वैसे ही एक गुण में रहने वाले परस्पर अविरोधी- सुख, प्रकाश और लाघव धर्मों से निमित्त रूप में भिन्न-भिन्न गुणों का अनुमान नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार दुःख, उत्तेजकत्व तथा प्रवर्तकत्व (चालकत्व) से एवं मोह (अज्ञान), गुरुत्व तथा नियामकत्व से भी भिन्न-भिन्न गुणों का अनुमान नहीं किया जा सकता। इसलिये तीन ही गुण सिद्ध होते हैं (अधिक नहीं)।

स्यादेतत्—अनुभूयमानेषु पृथिव्यादिष्वनुभवसिद्धा भवन्त्वविवेकित्वादयः। ये पुनः सत्त्वादयो नानुभवपथमधिरोहन्ति, तेषां कुतस्त्यमविवेकित्वं विषयत्वमचेतनत्वं प्रसवधर्मित्वं च? इत्यत आह—"अविवेक्यादेः" इति।

अर्थ—प्रत्यक्ष होने वाले पृथ्वी इत्यादि स्थूल पदार्थों में अनुभव-गम्य अविवेकित्व इत्यादि धर्मों की सत्ता तो मान भी लीं जा सकती है परन्तु प्रत्यक्ष न होने वाले सत्त्वाद्यात्मक अव्यक्त प्रधान तथा व्यक्त (किन्तु सूक्ष्म) बुद्ध्यादि पदार्थों में अविवेकित्व, विषयकत्व, सामान्यत्व अचेतनत्व, परिणामित्व आदि धर्मों की सत्ता कैसे मानी जा सकती है? इसके उत्तर में "अविवेक्यादेः सिद्धिः" इत्यादि अगली कारिका कही गई है।

विशेष—मूल के "सत्त्वादयः" पद से प्रत्यक्ष न होने वाले 'अव्यक्त', 'महत्', 'अहङ्कार' तथा 'तन्मात्र'—इन सभी का ग्रहण किया गया है, जैसा कि बालराम ने विद्वत्तोषिणी में, (पे० २०५ पर) स्पष्ट किया है :—

'सत्त्वादयः इत्यत्र सत्त्वशब्देन सत्त्वादिगुणत्रयसाम्यावस्थारूपं प्रधानं ग्राह्यम्, आदिशब्देन च महदादयो ग्राह्याः'। सुषमाकार ने भी (पे० १०२ पर) 'सत्त्व-शब्देन सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्थात्मकं प्रधानं बोध्यम्। आदिना महत्तत्त्वाहङ्काराादिपंचतन्मात्रान्तानां परामर्शः'।

अविवेक्यादेः[1] सिद्धिः त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात्।
कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥१४॥

अर्थ—(अव्यक्त इत्यादि सूक्ष्म पदार्थों में भी) अविवेकित्व इत्यादि धर्मों की सत्ता सिद्ध होती है क्योंकि ये त्रिगुणात्मक हैं और इसके अभाव में अव्यक्त आदि पदार्थों में तीनों गुणों का अभाव हो जायगा। और कार्य के कारण-गुणों से ही युक्त होने से (इन अविवेकित्व आदि धर्मों के आश्रय-भूत) अव्यक्त की भी सत्ता सिद्ध होती है।

विशेष—भाव यह है कि महत्तत्त्व से लेकर पंचमहाभूतात्मक जगत् तक सभी पदार्थ सुख-दुःख-मोहात्मक दिखाई पड़ते हैं। यह गुण या धर्म इनके मूल कारण से ही इनमें आया होगा क्योंकि जो गुण कारण में नहीं होंगे, वे कार्य में कहाँ से आ टपकेंगे। यही मूल कारण 'अव्यक्त' के नाम से अभिहित होता है। इस अव्यक्त की सत्ता की सिद्धि इस प्रसंग में इसलिये आवश्यक हो गई है कि जब तक आश्रय-रूप से अव्यक्त नहीं सिद्ध होता, तब तक उसमें अविवेकित्व इत्यादि धर्मों की सिद्धि का प्रश्न ही कहाँ उठता है, और प्रस्तुत कारिका की प्रथम पंक्ति अव्यक्त इत्यादि सूक्ष्म पदार्थों में इन्हीं को सिद्ध करने के लिये रक्खी गई है।

अविवेकित्वमविवेकि। यथा "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" (पा० सू० १।४।२२) इत्यत्र द्वित्वैकत्वयोरिति, अन्यथा द्व्येकेष्विति स्यात्।

---

१. अविवेक्यादिः सिद्धः—युक्ति०। अपनी युक्तिदीपिका के संस्करण में पुलिनबिहारी चक्रवर्ती ने 'अविवेक्यादेः सिद्धिस्त्रैगुण्यात् तद्विपर्ययेऽभावात्' इत्यादि को वाचस्पति द्वारा स्वीकृत पाठ बताया है, पर यह सर्वथा ठीक नहीं है। क्योंकि प्रथमार्ध पाठ के वाचस्पति मिश्र के अनुसार होने पर भी द्वितीयार्ध तदनुसारी नहीं है, जैसा कि तत्त्वकौमुदी की पंक्तियों से स्पष्ट है। 'तद्विपर्ययाभावात्' ही पाठ उन्हें मान्य है।

अर्थ—'अविवेकी' पद से यहाँ 'अविवेकित्व' का ग्रहण करना चाहिये, जैसे पाणिनि के "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" सूत्र में द्वि और एक का अर्थ क्रमशः द्वित्व और एकत्व है; और इस प्रकार भाव-प्रधान अर्थ लेने पर ही 'द्व्येकयोः' में द्विवचन का प्रयोग सम्भव हुआ है, अन्यथा 'द्वि' तथा 'एक' शब्दों के अर्थ में बहुत्व (त्रित्व) आने से 'बहुषु बहुवचनम्' के सूत्र के अनुसार 'द्व्येकेषु' ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग ही होता।

कुतः पुनरविवेकित्वादेः सिद्धिरित्यत आह—"त्रैगुण्यात्" इति। 'यद्यत् सुखदुःखमोहात्मकं तत्तदविवेकित्वादियोगि, यथेदमनुभूयमानं व्यक्तम्"—इति स्फुटत्वादन्वयी नोक्तः।

अर्थ—(अव्यक्त इत्यादि अप्रत्यक्ष पदार्थों में) अविवेकित्व इत्यादि धर्मों की सिद्धि किस हेतु से होती है? इसके उत्तर में कहा—त्रिगुणात्मक होने से। 'जो-जो पदार्थ त्रिगुणात्मक होंगे वे-वे अविवेकित्व इत्यादि धर्मों से युक्त होंगे, जैसे प्रत्यक्ष होने वाले ये (त्रिगुणात्मक) व्यक्त पदार्थ (अविवेकित्व इत्यादि से युक्त देखे जाते हैं)। स्पष्ट होने के कारण यह अन्वय-व्याप्ति शब्दों द्वारा नहीं कही गई।

व्यतिरेकमाह—"तद्विपर्ययाभावात्" इति। अविवेक्यादिविपर्यये पुरुषे त्रैगुण्याभावात्। अथवा व्यक्ताव्यक्ते पक्षीकृत्यान्वयाभावेनावीत एव हेतुस्त्रैगुण्यादिति वक्तव्यः।

अर्थ—अब व्यतिरेक-व्याप्ति कहते हैं—'उनके अभाव में अभाव होने से'। अर्थात् जहाँ अविवेकित्व इत्यादि का अभाव होगा, वहाँ तीनों गुणों का भी अभाव हो जायगा, जैसे 'पुरुष' में (अविवेकित्व आदि का अभाव होने से त्रिगुणत्व का भी अभाव है)। अथवा[1] यह कहना चाहिये कि व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों को पक्ष मान लेने पर (उदाहरण के अभाव के कारण) अन्वय-व्याप्ति का अभाव होने से 'त्रैगुण्यात्' पद के द्वारा व्यतिरेक-व्याप्ति ही दी गई है।

---

१. यदा स्थूलेषु भावेषु अविवेकित्वत्रिगुणत्वे सिद्धवत् कृत्वातिन्द्रियं प्रधानादिकमेव पक्षीक्रियते, तदा त्रैगुण्यादिति हेतुरन्वय्यपि सम्भवति। यदा तु सकलमेव व्यक्ताव्यक्तरूपं तत्त्वं पक्षीक्रियते, तदा पक्षातिरिक्तान्वयसहचारोदाहरणस्थलाभावेन व्यतिरेक्येव हेतुस्त्रैगुण्यादित्याशयेनाह—'अथवा' इति।

—विद्वत्तो०, पे० २०६।

स्यादेतत्—अव्यक्तसिद्धौ सत्यां तस्याविवेकित्वादयो धर्माः सिध्यन्ति, अव्यक्तमेव त्वद्यापि न सिध्यति, तत्कथमविवेकित्वादिसिद्धिरत आह—"कारणगुणात्मकत्वात्" इति ।

अयमभिसन्धिः—कार्यं हि कारणगुणात्मकं दृष्टम्, यथा तन्त्वादिगुणात्मकं पटादि । तथा महदादिलक्षणेनापि कार्येण सुखदुःखमोहरूपेण स्वकारणं सुखदुःखमोहात्मकं प्रधानमव्यक्तं सिद्धं भवति ।

अर्थ—अव्यक्त के सिद्ध होने पर ही उसके अविवेकित्व इत्यादि धर्म उसमें सिद्ध हो सकते हैं परन्तु अभी तक अव्यक्त ही सिद्ध नहीं हुआ तो उसमें अविवेकित्व इत्यादि कैसे सिद्ध हो सकते है ? इसके उत्तर में कहते हैं—कार्य के कारण-गुणों से ही युक्त होने के कारण अव्यक्त भी सिद्ध होता है । इसका अभिप्राय यह है कि कार्य कारण-गुणों से ही युक्त देखा जाता है, जैसे पट आदि कार्य स्वकारण-भूत तन्तुओं के गुणों से युक्त । उसी प्रकार सुखदुःख-मोहात्मक महत्तत्व आदि कार्यो से सुखदुःखमोहात्मक (त्रिगुणात्मक) अव्यक्त उनका कारण सिद्ध होता है ।

स्यादेतत्—'व्यक्तात् व्यक्तमुत्पद्यते' इतिकणभक्षाक्षचरणतनयाः । परमाणवो हि व्यक्ताः, तेभ्यो द्व्यणुकादिक्रमेण पृथिव्यादिलक्षणं कार्यं व्यक्तमारभ्यते । पृथिव्यादिषु च कारणगुणक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिः । तस्मात् व्यक्तात् व्यक्तस्य तद्गुणस्य चोत्पत्तेः कृतमदृष्टचरेणाव्यक्तेनेत्यत आह—'भेदानां परिमाणात्' इत्यादि ।

अर्थ—परन्तु वैशेपिकों तथा नैयायिकों का मत है कि व्यक्त से ही व्यक्त की उत्पति होती है । परमाणु व्यक्त पदार्थ हैं । उनसे द्वयणुक, त्र्यणुक इत्यादि के क्रम से पृथ्वी, जल इत्यादि व्यक्त कार्य उत्पन्न होते हैं और पृथ्वी इत्यादि में कारण-गुणों के क्रम से ही रूप इत्यादि की भी उत्पत्ति होती है । इसलिए व्यक्त से ही व्यक्त तथा उसके गुणों की उत्पत्ति सङ्गत होने से सर्वथा अप्रामाणिक अव्यक्त को क्यों माना जाय ? इसके उत्तर में 'भेदानां परिमाणात्' इत्यादि अग्रिम कारिका कही गई है ।

भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥१५॥

कारणमस्त्यव्यक्तम्, प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥१६॥

अर्थ—महदादि कार्यों के (१) परिमित होने, (२) कारण के सदृश होने, (३) कारण की शक्ति से उत्पन्न होने, (४) कारण से ही आविर्भूत होने, तथा (५) उसी में तिरोभूत होने से सब का एक कारण 'अव्यक्त' अवश्य है, जो अपने तीनों गुणों के स्वरूप से, एवं एक-एक गुण के प्राधान्य से उत्पन्न अनेकत्व के कारण जल की तरह विविध परिणामों के योग से तीनों के मिश्रित रूप से भी परिणत होता (कार्य करता) रहता है।

भेदानां[1]—विशेषाणां महदादीनां भूम्यन्तानां कार्याणां—कारणं मूलकारणमस्त्यव्यक्तम् । कुतः ? "कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य" । कारणे सत् कार्यमिति स्थितम् । तथा च यथा कूर्मशरीरे सन्त्येवाङ्गानि निःसरन्ति विभज्यन्ते—'इदं कूर्मशरीरं, एतान्येतस्याङ्गानि'—इति, एवं निविशमानानि तस्मिन् अव्यक्तीभवन्ति; एवं कारणान्मृत्पिण्डाद्धेमपिण्डाद्वा कार्याणि घटमुकुटादीनि सन्त्येवाऽऽविर्भवन्ति विभज्यन्ते । सन्त्येव पृथिव्यादीनि कारणात्तन्मात्रादाविर्भवन्ति विभज्यन्ते; सन्त्येव च तन्मात्राण्यहङ्कारात् कारणात्, सन्नेवाहङ्कारः कारणान्महतः, सन्नेव च महान् परमाव्यक्तात् । सोऽयं कारणात् परमाव्यक्तात् साक्षात् पारम्पर्येणान्वितस्य विश्वस्य कार्यस्य विभागः ।

अर्थ—महत्तत्व से लेकर भूमि-पर्यन्त कार्यों का कारण अर्थात् मूल कारण अव्यक्त है। क्यों ? (सृष्टि-काल में) 'कारण से ही कार्य के आविर्भूत होने तथा (संहार-काल में) उसी में तिरोभूत होने के कारण'। यह सिद्ध हो चुका है कि कार्य आविर्भूत होने के पूर्व कारण में विद्यमान (सत्) रहता है, और ऐसा होने पर जैसे कूर्मशरीर में विद्यमान अङ्ग बाहर निकलने पर 'यह कूर्म का शरीर है और ये इसके अङ्ग हैं' इस प्रकार पृथक् प्रतीत होते हैं तथा उसमें प्रविष्ट होने पर फिर अव्यक्त या गुप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार कारणभूत मृत्पिण्ड या सुवर्ण-पिण्ड में विद्यमान घट, मुकुट इत्यादि कार्य उनसे

---

१. भिद्यन्ते परस्परं व्यावृत्ताः प्रतीयन्ते इति भेदाः कार्याणि महदादीनि ।
—विद्वत्तो०, पे० २०८ ।

आविर्भूत या प्रकट होने पर पृथक् प्रतीत होते हैं, और सत् ही पृथिवी इत्यादि कार्य स्वकारण तन्मात्र से प्रकट होने पर पृथक् प्रतीत होते हैं, एवं सत् ही तन्मात्र स्वकारण अहंकार से, सत् ही अहङ्कार स्वकारण महत्तत्त्व से, तथा सत् ही महत्तत्त्व परम अव्यक्त से आविर्भूत होने पर पृथक् प्रतीत होते हैं। परम अव्यक्त रूप कारण से साक्षात्[1] एवं परम्परया सम्बद्ध समस्त कार्यसमूह का यही विभाग है।

प्रतिसर्गे तु मृत्पिण्डं सुवर्णपिण्डं वा घटमुकुटादयो विशन्तोऽव्यक्तीभवन्ति। तत्कारणरूपमेवानभिव्यक्तं कार्यमपेक्ष्याव्यक्तं भवति। एवं पृथिव्यादयस्तन्मात्राणि विशन्तः स्वापेक्षया तन्मात्राण्यव्यक्तयन्ति। एवं तन्मात्राण्यहंकारं विशन्त्यहङ्कारमव्यक्तयन्ति, एवमहङ्कारो महान्तमाविशन् महान्तमव्यक्तयति, महान् प्रकृतिं स्वकारणं विशन् प्रकृतिमव्यक्तयति। प्रकृतेस्तु न क्वचिन्निवेश इति सा सर्वकार्याणामव्यक्तमेव। सोऽयमविभागः प्रकृतौ, वैश्वरूप्यस्य नानारूपस्य कार्यस्य, स्वार्थिकः ष्यञ्। तस्मात् कारणे कार्यस्य सत एव विभागाविभागाभ्यामव्यक्तं कारणमस्ति।

अर्थ—इसके विपरीत जैसे घट, मुकुट इत्यादि (टूटने पर) मृत्पिण्ड या सुवर्ण-पिण्ड में मिलकर अव्यक्त (गुप्त या तिरोहित) हो जाते हैं और इस अव्यक्त हुए कार्य की दृष्टि से ही उसका कारण (मृत्पिण्ड आदि) अव्यक्त[2] होता है, इसी प्रकार प्रलय-काल में तन्मात्रों में लीन होने वाले पृथिवी इत्यादि 'भूत' अपनी अपेक्षा तन्मात्रों को अव्यक्त[3] सिद्ध करते हैं। उसी प्रकार अहङ्कार में लीन होने वाले तन्मात्र उसको अव्यक्त (सिद्ध) करते हैं। एवं महत्तत्त्व में लीन होने वाला अहङ्कार उसको अव्यक्त सिद्ध

१. साक्षादिति महत्तत्त्वमभिप्रेत्य, तदितरकार्याभिप्रायेण पारम्पर्येति।
—सुषमा०, पे० १०५

२. यत्तु संहारे स्वस्वकारणे तिरोभूतं सत्कार्यमनभिव्यक्तं भवत्यतस्तादृगनभिव्यक्तं कार्यमपेक्ष्यैव तत्तत्कारणमव्यक्तमित्युच्यते न तु प्रधानवन्मुख्यमव्यक्तत्वमादायेत्यर्थः।
—विद्वत्तो०, पे० २१०।

३. स्वीयानभिव्यक्ततावस्थापेक्षया तन्मात्राण्यक्तानि कुर्वन्तीत्यर्थः।
—विद्वत्तो०, पे० २१०।

करता है। और अपने कारण 'प्रकृति' में लीन होने वाला महत् तत्त्व उसको अव्यक्त (सिद्ध) करता है। प्रकृति का अन्य किसी में लय या तिरोभाव होता ही नहीं, इसलिए वह सभी कार्यों का परम अव्यक्त (मूल कारण) है। यही अनेक-रूप कार्यों का प्रकृति में लय है। "वैश्वरूप्य" शब्द 'विश्वरूप' शब्द से अपने ही अर्थ अर्थात् 'विविध' या 'अनेक' अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय लगाने से बना है। इस प्रकार कारण से सत् कार्य के आविर्भाव तथा कारण में उसके तिरोभाव या लय से 'अव्यक्त' (प्रकृति) परम कारण सिद्ध होता है।

इतश्चाव्यक्तमस्तीत्याह—"शक्तितः प्रवृत्तेश्च" इति। कारणशक्तितः कार्यं प्रवर्तत इति सिद्धम्, अशक्तात् कारणात् कार्यस्यानुत्पत्तेः। शक्तिश्च कारणगता न कार्यस्याव्यक्तत्वादन्या, न हि सत्कार्यपक्षे कार्यस्याव्यक्तताया अन्यस्यां शक्तौ प्रमाणमस्ति। अयमेव हि सिकताभ्यस्तिलानां तैलोपादानानां भेदो यदेतेष्वेव तैलमस्त्यनागतावस्थं, न सिकतास्विति।

अर्थ—इस (अन्य) हेतु से भी 'अव्यक्त' महत् आदि कार्यों का मूल कारण सिद्ध होता है, यह कहते हैं :—[1] 'शक्तितः प्रवृत्तेश्च' अर्थात् शक्ति से कार्य के उत्पन्न होने के कारण भी 'अव्यक्त' मूल कारण सिद्ध होता है। यह तो पूर्व ही सिद्ध हो चुका है कि कारण की शक्ति से कार्य उत्पन्न होता है, क्योंकि असमर्थ कारण से कार्य की उत्पत्ति कभी नहीं होती और कारण में स्थित शक्ति उसमे कार्य के अव्यक्त रूप से रहने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है क्योंकि कारण में कार्य को सत् मानने पर कार्य की अव्यक्तता से भिन्न किसी कारण-शक्ति को मानने में कोई प्रमाण ही नहीं है। तैल के कारणभूत (उपादान-भूत) तिलों की बालुका से यही विशिष्टता है कि इन्हीं (तिलों) में अव्यक्त (गुप्त) रूप से तैल है, बालुका में नहीं।

विशेष—ऊपर दिये गए हेतु का पूर्ण रूप[1] यह होगा। जैसे घट, पट, तैल आदि सभी कार्य विशिष्ट शक्तियों से उत्पन्न होते हैं, वैसे ही महत् तत्त्व

---

१. 'महत्तत्त्वादिकं शक्तिरूपाव्यक्तावस्थाजन्यं कार्यत्वात् घटवत्' इति अनुमानेन अव्यक्तावस्थारूपशक्तिसिद्धौ 'सा शक्तिः क्वचिदाश्रिता शक्तित्वात् (घटोत्पादकशक्तिवत्)' इति रीत्या तादृशशक्त्याश्रयतया प्रधानसिद्धिरितिभावः। —सुषमा, पे० १०२।

इत्यादि कार्य भी किसी शक्ति-विशेष से उत्पन्न होते होगे। एवं जैसे घट, पट, तेल आदि को उत्पन्न करने वाली शक्तियों के आश्रय मृत्पिण्ड, तन्तु तथा तिल इत्यादि होते हैं जो उनके कारण कहे जाते हैं, उसी प्रकार महत् तत्त्व आदि को उत्पन्न करने वाली शक्ति का भी अवश्य ही कोई तत्त्व आश्रय होगा जो महत् आदि का कारण होगा। यही तत्त्व अव्यक्त या प्रकृति कहा जाता है।

स्यादेतत्—शक्तितः प्रवृत्तिः कारणकार्यविभागाविभागौ च महत एव परमाव्यक्तत्वं साधयिष्यतः, कृतं ततः परेणाव्यक्तेनेत्यत आह-"परिमाणात्" इति। परिमितत्वात्, अव्यापित्वादिति यावत्। विवादाध्यासिता महदादिभेदा अव्यक्तकारणवन्तः, परिमितत्वात् घटादिवत्। घटादयो हि परिमिता मृदाद्यव्यक्तकारणका दृष्टाः। उक्तमेतद्यथा कार्यस्याव्यक्तवस्था कारणमेवेति यन्महतः कारणं तत् परमाव्यक्तम्, ततः परतराव्यक्तकल्पनायां प्रमाणाभावात्।

अर्थ—कारण-शक्ति से कार्य के उत्पन्न होने तथा कारण से कार्य के आविर्भाव एवं उसी में उसके तिरोभाव (लय) होने से कारण की परमाव्यक्तता ही सिद्ध होती है जो कि (प्रधान या प्रकृति ही में है, यह न सिद्ध होने से) महत् तत्त्व में भी मानी जा सकती है। फिर महत् तत्त्व से भिन्न प्रकृति नामक अव्यक्त मानने से क्या लाभ? इसके उत्तर में कहते हैं:— 'परिमाणात्' अर्थात् महत् आदि कार्यों के परिमित या अव्यापी[1] (परिच्छिन्न) होने के कारण'। परिच्छिन्न होने के कारण विवाद-ग्रस्त महत् इत्यादि कार्यों का 'अव्यक्त' (प्रकृति) रूप कारण अवश्य होगा, जैसे परिच्छिन्न घट इत्यादि का उनकी अपेक्षा अव्यक्त मृत्पिण्ड इत्यादि कारण देखा जाता है। कार्य की अव्यक्तावस्था ही कारण है, यह तो पहले ही कहा जा चुका है। इसलिये जो महत् तत्त्व का कारण है, वह परम अव्यक्त है क्योंकि उससे भी पर अव्यक्त की कल्पना में कोई प्रमाण[2] नहीं है। [परम अव्यक्त

---

१. निखिलं परिणामिनं न व्याप्नोति इति अव्यापी, तस्य भावः तत्त्वं (अव्यापित्वं), तस्मादित्यर्थः। —विद्वत्तो०, पृ० २१२

२. ननु प्रधानमपि यत्किञ्चिदव्यक्तकारणकं भवितुमर्हति अव्यक्तत्वान्महदादिवदित्यनुमानेनान्यत्परतरमव्यक्तं कुतो न कल्प्यत इत्याशङ्क्याह्यानु-

से परतर अव्यक्त में भी पूर्ववत् अनुमान प्रमाण मानने से यह दोष होगा कि जहाँ महत् आदि कार्य अव्यापी हैं, वहाँ अव्यक्त अव्यापी या परिच्छिन्न नहीं है ।]

इतश्च विवादाध्यासिता भेदाः अव्यक्तकारणवन्तः, "समन्वयात्। भिन्नानां समानरूपता समन्वयः। सुखदुःखमोहसमन्विता हि बुद्ध्यादयोऽध्यवसायादिलक्षणाः प्रतीयन्ते। यानि च यद्रूपसमनुगतानि, तानि तत्स्वभावाव्यक्तकारणकानि, यथा मृद्धेमपिण्डसमनुगता घटमुकुटादयो मृद्धेमपिण्डाव्यक्तकारणका इति कारणमस्त्यव्यक्तं भेदानामिति सिद्धम्।

अर्थ—महत् तत्त्व आदि विवाद-ग्रस्त कार्यों का अव्यक्त कारण है, इसमें 'समन्वय' भी एक हेतु है। 'समन्वय' का अर्थ है—विभिन्न पदार्थों की अनुरूपता या सदृशता। निश्चय-स्वरूप बुद्धि इत्यादि सुखदुःखमोहात्मक प्रतीत होते हैं। जो वस्तुएँ जिसके सदृश होती हैं, उनका कारण उसी स्वभाव वाली (उनकी अपेक्षा) अव्यक्त (सूक्ष्म) वस्तुयें होती हैं। जैसे मिट्टी और सोने के पिण्ड में समवेत घट, मुकुट इत्यादि के कारण उनके अव्यक्त (सूक्ष्म) रूप मिट्टी और सोने के पिण्ड ही होते हैं। अतएव यह सिद्ध है कि समस्त कार्यों का 'अव्यक्त' ही कारण होता है।

अव्यक्तं साधयित्वा तस्य प्रवृत्तिप्रकारमाह-"प्रवर्तते त्रिगुणतः" इति। प्रतिसर्गावस्थायां सत्त्वं रजस्तमश्च सदृशपरिणामानि भवन्ति। परिणामस्वभावा हि गुणा नापरिणम्य क्षणमप्यवतिष्ठन्ते। तस्मात् सत्त्वं सत्त्वरूपतया, तमस्तमोरूपतया प्रतिसर्गावस्थायामपि प्रवर्तते। तदिदमुक्तं—"त्रिगुणतः" इति।

अर्थ—अव्यक्त की सत्ता सिद्ध करके अब उसके कार्य या परिणाम की प्रणाली कहते हैं—'प्रवर्तते त्रिगुणतः' अर्थात् यह अव्यक्त तीनों गुणों के ही रूप से परिणत होता है। प्रलय-काल में सत्त्व, रजस् तथा तमस् सदृश अर्थात् स्वीय रूप से ही परिणत होते हैं क्योंकि स्वभाव से सदा परिणामी

मानस्याव्यापित्वरूपोपाधिग्रस्तत्वेनाप्रमाणत्वादित्यभिप्रेत्य समाधत्ते—"ततः परात्-राव्यक्तकल्पनायां प्रमाणाभावात्" इति। —विद्वत्तो०, पे० २१४।

गुण बिना परिणत हुए तो क्षण भर भी नहीं रह सकते। इसलिए प्रलय में भी सत्त्व सत्त्वरूप से, रजस् रजोरूप से एवं तमस् तमोरूप से परिणत होता रहता है। इसी परिणाम के लिए कारिकाकार ने कहा कि 'त्रिगुणतः' अर्थात् अव्यक्त तीनों गुणों के रूप से परिणत होता रहता है।

प्रवृत्त्यन्तरमाह—"समुदयाच्च" इति। समेत्य उदयः 'समुदयः'-समवायः। समुदयश्च गुणानां न गुणप्रधानभावमन्तरेण सम्भवति। न च गुणप्रधानभावो वैषम्यं विना, न च वैषम्यमुपमर्द्योपमर्दकभावादृते, इति महदादिभावेन प्रवृत्तिर्द्वितीया।

अर्थ—अब दूसरे प्रकार का [अर्थात् सृष्टि-रूप] कार्य कहते हैं—'**समुदयाच्च**' अर्थात् यह अव्यक्त तीनों गुणों के मिश्रित रूप से भी कार्य करता रहता है। 'समुदय' का अर्थ है—'समेत्य उदयः' अर्थात् सम्मिश्रित रूप से आविर्भाव अथवा तीनों का समवाय[1]। परन्तु गुणों का सम्मिश्रण उनके गुण-प्रधान या अङ्गाङ्गि भाव के बिना असम्भव है और यह गुण-प्रधान भाव भी वैषम्य या न्यूनाधिक्य के बिना एवं यह न्यूनाधिक्य भी अभिभाव्याभिभावक भाव के बिना असम्भव है। इस प्रकार [गुणों के अङ्गाङ्गी[2] होने से] महत् आदि रूप से होने वाला कार्य या परिणाम दूसरे प्रकार का है।

विशेष—ऊपर प्रकृति के द्विविधि अर्थात् सदृश और विषय परिमाण या कार्य बताये गये हैं। इनमें से प्रथम प्रलय-कालीन तथा द्वितीय सृष्टिकालीन है। जब प्रकृति के गुण साम्यावस्था में रहते हैं, तब प्रलय रहता है क्योंकि तब सत्त्व सत्त्वरूप से, रजस् रजोरूप से और तमस् तमोरूप से परिणत होता रहता है। जब यह साम्यावस्था नष्ट होती है, अर्थात् प्रकृति के गुणों में वैषम्य या

---

१. समुदयपर्यायमाह—समवाय इति। समवायश्चात्र परस्परसम्मिश्रणं, न तु तार्किकाभिमतः सम्बन्धविशेषः, "न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात्" इति सांख्यसूत्रात् [५।९९] इति बोध्यम्। —विद्वत्तोषिणी, पे० २११।

२. तथा च अनागतावस्थपुरुषार्थवशात् गुणेषु क्षोभो जायते ततश्च तेषु कश्चन उपसर्जनभूतः कश्चन प्रधानभूतः इति सर्वे मिलित्वा महदादिरूपेण प्रवर्तन्ते। सेयं महत्तत्त्वाद्यनुकूला प्रवृत्तिः द्वितीया। अत एव च महत्तत्त्वादौ सत्त्वस्य प्राधान्यमितरयोश्चाङ्गत्वमिति। —सुषमा

ङ्गाङ्गिभाव आ जाता है, तब महत्, अहङ्कार, तन्मात्र, पञ्चभूत, इन्द्रिय इत्यादि की सृष्टि होती है क्योंकि तब तीनों गुण विभिन्न अंशों में सम्मिश्रित होकर विभिन्न परिणाम उत्पन्न करते हैं। जैसे सात्त्विक (सत्त्व-प्रधान) अहङ्कार प्रकाशक इन्द्रियों को तथा तामस [तमः-प्रधान] अहङ्कार जड तन्मात्रों को उत्पन्न करता है। मूल के 'त्रिगुणतः' से प्रथम तथा 'समुदयात्' से द्वितीय प्रकार की सृष्टि का कथन किया गया है।

स्यादेतत्-कथमेकरूपाणां गुणानामनेकरूपा प्रवृत्तिरित्यत आह- "परिणामतः सलिलवत्" इति। यथा हि वारिदविमुक्तमुदकमेक-रसमपि तत्तद्भूविकारानासाद्य नारिकेलतालतालीबिल्वचिरबिल्व-तिन्दुकामलकप्राचीनामलककपित्थफलरसतया परिणमन्मधुराम्ल-लवणतिक्तकषायकटुतया विकल्पते, एवमेकैकगुणसमुद्भवात् प्रधानं गुणमाश्रित्याप्रधानगुणाः परिणामभेदान् प्रवर्तयन्ति। तदिदमुक्तम्— "प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्"। एकैकगुणाश्रयेण यो विशेषस्तमा-दित्यर्थः।

अर्थ—परन्तु [प्रलयकाल में] एकरूप [अर्थात् स्वरूपतः परिणत होते हुए] गुणों से [सृष्टिकाल में] विविध कार्य कैसे होने लगते हैं? इसके उत्तर में कहते हैं—'जल की तरह परिणामों के द्वारा'। जैसे मेघ का जल एकरस (एक सा) होने पर भी पृथ्वी के नाना विकारों को प्राप्त करके नारियल, ताड़, करेले, बेल, चिरबिल्व, तिन्दुक (इमली), आँवला, प्राचीनामलक, कैथ इत्यादि का रस बन जाने पर मीठे, खट्टे, नमकीन, तिक्त, कसैले तथा कडुवे आदि अनेक प्रकारों का हो जाता है, उसी प्रकार [प्रत्येक काल में] एक ही गुण का आविर्भाव होने से प्राधान्य-प्राप्त उस गुण का आश्रय लेकर अप्रधान गुण अनेक परिणाम उत्पन्न करते हैं। इसी को कारिकार ने कहा—'प्रतिप्रतिगुण-श्रयविशेषात्' अर्थात् एक-एक गुण के आश्रय से उत्पन्न भेद या अनेकत्व के कारण अव्यक्त विविध-परिणामी होता है।

विशेष—ऊपर की पंक्ति में कहा गया है कि जैसे एक ही जल अनेक भू-विकारों को प्राप्त करके अनेक प्रकार का हो जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक गुण प्रलय-काल में एकविध होने पर भी सृष्टि-काल में अङ्गाङ्गि-भाव को प्राप्त होने से विविध परिणाम उत्पन्न करता है। इससे एक बात स्पष्ट

नहीं होती, वह यह कि जल के विविध परिणाम में तो भू-विकार कारण है जो पूर्वतः स्वतः सिद्ध है, पर गुणों के विविध परिणाम में कारण बनने वाला उनका अङ्गाङ्गि या गुण-प्रधान भाव तो पूर्वतः सिद्ध नहीं है क्योंकि सृष्टि के पूर्व अर्थात् प्रलय-काल में वे एकविध थे, कोई गौण और कोई प्रधान—इस रूप से नहीं थे, फिर यह गुण-प्रधान भाव किस निमित्त से आया? इसका उत्तर पीछे की १३वीं कारिका के "प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः" शब्दों से प्राप्त होता है। आगे की ३१ वीं कारिका के 'पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्' में भी यही बात कही गई है। पुरुष के स्व-कृत कर्मों के भोगोन्मुख होने पर उसके भोग एवं अपवर्ग इत्यादि प्रयोजन की सिद्धि के लिए गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है, जिससे न्यूनाधिक्य या गौण-प्रधान भाव उत्पन्न होता है, और उससे त्रिविध परिणामों की सृष्टि होने लगती है।

[पर जिस पुरुष के भोगापवर्ग-रूप अर्थ की सिद्धि के लिए गुणों में क्षोभ एवं उसके द्वारा विविध सृष्टि बताई गई है, उसी में कोई प्रमाण नहीं है। उसके असिद्ध होने पर पुरुषार्थ की असिद्धि होने से सृष्टि ही असिद्ध हो जायगी। इसलिए पुरुष की सत्ता में प्रमाण-भूत अगली कारिका का प्रस्ताव करते हुये कौमुदीकार कहते हैं :—]

ये तु तौष्टिका अव्यक्तं वा महान्तं वाहङ्कारं वा इन्द्रियाणि वा भूतादि वात्मानमभिमन्यमानास्तान्येवोपासते, तान् प्रत्याह—संघातपरार्थत्वादिति।

अर्थ—परन्तु (स्वल्प से ही सन्तुष्ट[1] रहने वाले साधक अव्यक्त, महत् तत्त्व, अहङ्कार, इन्द्रियों अथवा भूतों में ही किसी एक को आत्मा मानते हुये इन्ही की उपासना करते हैं, उनके मत को खण्डन करने के लिए 'संघात-परार्थत्वात्……' इत्यादि अगली कारिका कही गई है।

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥१७॥

कैवल्यार्थं (मू.)

---

१. तुष्टिः प्रकृत्यादिषु लयमात्रेणैव कृतकृत्यतारूपा तृप्तिः, सैव प्रयोजनं येषां ते तौष्टिकाः। 'बाह्या विषयोपरमात् पञ्च' इति (५० आर्यायाम्) वक्ष्यमाणबाह्यतुष्टिमन्तः इत्यर्थः। —विद्वत्तो, पे० २२१—२२

अर्थ—सभी संघातों के दूसरों के लिए होने, त्रिगुणत्व इत्यादि का अभाव होने, सभी त्रिगुणात्मक वस्तुओं के लिए (चेतन) अधिष्ठाता एवं भोक्ता की अपेक्षा होने, एवं कैवल्य या मोक्ष के लिये प्रवृत्ति होने के कारण पुरुष की पृथक् सत्ता सिद्ध होती है ॥१७॥

"संघातपरार्थत्वात्" इति। पुरुषोऽस्ति, अव्यक्तादेर्व्यतिरिक्तः। कुतः ? "संघातपरार्थत्वात्"। अव्यक्तमहदहङ्कारादयः परार्थाः संघातत्वात्, शयनासनाभ्यङ्गादिवत्। सुखदुःखमोहात्मकतयाव्यक्तादयः सर्वे संघाताः।

अर्थ—अव्यक्त इत्यादि से पृथक् पुरुष की सत्ता है, क्योंकि सभी संघात (वस्तु-समुदाय) किसी दूसरे के लिए होते हैं। अव्यक्त, महत् और अहङ्कार इत्यादि संघात होने के कारण दूसरे के लिये हैं; जैसे शयन, आसन, अङ्गराग (लेप) इत्यादि। अव्यक्त इत्यादि 'संघात'[2] इसलिए हैं कि उनमें सुख, दुःख, और मोह तीनों हैं।

स्यादेतत्—शयनासनादयः संघाताः संहतशरीराद्यर्था दृष्टा न त्वात्मानमव्यक्ताद्यतिरिक्तं प्रति परार्थाः। तस्मात् संघातान्तरमेव परं गमयेयुः, न त्वसंहतमात्मानमित्यत आह—"त्रिगुणादिविपर्ययात्" इति।

अर्थ—परन्तु शयन, आसन इत्यादि संघात शरीर इत्यादि संघात के लिए ही देखे जाते हैं, अव्यक्त इत्यादि से भिन्न पुरुष के लिए नहीं। इसलिये ये संघात 'पर' अर्थात् अपने से भिन्न दूसरे संघात का ही अनुमान कराते हैं, असंहत पुरुष का नहीं। इसके उत्तर में कहते हैं कि—'त्रिगुण इत्यादि का पुरुष में अभाव होने से' उसे संघात नहीं कह सकते।

अयमभिप्रायः-संघातान्तरार्थत्वे हि तस्यापि संघातत्वात् तेनापि संघातान्तरार्थेन भवितव्यम्। एवं तेन तेनेत्यनवस्था स्यात् न च व्यवस्थायां सत्यामनवस्था, कल्पनागौरवप्रसङ्गात्। न च

---

१. (i) परार्था बुद्धिः संहत्यकारित्वात्, स्वार्थः पुरुष इति, सर्वार्थाध्यवसायकत्वात् त्रिगुणा बुद्धिः।—योगसूत्रभाष्य २। २०; (ii) तदसंख्येयवासनाभिश्चित्तमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् —योगसूत्र ४। २४

२. (i) संहन्यन्ते मिश्रीभवन्त्यनेके विशेषा यत्रासौ संघातः।

—विद्वत्तो० पे० २२३।

(ii) संहन्यन्ते मिश्रीभवन्त्यनेके सुखादयो यत्रेति संघातः—किरणावली।

'प्रमाणबलेन कल्पनागौरवमपि मृष्यते' इति युक्तम्, संहतत्वस्य पारार्थ्यमात्रेणान्वयात् । दृष्टान्तदृष्टसर्वधर्मानुरोधेन त्वनुमानमिच्छतः सर्वानुमानोच्छेदप्रसंग इत्युपपादितं न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायामस्माभिः ।

अर्थ—इसका अभिप्राय यह है कि अव्यक्त इत्यादि संघात को दूसरे संघात के लिये मान लेने पर, संघात होने के कारण इस दूसरे को तीसरे संघात के लिये मानना पड़ेगा । इसी प्रकार इसे भी अन्य संघात के लिये और फिर उस भी अन्य के लिए मानते जाने पर अव्यवस्था होगी और अन्य प्रकार से व्यवस्था के सम्भव होने पर अव्यवस्था[1] मानना ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें कल्पना की क्लिष्टता का दोष आ जायगा; और यह कहना कि 'प्रमाण-प्राप्त अव्यवस्था में में होने वाली कल्पना की क्लिष्टता भी क्षम्य है' ठीक नहीं है; क्योंकि 'अव्यक्त-महदहङ्कारादयः पदार्थाः संघातत्वात् शयनासनादिवत्'—इत्यादि अनुमान में 'संघातत्व' की अन्वय-व्याप्ति या साहचर्य केवल 'परार्थत्व' के साथ है, 'संहत-परार्थत्व' के साथ नहीं। एवं इस 'संघातत्व' हेतु से 'पर के लिये होने' का ही अनुमान होता है, 'संहत पर अर्थात् पुरुष के लिये होने' का नहीं । उदाहरण में प्राप्त होने वाले सभी धर्मो का दार्ष्टान्तिक [प्रस्तुत विषय या पक्ष] में अनुमान करने से तो किसी प्रकार का अनुमान हो ही नहीं सकता[2] । इसे हमने 'न्याय-वार्तिकतात्पर्यटीका' में सविस्तर प्रतिपादित किया है ।

---

१. संघातत्वहेतोः पारार्थ्यमात्रसाधन उपक्षीणत्वेन संघातान्तरार्थत्वसाधने विशेषतो व्यापाराभावेनासंहतपरार्थत्वसिद्धिरूपायां व्यवस्थायां सम्भवन्त्यामनवस्थाकल्पना न युक्तेत्यर्थः । अयुक्तत्वे हेतुः—कल्पनागौरवात् । पारार्थ्यमात्रसाधनापेक्षया संहतपारार्थ्यसाधनस्य गौरवग्रस्तत्वादित्यर्थः—विद्वत्तो०, पे० २२४ ।

२. द्रष्टव्य डा० झा-कृत अनुवाद पृष्ठ ६१, फुटनोट १ :—Because there can scarcely be found any two occurrences in nature which could be quite identical. Even in the stock example of the Naiyayikas—Fiery, because smoking, as the culinary hearth"—we have a dissimilarity between the subject-matter of the syllogism and the

तस्मादनवस्थाभियास्यासंघातत्वमिच्छतात्रिगुणत्वं विवेकित्वमविषयत्वमसामान्यत्वं चेतनत्वमप्रसवधर्मित्वञ्चाभ्युपेयम्। त्रिगुणत्वादयो हि धर्माः संहत्वेन व्याप्ताः। तत्संहतत्वमस्मिन् परे व्यावर्त्यमानं त्रैगुण्यादि व्यावर्तयति, ब्राह्मणत्वमिव व्यावर्त्यमानं कठत्वादिकम्। तस्मादाचार्येण 'त्रिगुणादिविपर्ययात्' इति वदतासंहतः परो विवक्षितः, स चात्मेति सिद्धम्।

अर्थ—इसलिए अव्यवस्था के भय से इस 'पर' अर्थात् पुरुष को संघात से भिन्न मानने पर उसे निर्गुण, विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन एवं अपरिणामी मानना ही पड़ेगा क्योंकि त्रिगुणत्व इत्यादि धर्म संहतत्व से व्याप्त हैं अर्थात् जो कुछ त्रिगुण, अविवेकी इत्यादि है, वह सभी संघात अवश्य होगा। एवं पुरुष के विषय में अविद्यमान वह संहतत्व उसमें त्रिगुणत्व इत्यादि का भी अभाव सिद्ध करता है [क्योंकि जो संघात न होगा, वह सब त्रिगुण, अविवेकी आदि भी न होगा—निर्गुण, विवेकी, चेतन आदि होगा], जैसे किसी पुरुष में 'ब्राह्मणत्व' का व्यावर्तन या अभाव उसमें 'कठत्व' का भी अभाव कर देगा ['कठ' प्राचीन काल में ब्राह्मणों की ही एक विशिष्ट शाखा थी; जो ब्राह्मण न होगा, वह कठ शाखा वाला कैसे हो सकता है]। इसीलिए आचार्य के 'त्रिगुणादिविपर्ययात्' कहने का तात्पर्य यही है कि त्रिगुणादि से भिन्न कोई वस्तु है, जो संघात-रूप नहीं है और वही पुरुष है।

इतश्च पुरुषोऽस्ति—"अधिष्ठानात्"। त्रिगुणात्मकानामधिष्ठीयमानत्वात्। यद्यत्सुखदुःखमोहात्मकं तत्सर्वं परेणाधिष्ठीयमानं दृष्टम्, यथा रथादि यन्त्रादिभिः। सुखदुःखमोहात्मकं चेदं बुद्ध्यादि; तस्मादेतदपि परेणाधिष्ठातव्यम्। स च परस्त्रैगुण्यादन्य आत्मेति।

अर्थ—'अधिष्ठान' के कारण अर्थात् त्रिगुणात्मक सभी वस्तुओं के किसी अन्य के द्वारा अधिष्ठित या प्रेरित होने के कारण भी पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है क्योंकि जो कुछ भी सुख-दुःख-मोहात्मक है, वह सभी किसी अन्य

instance cited. Thus, in the culinary hearth, the fire is for cooking food, and proceeding from a house made by men etc. etc., whereas such is not the case with the fire in the mountain.

के द्वारा प्रेरित होता देखा जाता है, जैसे रथ आदि सारथी इत्यादि के द्वारा।) चूँकि ये बुद्धि इत्यादि भी सुख-दुःख-मोहात्मक हैं, इसलिये ये सब भी किसी अन्य से अधिष्ठित या प्रेरित होने चाहिए और वह 'अन्य' त्रिगुणात्मक सभी वस्तुओं से पृथक्[1] पुरुष ही है।)]

इतश्चास्ति पुरुषः—"भोक्तृभावात्"। भोक्तृभावेन भोग्ये सुखदुःखे उपलक्षयति। भोग्ये हि सुखदुःखे अनुकूलप्रतिकूलवेद्नीये प्रत्यात्ममनुभूयेते। तेनानयोरनुकूलनीयेन प्रतिकूलनीयेन च केनचिदप्यन्येन भवितव्यम्। न चानुकूलनीयाः प्रतिकूलनीया वा बुद्ध्यादयः, तेषां सुखदुःखाद्यात्मकत्वेन स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्। तस्मात् योऽसुखाद्यात्मा सोऽनुकूलनीयः प्रतिकूलनीयो वा, स चात्मेति।

अर्थ—(त्रिगुणात्मक वस्तुओं के लिए) भोक्ता अपेक्षित होने से भी पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। 'भोक्ता' होने से भोग के विषय सुख, दुःख इत्यादि सूचित (संकेतित) होते है क्योंकि भोगे जाने वाले सुख, दुःख इत्यादि प्रत्येक के द्वारा अनुकूल—'अच्छा है' तथा प्रतिकूल—'बुरा है', इस रूप से

---

१. न च महदादिषु अन्यतम एव कश्चिदधिष्ठाता भवत्विनि साम्प्रतं, स्वस्य स्वाधिष्ठानायोगादित्यभिप्रेत्याह—'त्रैगुण्यादन्य आत्मा' इति। न च आत्मनो निर्गुणत्वेन निष्क्रियत्वात् कथमधिष्ठातृत्वं, प्रवर्तनव्यापारवत एव सारथ्यादेरधिष्ठातृत्वदर्शनात् इति शंक्यं, निर्व्यापारस्याप्ययस्कान्तमणेरिव सन्निधिमात्रेणाधिष्ठातृत्वोपपत्तेर्व्यापारवत एव प्रयोजकत्वमिति नियमानाश्रयणात्; तथा च सूत्रं—'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्' इति। अचलतोऽपि सत्तामात्रेण प्रयोजकत्वं, तथा चाहुः कुमारिलस्वामिनः—'न च सर्वत्र तुल्यत्वं स्यात्प्रयोजककर्मणाम्। चलनेन ह्यसि योद्धा प्रयुङ्क्ते छेदनं प्रति ॥८५॥ सेनापतिस्तु वाचैव भृत्यानां विनियोजकः। राजा सन्निधिमात्रेण विनियुङ्क्ते कदाचन ॥८६॥ तस्मादचलतोऽपि स्याच्चलने कर्तृतात्मनः" । (पंचमसूत्र—आत्मवादः) इति। एतेन "प्रवृत्तेः रचनायाश्चानुपपत्तेर्नाचेतनं चेतनाधिष्ठानविहीनं कारणम्' (ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य। २। १। १२) इत्यादयः आक्षेपाः प्रतिक्षिप्ताः इति वेदनीयम्। 'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते' इति षष्टितन्त्र उक्तत्वेनाक्षेपस्यैवानुत्थानमित्यपि ध्येयम्।

—विद्वत्तो०, पे० २२७-२८

अनुभव किये जाते हैं। इसलिए इनके द्वारा 'अनुकूल' अर्थात् प्रसन्न तथा 'प्रतिकूल' अर्थात् दुःखी किया जाने वाला कोई और होगा। बुद्धि इत्यादि स्वयं ही सुखदुःखादि-स्वरूप होने के कारण इन (सुखःदुःखादि) के द्वारा प्रसन्न तथा दुःखी किये जाने वाले भी नहीं हो सकते क्योंकि ऐसा करने से इनके स्वरूप में भोक्तृत्व तथा भोग्यत्व, इन दो विरोधी वृत्तियों का आरोप होगा[1] अर्थात् सुखादि ही सुख आदि का अनुभव करने लगेंगे। इसलिये जो स्वयं सुख, दुःख इत्यादि के रूप का नहीं है, वही प्रसन्न या दुःखी होने वाला होगा, और वह पुरुष ही है।

अन्ये त्वाहुः—भोग्या दृश्या[2] बुद्ध्यादयः। न च द्रष्टारमन्तरेण दृश्यता युक्ता तेषाम्। तस्मादस्ति द्रष्टा दृश्यबुद्ध्याद्यतिरिक्तः, स चात्मेति। भोक्तृभावात्—द्रष्टृभावात्, दृश्येन द्रष्टुरनुमानादित्यर्थः। दृश्यत्वं च बुद्ध्यादीनां सुखाद्यात्मकतया पृथिव्यादिवदनुमितम्।

अर्थ—दूसरे आचार्य यह कहते हैं कि बुद्ध्यादि भोग्य अर्थात् दृश्य हैं और बिना किसी द्रष्टा (दर्शक) के इनका दृश्य बनना सम्भव नहीं है। इसलिए बुद्ध्यादि दृश्य वस्तुओं से भिन्न या पृथक् कोई द्रष्टा अवश्य है और वह पुरुष ही है। उनके अनुसार 'भोक्तृभाव' का अर्थ द्रष्टृभाव है अर्थात् 'दृश्य से किसी द्रष्टा का अनुमाने होने के कारण' पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। जहाँ तक बुद्धि इत्यादि के दृश्य (प्रत्यक्ष) होने की बात है, उसका अनुमान तो पृथिवी इत्यादि पदार्थों की भाँति इनके सुखदुःखादि-स्वरूप होने के कारण होता है [अनुमान इस प्रकार का होगा :—बुद्ध्यादयः पदार्था दृश्याः सुखाद्यात्मकत्वेन पृथिव्यादिवत्]।

विशेष—कुछ आचार्यों का विचार है कि पुरुष वस्तुतः असङ्ग होने से भोक्ता हो ही नहीं सकता। उनके मत से कारिकाकार के 'भोक्ता' पद का अर्थ 'द्रष्टा' है। जो असङ्ग या उदासीन होगा, वह द्रष्टा या साक्षी बन सकता है, पर भोक्ता कदापि नहीं। उनके इसी मत को लेकर दूसरे प्रकार

---

१. न ह्यसिधारात्मानं छिनत्ति वह्निर्वात्मानं दहतीति भावः।

—विद्वत्तो०, पे० २२८।

२. दृश्यत्वं प्रत्यक्षविषयत्वरूपमत्र विवक्षितं न तु चाक्षुषज्ञानविषयत्वं, बुद्ध्यादीनां तथात्वासम्भवात्। —विद्वत्तो० (पे० २२८)।

का अर्थ तत्त्वकौमुदीकार ने प्रस्तुत किया है। परन्तु 'अन्ये त्वाहु:' के 'अन्ये' तथा 'तु' पदों से ही इस मत के सम्बन्ध में तत्त्वकौमुदीकार का वैरस्य दीख पड़ता है। उनके इस वैरस्य का कारण स्पष्ट है क्योंकि पूर्व अर्थ के विषय में उत्पन्न दोष यहाँ भी तो प्राप्त होता है। असङ्ग वस्तुतः द्रष्टा भी तो नहीं हो सकता। बुद्धि इत्यादि से उपहित होने पर ही उसका दर्शक बनना सम्भव है। फिर तो उपहित होने पर असङ्ग आत्मा का भोक्ता बनना भी सम्भव हो जायगा। अतः पूर्व अर्थ को छोड़कर दूसरा अर्थ करने से कोई अन्तर या वैशिष्ट्य नहीं होता। अतः वही समीचीन है, जैसा कि विद्वत्तोषिणी के विद्वान् लेखक ने कहा है :—

"असङ्गस्य परमार्थतो दर्शनकर्तृत्वासम्भवात् बुद्ध्युपाधिकमेव द्रष्टृत्वमात्मन इति मन्तव्यम्, एतच्च "द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः" इति [२।१०] सूत्रे योगभाष्ये व्यक्तम्। एवं च द्रष्टृत्ववद् भोक्तृत्वस्यापि सम्भवादाद्यव्याख्यानमपि समीचीनमेवेति ध्येयम्।" वस्तुतः तो पूर्व अर्थ ही ठीक है क्योंकि वह शब्दों का मुख्यार्थ लेकर किया गया है। दूसरा लक्ष्यार्थ लेता है, फिर भी कोई वैशिष्टय नहीं ला पाता।

इतश्चास्ति पुरुष इत्याह—"कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च"। शास्त्राणां महर्षीणां दिव्यलोचनानां च कैवल्यमात्यन्तिकदुःखत्रयप्रशमलक्षणं न बुद्ध्यादीनां सम्भवति। ते हि दुःखाद्यात्मकाः कथं स्वभावाद्वियोजयितुं शक्यन्ते। तदतिरिक्तस्य त्वतदात्मनस्ततो वियोगः शक्यसम्पादः। तस्मात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेरागमानां महाधियां चास्ति बुद्ध्यादिव्यतिरिक्त आत्मेति सिद्धम् ॥१७॥

अर्थ—'कैवल्य के लिए प्रवृत्ति होने से भी' पुरुष की पृथक् सत्ता सिद्ध होती है। 'कैवल्य' जिसे शास्त्र और दिव्य-दृष्टि महर्षि 'त्रिविध दुःख की सार्वकालिक निवृत्ति' के रूप में स्वीकार करते हैं, बुद्धि इत्यादि के विषय में असम्भव है क्योंकि दुःख इत्यादि तो इनका स्वरूप ही है। फिर ये अपने स्वरूप से वियुक्त या पृथक् कैसे किये जा सकते हैं? किन्तु बुद्धि इत्यादि से भिन्न कोई तत्त्व, जिसका स्वरूप दुःख इत्यादि नहीं है, उससे पृथक् किया जा सकता है। इसलिए शास्त्रों तथा महा मतिमान् महर्षियों की 'कैवल्य' [मोक्ष] के लिए चेष्टा होने से यह सिद्ध होता है कि बुद्धि इत्यादि [सुखदुःखात्मक तत्त्वों] से भिन्न कोई 'पुरुष' तत्त्व है ॥१७॥

तदेवं पुरुषास्तित्वं प्रतिपाद्य, स किं सर्वशरीरेषु एकः किमनेकः प्रतिक्षेत्रमिति संशये, तस्य प्रतिक्षेत्रमनेकत्वं प्रतिपादयति—'जनने'-त्यादिना ।

अर्थ—इस प्रकार पुरुष की सत्ता सिद्ध करके 'यह पुरुष सभी शरीरों में एक है या प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न'—ऐसा सन्देह होने पर 'जननमरण-करणानाम्' इत्यादि अगली कारिका द्वारा उसकी विभिन्नता या अनेकता प्रतिपादित करते हैं—

जननमरणकरणानां[1] प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव[2] ॥१८॥

अर्थ—जन्म, मरण तथा इन्द्रियों की व्यवस्था[3], एक साथ प्रवृत्ति के अभाव तथा गुणों के भेद के कारण पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है ।

विशेष—कुछ विद्वान् सांख्य के 'अनेक-पुरुषवाद' को उसका वास्तविक सिद्धान्त न मान कर प्रातीतिक अथवा कल्पित ही मानते हैं जिसे वह विशेष परीक्षण के अनन्तर स्वयं काट देता है, खण्डित कर देता है । श्री राधानाथ फूखन, एम्० ए०, बी० एल्० वेदान्त-वाचस्पति ने अपने 'The Sankhya karika of IshvarakrIshna नामक ग्रन्थ की भूमिका के "Plurality of Soul" नामक षष्ठ खण्ड के पृष्ठ ६०—६३ पर अपना उपर्युक्त मन्तव्य इन शब्दों में प्रकट किया है :—

This subject, viz. plurality of soul (in Ka. XVIII) has been seized upon and made a ground of attack againt Sankhya Philosophy by various commentators from the beginning of history. According to the Monism of Vedanta, there is no difference between the Brahman and the Soul—the Soul being nothing

---

१. जन्ममरणकरणानाम्—गौडपादभाष्य, माठर०, सांख्यचन्द्रिका, युक्ति-दीपिका । किन्तु जयमंगला-धृत पाठ 'जननमरणकरणानाम्' ही है ।

२. त्रिगुणादिविपर्ययाच्चैव—युक्तिदीपिका ।

३. व्यवस्था वैय्यधिकरण्येनावस्थानम्—विद्वत्तो०, पृष्ठ २३२ [अर्थात् विभिन्न अधिकरणों या स्थानों में विद्यमानता]

but pure and indivisible consciousness itself. The question then arose that if all Jivas have only a common soul, how is it then that all of them do not behave in the same way, have not the same sort of cognition, do not do the same act and enjoy the same fruit, and so forth....?

The matter was fully discussed in Chap. II Part 3 of the Brahma-sutra, and Shankaracharya solved the problem by saying that our perception is not at all a function of the functionless conseiousness but it is a function of the Antahkarana (Brahma-sutra II. 3. 32); we see the world as our mind shows it.

His conclusion is supported by modern science, for science also has proved by experiment that the world of Physics is a mental phenomenon. Thus Monism and Science have both agreed that the Physical universe is mental and therefore unreal.....This solution of Monism was not accepted by the other great teachers like Ramanuja because, according to their old psychology, mental perception was possible only in dreams. In the waking state, an object in order to be seen, must really exist as an object before our eyes. They, therefore, contended that we are not living in a dream-world; that we are, all of us, not dreaming the same dream at a time; that the world must be real aud that things must be what they are to our view. Their solution of the above problem therefore was that the Jiva is not merely consciousness itself, but he is consciousness enveloped in the 'Lingasharira' ie in the sensory equipment. [चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः । चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्संघो जीव उच्यते ॥]

If we take this definition of a Jiva, then, of course there is no doubt that the world is as we see it, and that it is absolutely real. Here the only drawback is that this conclusion is not supported by modern science, for science says:—To welter in a barren realism of the world, is a negation of all that physical science has accomplished in unravelling the complexity of sensory experience (Eddingtion, new Pathways in Seience.)

Now returning to the Sankhya Philosophy, it cannot accept the first solution i. e. the solution of Monism, for the obvious reason that Sankhya had begun its investigation by assuming that the world is real. It was only at the end of the investigation that we were told that we actually see the world as our mind (Buddhi) shows it. [This is exactly the procedure of Science—to begin by taking things as they are and then arrive at the reality.

Sankhya cannot accept the second solution, i. e. that the Purusha is an assemblage of consciousness and 'Linga Sharira', for it would cut at the very root of his philosophy, whose only object is to make God-realization easy for ordinary man by discriminating the soul from the 'Linga' from the very beginning.]

Accordingly he said that for the purpose of his inquiry it was not necessary at that stage to know what the soul really is—that being a matter which is under inquiry; that, in the mean time, we could take things as they are, and accept the known facts that

men behave differently, they all do not die at the same time, they have different sorts of recognition, and, so forth. We can, it went on to say, therefore, take it that each man has a soul, without knowing the exact nature of the soul."

प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट है कि पूखन जी सांख्य के द्वारा की गई पुरुष-बहुत्व की स्थापना को उसका अन्तिम सिद्धान्त या निर्णय न मान कर बीच की कल्पना मानते हैं, तथ्यों की मीमांसा या परीक्षा के पूर्व की मान्यता समझते हैं। साथ ही इस कल्पित सिद्धान्त के आधार-भूत हेतुओं—सभी मनुष्य न एक साथ जीते-मरते हैं, न एक सा व्यवहार करते हैं, इत्यादि—को भी सांख्य तभी तक वास्तविक अथवा सत्य मानता है, जब तक वह इस अन्तिम सत्य पर नहीं पहुँच जाता कि यह सारा जगत् बुद्धि-कृत है, मिथ्या है। पूखन जी की सांख्य-विषयक यह धारणा वितथ अथवा मिथ्या प्रतीत होती है, क्योंकि उनकी इस धारणा का आधार सांख्योक्त तथ्य न होकर भौतिक विज्ञान की वे आधुनिकतम खोजें प्रतीति होती हैं जिन के अनुसार वह समस्त भौतिक जगत् सहसा बुद्धि-कृत, मानसिक, या अवास्तविक सिद्ध हो गया है। सांख्य ने न तो अपनी बुद्धि को ही कहीं अवास्तविक कहा है और न तत्कृत जगत् की प्रतीयमानता के आधार पर पुरुष की अनेकता को ही।

"पुरुषबहुत्वं सिद्धम्"। कस्मात् ? जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्। निकाय[1]विशिष्टाभिरपूर्वाभिर्देहेन्द्रियमनोऽहङ्कारबुद्धिवेदनाभिः पुरुषस्याभिसम्बन्धो जन्म, न तु पुरुषस्य परिणामः; तस्यापरिणामित्वात्। तेषामेव च देहादीनामुपात्तानां परित्यागो मरणम्, नत्वात्मनो विनाशः, तस्य कूटस्थनित्यत्वात्। करणानि बुद्ध्यादीनि

1. निकायः तत्तदात्मादृष्टप्रयोज्यो भाविभोगानुकूलो विलक्षणः समुदायः, परस्परसापेक्षः सम्बन्ध इति यावत्।—किरणावली। यद्यपि महाभाष्यकारादिव्याख्यानात्प्राणिनां समूह एव 'संघे अनौत्तराधये' इत्यत्र सूत्रे संघपदेन गृह्यते, न समूहमात्रम्, अतएव 'ब्राह्मणनिकाय' इतिवन्न 'प्रमाणनिकाय' इति प्रयुज्यतेऽपितु 'प्रमाणनिचय' इति, तथापि प्राणिसम्बन्धित्वेन कथञ्चिदत्रापि प्राणिसमूहं सम्भाव्य निकायपदप्रयोगोपपत्तिर्ज्ञेया। —विद्वत्तो०।

त्रयोदश। तेषां जननमरणकरणानां प्रतिनियमो व्यवस्था। सा खल्वियं सर्वशरीरेषु एकस्मिन् पुरुषे नोपपद्यते। तदा खल्वेकस्मिन् पुरुषे जायमाने सर्वे जायेरन् म्रियमाणे च म्रियेरन्, अन्धादौ चैकस्मिन् सर्व एव अन्धादयः, विचित्ते चैकस्मिन् सर्व एव विचित्ताः स्युरित्यव्यवस्था स्यात्; प्रतिक्षेत्रं तु पुरुषभेदे भवति व्यवस्था। न च एकस्यापि पुरुषस्य देहोपाधानभेदाद् व्यवस्था' इति युक्तम्; पाणिस्तनाद्युपाधिभेदेनापि जन्ममरणादिव्यवस्थाप्रसङ्गात्। न हि पाणौ वृक्णे, जाते वा स्तनादौ महत्यवयवे युवतिर्मृता जाता वा भवतीति।

अर्थ—'पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है'। क्यों? 'जन्म, मरण और इन्द्रियों की व्यवस्था के कारण।' अभिनव शरीर, इन्द्रिय, मन, अहङ्कार, बुद्धि एवं वेदना[1] के संघात (समुदाय) के साथ पुरुष का सम्बन्ध[2] ही जन्म है, न कि उसका परिणाम क्योंकि वह तो अपरिणामी है। उन पूर्व गृहीत शरीर आदि का परित्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) ही मरण[3] है, न कि

---

१. वेदना सुखाद्यनुभवः, स्फूर्त्याख्या चेतना वेति विद्वत्तोषिणी। बुद्धिः महत्तत्त्वम्, वेदना तत्परिणामो ज्ञानाख्यः इति सुषमा। वेदना प्राप्तिपरिहाराद्यनुकूला बुद्धिवृत्तिरिति किरणावली।

२. अभिसम्बन्धो विलक्षणः संयोगः समुदितदेहादिविशेषितबुद्ध्या सह प्रतिबिम्बाख्यः सम्बन्धः इति किरणावली। अभिसम्बन्धः संयोग इति वंशीधरी।

३. मरणं तु यद्यपि 'मृङ् प्राणत्यागे' इति स्मरणात् प्राणोपलक्षितदेहादीनां त्यागरूपं मुख्यमेवात्मनि सम्भवति, तथापि घटादेरिव विनाशरूपं मरणमत्र मा कश्चिद् ग्रहीदित्याशयेनाह—न तु विनाश इति।....मा नाम भूज्जातो मृत इति व्यवहारात् नराणां व्यामोहः (आत्मनि जायमानम्रियमाणत्वभ्रान्तिः) इत्यनुकम्पावती बृहदारण्यकश्रुतिरपि (४।३।८)—'स वायं पुरुषः जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः, स उत्क्रामन् म्रियमाणः' इत्येवं स्वयमेव शरीरादिना संयुज्यमानत्वमेवात्मनो जायमानत्वं, शरीरादुत्क्रमणमेव चात्मनो म्रियमाणत्वं निराह।

—विद्वत्तो०

पुरुष का विनाश या ध्वंस, क्योंकि वह तो कूटस्थ-नित्य[1] अर्थात् सभी कालों में एकरूप रहने वाला है। 'करण' अर्थात् बुद्धि इत्यादि तेरह (बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ)। उन जन्म, मरण तथा इन्द्रियों का 'प्रतिनियम' अर्थात् उनकी व्यवस्था। यह व्यवस्था सभी शरीरों में एक ही पुरुष के होने पर संगत नहीं होती क्योंकि तब तो एक पुरुष के उत्पन्न होने पर सभी उत्पन्न होंगे और मरने पर मर जायँगे, एक के अन्धे होने पर सभी अन्धे और एक के उपरत-चित्त (अर्थात् योग-युक्त या सुषुप्त, क्योंकि इन्हीं दो अवस्थाओं में चित्त का व्यापार बन्द होता है) होने पर सभी उपरत-चित्त हो जायँगे, और इस प्रकार कोई व्यवस्था न रहेगी। इसके विपरीत प्रत्येक शरीर में पृथक् या विभिन्न पुरुष होने पर व्यवस्था रहेगी। यह कहना ठीक न होगा कि एक पुरुष होने पर शरीर इत्यादि उपाधियों के भेद से व्यवस्था हो जायगी क्योंकि ऐसा होने पर तो हाथ, स्तन इत्यादि उपाधियों के भेद से भी व्यवस्था होने लगेगी। परन्तु हाथ के टूट जाने अथवा स्तन इत्यादि अवयवों के उत्पन्न होने से कोई युवती मृत या उत्पन्न नहीं होती।

विशेष—ऊपर के 'जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्' पदों का जो अर्थ वाचस्पति मिश्र ने किया है, वही अर्थ परमार्थ-कृत चीनी अनुवाद के संस्कृत रूपान्तर, जयमङ्गला तथा गौडपाद-भाष्य में भी दिया गया है। परन्तु माठर ने इसका अर्थ पहले और ढङ्ग से किया है, फिर 'अपरे पुनरित्थंकारं वर्णयन्ति' इन शब्दों के साथ प्रस्तुत अर्थ दिया है। उनका स्वाभिमत अर्थ इस प्रकार है :—"इह केचिन्नीचजन्मानः, केचिदुत्कृष्टजन्मानः, केचिन्मध्यमजन्मानः। यदि पुनरेकः पुरुषः स्यात्, स एव एव नीचकुलोत्पन्नः स्यात् स एव उत्कृष्टकुलोत्पन्नः स्यात्। कस्मात्, पुरुषैकत्वात्। अतश्चायं नियमः, अन्ये अधमा, अन्ये उत्कृष्टाः। तस्माद् बहवः पुरुषाः। अतश्च मरणनियमात्। मरणेऽपि नियमो दृष्टो मम भ्राता मृतो मम पिता च। तस्माद बहवः

---

१. पृथिव्यादीनामपि सूक्ष्मरूपेण सर्वदा सत्त्वाङ्गीकारेण नित्यत्वादाह—कूटस्थनित्यत्वादिति। एकरूपेण सर्वकालव्यापित्वरूपनित्यत्वात् इति भावः।

—सुषमा।

२. कूटः लोहकाराऽऽपणस्था लोहानां कूटनार्थिका लौही च ऐरिणी, तद्वत् सर्वदा निष्ठतीति कूटस्थ एकरूपतया कालव्यापी। —किरणावली

पुरुषाः"। इसके विकल्प रूप से दिये गये अर्थ को माठर ने किससे लिया है, निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। पर इतना अवश्य सत्य है कि सांख्य-कारिका की प्राचीन टीका, जिसका अनुवाद परमार्थ ने चीनी भाषा में ५५७-६९ ई० के बीच किया था, तथा माठर-वृत्ति में अनेक साम्य हैं। अतः प्रतीत होता है कि इसी से माठर ने दूसरा अर्थ लिया होगा। पं० उदयवीर शास्त्री तो माठर-वृत्ति को ही चीनी अनुवाद का मूल मानते हैं। अतः उनके मत से इस अर्थ के वहाँ से लिए जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव उन्होंने इसके दो भिन्न समाधान दिए हैं। एक तो यह है कि 'अपरे' इत्यादि के द्वारा माठर ने 'जननमरणकरणानाम्' इत्यादि पदों का वह परम्परागत अर्थ दिया है जिसका प्रचार कारिका की रचना के अनन्तर प्रचलित पठन-पाठन की प्रणाली में रहा होगा। स्वाभिमत अर्थ का निर्देश करने के अनन्तर उस परम्परागत अर्थ को भी माठर ने सर्व प्रथम लिपिबद्ध किया। परन्तु पश्चाद्वर्त्ती व्याख्याकारों ने परम्परागत अर्थ को ही स्वीकार किया। दूसरा समाधान शास्त्री जी ने यह दिया है कि जयमंगला इत्यादि की रचना के अनन्तर माठर-वृत्ति के किसी प्रतिलिपि-लेखक ने हाशिये पर उन शब्दों में इस अर्थ का निर्देश कर दिया होगा, जो कालान्तर में भ्रम-वश ग्रन्थ का ही भाग समझ लिया गया।

इतश्च प्रतिक्षेत्रं पुरुषभेद इत्याह—"अयुगपत्प्रवृत्तेश्च" इति। प्रवृत्तिः प्रयत्नलक्षणा यद्यप्यन्तःकरणवर्तिनी, तथापि पुरुषे उपचर्यते। तथा च तस्मिन्नेकत्र शरीरे प्रयतमाने, स एव सर्वशरीरेषु एक इति सर्वत्र प्रयतेत, ततश्च सर्वाण्येव शरीराणि युगपच्चालयेत्। नानात्वे तु नायं दोष इति।

अर्थ—'एक साथ प्रवृत्ति न होने कारण' भी प्रत्येक शरीर में पुरुष की भिन्नता सिद्ध होती है। यद्यपि प्रवृत्ति, जिसका लक्षण प्रयत्न है, अन्तःकरण में ही होती है, तथापि पुरुष में उसका उपचार या आरोप होता है। इस प्रकार पुरुष के किसी एक शरीर में प्रयत्नशील होने पर सभी शरीरों में एक होने के कारण उसे सर्वत्र प्रयत्नशील होना चाहिए, और फिर उसे सभी शरीरों को एक साथ प्रवर्तित करना चाहिए। परन्तु पुरुष के अनेक होने पर यह आपत्ति न होगी।

विशेष—'अयुगपत्प्रवृत्तेश्च' का दो प्रकार से अर्थ किया जा सकता है—एक तो यह कि 'सभी शरीरों की एक साथ प्रवृत्ति न होने से'; और

दूसरा यह कि '(सभी शरीरों में स्थित) पुरुष के साथ प्रवृत्त न होने से'। पूर्व अर्थ का तात्पर्य यह है कि 'जैसे प्रत्येक रथ एक साथ प्रवर्तित न होने अथवा कथञ्चित् वैसा होने पर भी एक ही प्रकार से प्रवर्तित न होने से प्रत्येक के प्रेरक या चालक व्यक्ति (अर्थात् सारथी) के अनेक या विभिन्न होने का अनुमान होता है, वैसे ही प्रत्येक शरीर के साथ ही प्रवृत्त या क्रियाशील न होने से अथवा कथञ्चित् वैसा होने पर भी एक ही प्रकार से प्रवृत्त न होने से प्रत्येक (शरीर) के प्रवर्तक या प्रेरक पुरुष के विभिन्न अथवा पृथक् होने का अनुमान होता है। यद्यपि सामान्यतः क्रिया-भेद से क्रियाश्रयों के भेद का ही अनुमान होता है, तथापि शरीरों के क्रिया-भेद से पुरुषों के भेद का अनुमान इसलिए किया जाता है कि शरीर अचेतन होने से स्वयं तो प्रवृत्त होता नहीं, उसकी प्रवृत्ति तो चेतन पुरुष से अधिष्ठित (द्रष्टव्य कारिका १७) होने के कारण उसके सान्निध्य से होती है। इसलिये यदि सभी शरीरों की एक साथ या एक सी प्रवृत्ति नहीं होती, तो स्पष्ट है कि सभी में प्रवर्तक पुरुष एक ही नहीं, भिन्न-भिन्न है। एक ही होता, तो एक साथ और एक सी प्रवृत्ति होती।

द्वितीय अर्थ लेने पर तो अनुमान स्पष्ट है। यदि सभी शरीरों में एक ही पुरुष होता तो जब वह एक में प्रवृत्त होता, तभी अन्य शरीरों में भी प्रवृत्त होता और तब सभी शरीरों में एक साथ और एक सी प्रवृत्ति होती। पर ऐसा न होने से वह प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है। तत्त्वकौमुदीकार ने यही अर्थ लिया है। पर इस द्वितीय अर्थ में एक कठिनाई है, वह यह कि पुरुष तो निष्क्रिय है। इसको दूर करने के उद्देश्य से ही कौमुदीकार ने 'प्रवृत्तिः प्रयत्नलक्षणा यद्यप्यन्तःकरणवर्तिनी, तथापि पुरुषे उपचर्यते'——ऐसा लिखा है। उनके ऐसा लिखने का भाव[1] यह है कि जैसे सैनिकों द्वारा प्राप्त किये जाने वाले जय, पराजय इत्यादि उन सैनिकों के स्वामी सम्राट् के कहे जाते

१: उपचारनिमित्तञ्च स्वस्वामिभावसम्बन्धः, "यथा विजयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते" इत्यादिना योगभाष्ये (२ । १८) अभिहितः, अग्रे (का० ६१) च व्यक्तः। जले कम्पमाने तत्प्रतिबिम्बित-चन्द्रकम्पनमिव प्रयतमानायां बुद्धौ तत्प्रतिबिम्बितचेतनोऽपि प्रयतत इव, इति यावत्। —विद्वत्तो०

हैं—उसमें आरोपित किये जाते हैं, उसी प्रकार यद्यपि शरीर-परिचालन आदि कर्म वस्तुतः बुद्धि इत्यादि अन्तःकरण के हैं, निष्क्रिय—अपरिणामी—पुरुष के नहीं तथापि सारे कर्म उसी के निमित्त होने के कारण उसमें आरोपित होते हैं, उसके कहे जाते है। इस प्रकार वह कर्त्ता या प्रवर्तक न होने पर भी तद्वत् कहा जाता है।

इतश्च पुरुषभेद इत्याह—"त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव" इति। एवकारो भिन्नक्रमः 'सिद्धम्' इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः, सिद्धमेव नासिद्धम्। त्रयो गुणास्त्रैगुण्यम्, तस्य विपर्ययोऽन्यथात्वम्। केचित्खलु सत्त्वनिकायाः[1] सत्त्वबहुलाः, यथोर्ध्वस्रोतसः; केचिद्रजोबहुलाः, यथा मनुष्याः; केचित्तमोबहुलाः, यथा तिर्यग्योनयः। सोऽयमीदृशस्त्रैगुण्यविपर्ययोऽन्यथाभावस्तेषु सत्त्वनिकायेषु न भवेत् यद्येकः पुरुषः स्यात्, पुरुषभेदे त्वयमदोष इति ॥१८॥

अर्थ—'त्रिगुण भेद के कारण' भी पुरुष-भेद सिद्ध होता है। 'एव' पद भिन्न क्रम से आया हुआ हैं। इसे 'सिद्धम्' के बाद आना चाहिये जिसका अर्थ यह होगा कि पुरुष-भेद सिद्ध ही है, असिद्ध नहीं। 'त्रैगुण्य' का अर्थ है—'तीनों गुण'; उनका 'विपर्यय' अर्थात् भेद। कुछ प्राणी सत्त्व-प्राय होते है, जैसे देवता, योगी[2] आदि; कुछ रजः-प्राय होते हैं, जैसे मनुष्य; कुछ तमः-प्राय होते हैं जैसे पशु, पक्षी इत्यादि। इस प्रकार का यह त्रिगुण-भेद उन प्राणियों में न होता, यदि पुरुष एक ही होता। पुरुष भेद होने पर यह दोष नहीं होगा।

एवं पुरुषबहुत्वं प्रसाध्य विवेकज्ञानोपयोगितया तस्य धर्मानाह—'तस्माच्च' इति।

---

१. सत्त्वनिकायाः प्राणिसमूहाः इति विद्वत्तोषिणीकाराः। सत्त्वं प्राणः तस्य निकायाः प्राणिन इति यावत् इति सुषमाकाराः। सत्त्वानां निकायाः समूहाः इति किरणावलीकाराः।

२. ऊर्ध्वं ब्रह्मरन्ध्रेण स्रोतः प्रवाहो गमनं येषां ते, ऊर्ध्वम् आत्मानं प्रति स्रोतः वृत्तिप्रवाहो येषां ते इति वा, ते ऊर्ध्वस्रोतसः देवादयः सत्पुरुषाश्च।

—किरणावली।

अर्थ—इस प्रकार पुरुष की अनेकता सिद्ध करके विवेक-ज्ञान में उपयोगी होने के कारण उसके (अन्य) धर्मों का "तस्माच्च विपर्यासात्" इत्यादि कारिका द्वारा वर्णन करते हैं :—

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यम्माध्यस्थं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥१६॥

अर्थ—और उस (अर्थात् 'त्रिगुणमविवेकि' इत्यादि एकादश कारिका में कथित धर्मों) से भेद या वैषम्य के कारण इस पुरुष का साक्षित्व, कैवल्य माध्यस्थ्य, द्रष्टृत्व और अकर्तृत्व भी सिद्ध होता है ।

'च' शब्दः पुरुषस्य बहुत्वेन सह धर्मान्तराणि समुच्चिनोति । 'विपर्यासादस्मात्' इत्युक्ते त्रैगुण्यविपर्ययादित्यनन्तरोक्तं संबध्येत; अतस्तन्निरासाय 'तस्मात्' इत्युक्तम् । अनन्तरोक्तं हि सन्निधानादिदमो विषयो, विप्रकृष्टं च तदः, इति विप्रकृष्टं त्रिगुणमविवेकीत्यादि सम्बध्यते । तस्मात्त्रिगुणादेर्यो विपर्यासः स पुरुषस्यात्रिगुणत्वं विवेकित्वमविषयत्वमसाधारणत्वं चेतनत्वमप्रसवधर्मित्वञ्च ।

अर्थ—कारिका के आरम्भ में आये हुये 'तस्माच्च' में 'च' पद पुरुष के 'बहुत्व' धर्म के साथ उसके अन्य धर्मों का समुच्चय करता है । 'तस्माच्च विपर्यासात्' के स्थान में 'विपर्यासादस्मात्' कहने पर 'अस्मात्' पद से इसी के ठीक पूर्व १८ वीं कारिका में आये हुये 'त्रैगुण्यविपर्ययात्' का परामर्श होता, इसलिए उसका परिहार करने के लिये 'तस्मात्' पद का प्रयोग हुआ है; क्योंकि ठीक पूर्व कहा गया समीपस्थ अर्थ 'इदम्' का विषय होता है, और दूरस्थ अर्थ 'तद्' शब्द का विषय होता है (अर्थात् उसके द्वारा उपस्थित या प्रस्तुत किया जाता है) । इसलिये 'तस्मात्' से दूरस्थ 'त्रिगुणमविवेकि' (का० ११) इत्यादि ही उपस्थित होता है । अर्थात् उस 'त्रिगुण' इत्यादि पूर्वोक्त धर्म से जो भेद या वैषम्य है, वह पुरुष का अत्रिगुणत्व, विवेकित्व, अविषयत्व, असाधारणत्व और अपरिणामित्व धर्म है । सिद्ध करता है । पुरुष में ...

तत्र चेतनत्वेनाविषयत्वेन च साक्षित्वद्रष्टृत्वे दर्शिते । चेतनो हि द्रष्टा भवति, नाचेतनः, साक्षी च दर्शितविषयो भवति । यस्मै प्रदर्श्यते विषयः स साक्षी । तथा हि लोकेऽर्थिप्रत्यर्थिनौ विवादविषयं साक्षिणे दर्शयतः, एवं प्रकृतिरपि स्वचरितं विषयं

पुरुषाय दर्शयतीति पुरुषः साक्षी। न चाचेतनो विषयो वा शक्यो विषयं दर्शयितुम्, इति चैतन्यादविषयत्वाच्च भवति साक्षी। अतएव द्रष्टापि भवति।

अर्थ—इसमें से 'चेतनत्व' और 'अविषयत्व' धर्मों से पुरुष के साक्षित्व और द्रष्टृत्व भी सूचित होते हैं क्योंकि चेतन ही द्रष्टा होता है, अचेतन नहीं; और जो विषय-द्रष्टा हो अर्थात् जिसको विषय दिखाया जाय, वही साक्षी होता है। जैसे लोक में वादी और प्रतिवादी विवाद (झगड़े) का विषय साक्षी को दिखलाते हैं, उसी प्रकार प्रकृति[1] भी अपने द्वारा किये गये कार्य को पुरुष को दिखलाती है। अतः पुरुष साक्षी है। अचेतन या स्वयं विषय बनने वाले को विषय नहीं दिखलाया जा सकता। इसलिए चेतन तथा अविषय होने के कारण पुरुष साक्षी[2] होता है। इन्हीं कारणों से वह द्रष्टा भी होता है।

अत्रैगुण्याच्चास्य कैवल्यम्। आत्यन्तिको दुःखत्रयाभावः कैवल्यम्। तच्च तस्य स्वाभाविकादेवात्रैगुण्यात् सुखदुःखमोहरहितत्वात्सिद्धम्।

अर्थ—पुरुष के अत्रिगुणत्व से उनका कैवल्य सूचित होता है। त्रिविध दुःख की सार्वकालिक निवृत्ति ही कैवल्य है। और वह तो पुरुष के स्वभावतः या स्वरूपतः 'अत्रैगुण्य' अर्थात् सुख, दुःख और मोह से रहित होने के कारण सिद्ध है।

---

१. प्रकृतिरपि—बुद्धिरूपेण परिणता प्रकृतिरपि—स्वचरितं....स्वस्मिन् प्रतिबिम्बिताय स्वस्वामिने पुरुषाय समर्पयतीत्यर्थः। तदुक्तं विष्णुपुराणे—"गृहीतानिन्द्रियैरर्थानात्मने यः प्रयच्छति। अन्तःकरणरूपाय तस्मै विश्वात्मने नमः"। —विद्वत्तोषिणी।

२. साक्षित्वं च साक्षाद्द्रष्टृत्वम्, अव्यवधानेन द्रष्टृत्वमिति यावत्। साक्षात् सम्बन्धश्च बुद्धितद्धर्माणामेव, अन्येषां तु तद्द्वारेति। अतो बुद्धितद्धर्माणां साक्षी पुरुषोऽन्येषां तु द्रष्टृमात्रमिति शास्त्रीयविभागः। तत्सम्बन्धश्च प्रतिबिम्बरूप एव, न तु संयोगमात्रमतिप्रसङ्गात्। —बंशीधरी।

'भवति साक्षी' इत्यत्र इदं बोध्यम्—'साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्' इति पाणिनिस्मरणात्, 'साक्षात्सम्बन्धात् साक्षित्वम्' इति सांख्यसूत्राच्च बुद्धरेव साक्षी पुरुषस्तया सहाव्यवहितसम्बन्धात् न त्वन्येषां, तैः सह साक्षादसम्बन्धात्। —विद्वत्तो०

विशेष—रजस् का परिणाम होने से दुःख सांख्यों के मत में नित्य है। अतः अपने उदय के हेतु के अभाव में उसका प्रशम भर हो जाता है, आत्यन्तिक विनाश नहीं होता। इसका सविस्तर विवेचन पीछे प्रथम कारिका के व्याख्यान में किया जा चुका है।

अत एवात्रैगुण्यान्माध्यस्थ्यम्। सुखी हि सुखेन तृप्यन् दुःखी हि दुःखं द्विषन् मध्यस्थो न भवति। तदुभयरहितस्तु मध्यस्थ इत्युदासीन इति चाख्यायते। विवेकित्वादप्रसवधर्मित्वाच्चाकर्तेति सिद्धम् ॥१९॥

अर्थ—इसी अत्रिगुणत्व से उसका मध्यस्थ होना भी सिद्ध है। क्योंकि सुख से तृप्त होने वाला सुखी तथा दुःख से द्विष्ट होने वाला दुःखी व्यक्ति 'मध्यस्थ' अर्थात् उन दोनों से उदासीन नहीं कहा जा सकता। सुख-दुःख से रहित रहने वाला तो मध्यस्थ या उदासीन कहा जाता है। 'विवेकी' अर्थात् सम्भूयकारी न होने एवम् अपरिणामी होने से वह अकर्त्ता भी है यह सिद्ध होता है।

स्यादेतत्—प्रमाणेन कर्तव्यमर्थमवगम्य 'चेतनोऽहं चिकीर्षन् करोमि' इति कृतिचैतन्ययोः सामानाधिकरण्यमनुभवसिद्धम्; तदेतस्मिन्मते नावकल्पते, चेतनस्याकर्तृत्वात् कर्तुश्चाचैतन्यात्, इत्यत आह—तस्मात् इति।

अर्थ—यह सब ठीक है, परन्तु प्रमाता प्रमाणों द्वारा कर्त्तव्य का ज्ञान करके 'चेतन (अर्थात् कर्त्तव्य वस्तु का ज्ञानी) मैं कत्तव्य करने की इच्छा होने पर उसे करने जा रहा हूँ'—ऐसा सोचता है। इससे कर्त्तृत्व और चैतन्य, दोनों का एक ही में होना अनुभव-सिद्ध है। परन्तु यह बात चेतन पुरुष को अकर्त्ता तथा कर्त्री प्रकृति को अचेतन मानने के कारण इस मत से विरुद्ध या अयुक्त है। इसके उत्तर में "तस्मात्तत्संयोगात्" इत्यादि अगली कारिका कह रहे हैं—

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वे च[1] तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥२०॥

---

१. गुणकर्तृत्वेपि—माठर०, जय०।

अर्थ—अतः (अर्थात् चेतन पुरुष के अकर्त्ता तथा कर्त्री प्रकृति के अचेतन होने के कारण) दोनों के संयोग से अचेतन बुद्धि आदि चेतन-सदृश प्रतीत होते हैं और उसी प्रकार गुण-त्रय (त्रिगुणात्मक प्रकृति) के वस्तुतः कर्ता होने पर उदासीन पुरुष कर्ता सा प्रतीत होता है।

यतश्चैतन्यकर्तृत्वे भिन्नाधिकरणे युक्तितः सिद्धे, तस्मात् भ्रान्तिरियमित्यर्थः। भ्रान्तिबीजं 'तत्संयोगः, तत्सन्निधानम्। 'लिङ्गम्' महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं वक्ष्यति। अतिरोहितार्थमन्यत्।

अर्थ—तात्पर्य यह है कि चूंकि चैतन्य (पुरुष) और कर्तृत्व (प्रकृति) तर्क द्वारा विभिन्न आश्रयों में सिद्ध हो चुके हैं, इसलिये दोनों के एक ही में होने का यह अनुभव केवल भ्रम[1] है। इस भ्रम का मूल कारण प्रकृति और पुरुष का संयोग[2] अर्थात् परस्पर सामीप्य है। बुद्धि-तत्त्व से लेकर तन्मात्रों तक के तत्त्व लिङ्ग हैं, इसे आगे (४० वीं कारिका में) कहेंगे। शेष अर्थ स्पष्ट है।

'तत्संयोगात्' इत्युक्तम्, न च भिन्नयोः संयोगोऽपेक्षां विना, न चेयमुपकार्योपकारकभावं विनेत्यपेक्षाहेतुमुपकारमाह—'पुरुषस्य' इति।

अर्थ—'दोनों के संयोग से यह भ्रमात्मक अनुभव होता है'—ऐसा अभी कहा गया है। परन्तु दो भिन्न वस्तुओं का संयोग परस्पर आकांक्षा या आवश्यकता के बिना नहीं होता और यह आकांक्षा पारस्परिक उपकार के बिना नहीं होती। इसलिये आकांक्षा के कारण-भूत उपकार के विषय में 'पुरुषस्य दर्शनार्थम्' इत्यादि कारिका कह रहे हैं।

१. भ्रान्तिः 'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता' इति लक्षितास्मिताख्या-विवेककृता इयं सामान्याधिकरण्यप्रतीतिरित्यर्थः। —विद्वत्तोषिणी।

२. चेतनस्यासङ्गत्वात्कथं संयोग इत्यत्राह—'तत्सन्निधानमिति'। तथा च सांख्यसूत्रम्—'उपरागात् कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात्' इति। एवं च लिङ्गं बुद्ध्यादिकमचेतनमपि तत्संयोगात् चेतनसन्निधानात् चेतनवत् चेतनमिव भवति, अतो 'जानामि' इति प्रत्ययः उपपन्नः; तथा गुणकर्तृत्वेऽपि बुद्ध्यादिरूपेण परिणतानां गुणानां कृत्रिमत्वेऽपि तथा बुद्ध्युपरागात् तत्प्रतिबिम्बितत्वात् उदासीनोऽपि पुरुषः कर्तेव भवति, तेन 'करोमि' इति प्रत्यय उपपन्न इत्यार्यार्थोऽत्र फलितः। —विद्वत्तोषिणी।

विशेष—वस्तुतः प्रकृति और पुरुष के संयोग का मुख्य कारण अनादि अविद्या ही है और कारण के अनादि होने से कार्य अर्थात् उभय-संयोग भी अनादि है। यह संयोग तब तक बना रहेगा, जब तक इससे केवल भोग सम्पन्न होता रहेगा। इस अनादि संयोग के अन्त के लिए कैवल्य अपेक्षित है, जिसका कारण है—प्रकृति और पुरुष का विवेक अर्थात् पुरुष का प्रकृति के स्वरूप को देखकर अपने को उससे विविक्त, अन्य या भिन्न समझ लेना। इस प्रकार जहाँ प्रकृति को अपना रूप दिखाने के लिए पुरुष चाहिये, वहाँ पुरुष को अपने कैवल्य के लिये प्रकृति। इस प्रकार अपने-अपने उपकार के लिये परस्परापेक्ष होने के कारण भोग के लिये अनादि संयोग होने पर भी कैवल्य और दर्शन के लिए पुनः संयोग होता है, जैसा कि प्रस्तुत २१ वीं कारिका के व्याख्यान में कौमुदीकार ने स्वयं भी कहा है :—'अनादित्वाच्च संयोगपरम्पराया भोगाय संयुक्तोऽपि कैवल्याय पुनः संयुज्यते इति युक्तम्'। इसका तात्पर्य यह है कि भोग और अपवर्ग के लिये होने वाले संयोग एक नहीं अपितु भिन्न हैं। संयोग की तो अनादि परम्परा है क्योंकि उसकी कारण-भूत अविद्या अनादि है। उसमे कोई एक संयोग-परम्परा भोग में हेतु है तो कोई दूसरी कैवल्य में। इस प्रकार अनेक परम्पराओं में प्रकृति-संभोग के द्वारा पुरुष के उसका उपकार करते रहने पर प्रकृति भी पुरुष का उपकार करने को उत्सुक होती है, अर्थात् कृत कर्म का भोग द्वारा क्षय होने पर पुरुष में कैवल्येच्छा जागरूक होती है। इसलिए कैवल्य के निमित्त-भूत इस नव संयोग का कारण अनादि अविद्या के अतिरिक्त परस्पर उपकार-भाव भी है। इसी से विद्वत्तोषिणीकार उदासीन जी ने इस सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है:—"यद्यपि 'तस्य हेतुरविद्या' इति योगसूत्रेणानादिविपर्यय-ज्ञानवासनैव संयोगनिदानमभिहितं तथाप्यवान्तरं संयोगप्रयोजकं परस्परो-पकारमाह।"

तत्त्वकौमुदी का यह अंश ५६, ५७, ५८, तथा ६० कारिकाओं के प्रतिपाद्य से भिन्न बात प्रतिपादित करता है। अतः यह उससे विरोध उपस्थित करता है। वहाँ तत्त्वकौमुदीकार ने कारिकानुसारी अर्थ ही किया है। किन्तु 'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य' का 'परस्परोपकार-भात्र' तात्पर्य लेकर तत्त्वकौमुदीकार ने यहाँ ऐसा लिखा है।